श्रीमन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत

वेदान्त दर्शन

(ब्रह्म सूत्र)

सरल हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

श्रीमद् रामहर्षणदासजी

अनन्त श्री विभूषित पंचरसाचार्य
श्रीमद् स्वामी रामहर्षण दास जी महराज

श्रीमन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत

वेदान्त दर्शन

(ब्रह्म सूत्र)

सरल हिन्दी-व्याख्या सहित

व्याख्याकार :

श्रीमद् रामहर्षण दास जी

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र)

व्याख्याकार :
श्रीमद् रामहर्षण दास जी

प्रकाशक :

श्रीमती प्रेमलता
श्री सिद्धि सदन
बी १/१७, ई पार्क महानगर विस्तार योजना, लखनऊ

प्रथमावृत्ति : १९९०
मूल्य : रु० १५०.०० मात्र

मुद्रक :
अनुज प्रिंटर्स
सी–११०६, महानगर
लखनऊ फोन : ७६५५३

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

अनन्त श्री विभूषितस्य
श्रीमद् रामानन्दीय 'द्वारा' प्रतिष्ठापनाचार्य-वर्यस्य
परमगुरोर्भगवतः श्री योगानन्दाचार्य स्वामिपाद वंशावतंसस्य

निखिल सन्तवृन्द वन्दितपादपद्मस्य
वेदवेदान्ताशेष शास्त्रपारङ्गतस्य परमहँस परिव्राजकाचार्य सिद्धपद प्रतिष्ठितस्य
जगदुद्धारकस्य पण्डितप्रवर श्रीमद् रामवल्लभाशरण महाभाग चरणाश्रितस्य

अखिल वेदवेदाङ्ग निष्णात विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठापनाचार्य
पूज्यपाद श्रीमद् अखिलेश्वर दास महाराजस्य-
चरणकमल चञ्चरीकेण,
प्रेममूर्ति पञ्चरसाचार्येण श्रीमद् रामहर्षदास स्वामिपादेन,
कृता

श्री वेदव्यास कृत ब्रह्मसूत्रस्य

"ब्रह्म प्रबोधिनी" व्याख्या

– श्री गुरुः शरणं मम् –

श्री सीतारामाभ्यां नमः ॥ ॥ श्री आञ्जनेयाय नमः

श्री वाणी विनायकाभ्यां नमः

दो शब्द

सृष्टि के आदि में ही प्रथम सृष्ट कमलोद्भव ब्रह्मा जैसी महाविभूति के अन्तःस्थल में ये प्रश्न, समुद्भूत हुये कि, 'मैं कौन हूँ ? मेरा सृष्टा कौन है ? मेरी इस सर्जना का उद्देश्य और मेरा कर्त्तव्य क्या है' ? उन्हें इन प्रश्नों के अवबोध स्वरूप यह ज्ञात हुआ कि, 'मैं उस परम पुरुष की सृष्टि हूँ, जो अचिन्त्य और अनिर्वचनीय तत्व है। उस परम तत्व की खोज इन्हीं से प्रारम्भ हुई। इस दिशा में प्रयास स्वरूप तपोनुष्ठान किया गया और फलस्वरूप ब्रह्मा के चर्तुमुखों से चार वेद प्रकट हुये, जिन्होंने इस अनुसंधान के सम्बन्ध में निष्कर्ष–"यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह–" का उद्घोष किया। किन्तु यत्किञ्चित अवबोध कराने हेतु श्रुतियों ने इन महावाक्यों का प्रयोग किया।

सोऽहम्, तत्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इत्यादि।

इसके पश्चात् महर्षि आये और इस अनुसंधान विशेष की परम्परा में श्रुतियों के भाष्य हुये, उपनिषदों का जन्म हुआ और इस प्रकार व्यास मुनि द्वारा अट्ठारह पुराणों की संरचना हुई। पुराणों के अन्तराल से ही श्रीमद्भगवद्गीता का प्रादुर्भाव हुआ।

इसके साथ ही ब्रह्मा की सृष्टि के वैविध्य क्रम में मानव की सृष्टि हुई। मानव-जीवन के परम लक्ष्यभूत उस परम तत्व के ज्ञान और प्राप्ति की दिशा में वेदों के उपब्रंहण एवं सरलीकरण के अनेक महामुनियों द्वारा प्रयास किये गये, अनेक शास्त्र-उपपुराण-संहिता और सूत्रों की रचना हुई। चार युग और चारों

युगो की प्रवृत्तियों के अनुसार, मानव जाति में युगीन प्रवृत्तियों का प्रभाव हुआ। इन युगीन प्रवृत्तियों के प्रभावग्रस्त मानव मन को परम तत्व की प्राप्ति की दिशा में, सचेत व सचेष्ट रखने के लिये, उसके पथभ्रष्टक तत्वों का ज्ञान कराने हेतु, दुष्प्रवृत्तियों का वर्णन और लक्ष्य-प्राप्ति की विधाओं का परिचय दिया गया और इस प्रकार कर्म, ज्ञान, योग और उपासना का पथ प्रशस्त हुआ।

यह प्रयास चलता रहा, अनेक महामुनियों, सन्तों और संतकवियों ने, स्वयं की आनन्दानुभूति 'करन पवित्र हेतु निज बानी' और आगे वाली, पीढ़ियों के पथ-प्रदर्शन के उद्देश्य स्वरूप, अपनी महावाणियों का प्रसार किया, ग्रन्थ रचे और प्रचुर साहित्य संकलित हो गया जो मानव जाति के लिये ज्ञान का अक्षुण्ण कोष और परम निधि है।

युग परिवर्तित होते गये। युग पुरुष अवतीर्ण होते गये और युगीन प्रवृत्तियों से पराभूत फलतः पथ-भ्रष्ट मानव के दिशादान हेतु पूर्वाचार्य प्रणीत कृतियों के सरलीकरण, स्पष्टीकरण और सुगमीकरण की प्रक्रिया प्रवर्तित रही आई किन्तु इस प्रयास का लाभ शिक्षित और प्रबुद्ध मानस जन तक ही सीमित अनुभव किया गया। इसी परम्परा में जगत् वन्द्य महामना गोस्वामी श्री तुलसीदास जी की भाषा कृति श्री रामचरित मानस एवं अन्यान्य ग्रन्थ प्रणीत हुये तथापि वर्तमान कलि ज्वर जर्जरित मानव प्राणी के लिये और अधिक बोधगम्य प्रेरक, समृद्ध विचार और भाषा में समृद्ध कृति और भाष्यों की अनुभूति की गई और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु परम कृपालु, श्री रामानन्दाचार्य पथानुगामी सन्त अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री रामहर्षण दास जी महाराज का अवतरण हुआ है।

यह महाविभूति, परम पावन भारत भूमि के मध्य प्रदेशान्तर्गत विन्ध्य क्षेत्र के सतना मण्डल के प्रकृति की वन्य छटाओं से परिलसित ग्राम्य अञ्चल, पौंड़ी नामक स्वनामधन्य ग्राम में उद्भूत हुई। पितृत्व और मातृत्व का परम सौभाग्य पण्डित प्रवर श्री रामजीवन शरण एवं श्री (सुलैना) रानी देवी को प्राप्त हुआ। दिव्य विभूति के जन्म-कर्म, दिव्य और दिव्य लक्षणों के द्योतक ऊर्ध्व पुण्ड्रादि दिव्य लक्षणों से अंग मंडित थे। जगत को अपने ज्ञान पुञ्ज से प्रकाशित करने के लिये जन्मजात सन्त ने, अपने ऐहिक जीवन की आहुति दी और अनेक पावन लीलाओं का आध्यात्मिक और उपासना के साहित्य क्षेत्र में विस्तार किया।

वाणी के वरद पुत्र की वाणी से वाणी का प्रसार हुआ और निम्नाङ्कित ग्रन्थों की सर्जना हुई–

१. श्री हर्षण सतसई २. रस चन्द्रिका ३. प्रेम रामायण ४. विनय वल्लरी ५. प्रेम वल्लरी ६. ध्यान वल्लरी ७. विरह् वल्लरी ८. वैष्णवीय विज्ञान ९. लीला सुधा सिन्धु १०. सिद्धिस्वरूप वैभव ११. औपनिषद ब्रह्मबोध १२. विशुद्ध ब्रह्मबोध १३. वैदेही दर्शन १४. पंचशतक १५. प्रपत्ति प्रभा स्तोत्र १६. उपदेशामृत १७. आत्मदर्शन १८. मिथिला माधुरी १९. गीताज्ञान २०. वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र व्याख्या) २१. चिदाकाश की चिन्मयी लीला।

इसी क्रम में मैथिल-माधुरी, संस्कृत, भाषा तथा हिन्दी में अनेक स्तोत्र, चालीसा आदि मध्यम और लघु रचनाओं का भी प्रणयन हुआ और अब आया पूर्व महर्षियों की गहन कृतियों के व्याख्या का क्रम, जिसमें उपनिषद और गीता की अति सरल और सहज गम्य व्याख्या समक्ष आयी।

सम्प्रति मेरा तात्पर्य प्रस्तुत ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के तृतीय ग्रन्थ महर्षि व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' से है, जिसके अवलोकन और उद्‌गार-प्रदर्शन का अवसर, इस जन को प्राप्त हुआ। मेरी स्वयं की अनुभूति कहती है, कोई प्रशस्ति नहीं कि 'प्रस्थानत्रयी' पर आज तक हुये भाष्यों के क्रम में, जो सरलतम, और बोधगम्य स्वरूप आचार्य प्रवर ने 'प्रस्थानत्रयी' का प्रस्तुत किया है, वह अनुपमेय और अनुभव-योग्य है। विविध सरल उदाहरणों के द्वारा विषयवस्तु को इतना स्पष्ट किया है कि अध्यात्म जगत में किञ्चत रुचि रखने वाला, अनपढ़ मनुष्य भी गहन सूत्रों के प्रतिपाद्य तत्व को सहज में अवगत कर सकता है। मैं कुछ उदाहरण प्रस्तुत करूँ इस स्थान पर, ग्रन्थ ही दर्शनीय होगा क्योंकि मेरे लेखन का कलेवर आवश्कता से अधिक हो रहा है।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि, विद्वज्जन एवं प्रेमी पाठकजन ग्रन्थ की उपादेयता का अनुभव कर अति हर्षित एवं लाभान्वित होंगे। यह तुच्छ जन, महापुरुषों की कृतियों के प्रति किञ्चित भी कथन में अक्षम, उद्‌गार प्रदर्शन का सौभाग्य प्राप्तकर कृतकृत्य एवं प्रणत है।

संतचरण रज

हरिगोविन्द दास द्विवेदी

अनुक्रमणिका

ॐ नमः सीतारामाभ्याँ

ॐ नमः हनुमते

ॐ नमः गुरवे

वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र)

नम्र निवेदन

वेद के अन्तिम भाग अर्थात् शिरोभाग को, मनीषि मुखेन वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है एवं वेदान्त के सिद्धान्त को, ब्रह्मविद वरिष्ठ ऋषियों द्वारा हस्तामलकवत् अपरोक्ष ज्ञान का विषय बना लेना वेदान्त दर्शन कहलाता है। वेदान्त सिद्धान्त के अपरोक्ष द्रष्टा समस्त ऋषियों-मुनियों का मतैक्य होना स्वाभाविक है, वर्णन शैली में वैषम्य दृष्टिगोचर होते हुये भी सभी के सिद्धान्तों का समन्वय सहज हो जाता है, जिससे परम प्राप्य एवं ज्ञेय वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने तथा प्राप्त करने में किसी साधक को साधन और साध्य में संदेह तथा भ्रम उत्पन्न होने की आशंका ही नहीं हो सकती क्योंकि "भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यते सर्व संशयः छीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्टेऽस्मिन परावरे" किन्तु इसके सर्वथा विपरीत परोक्ष वाङ:मय ज्ञान को ही तर्कशील पुरुष जब स्वबुद्धि की खुराक बनाकर संतृप्ति की अनुभूति करने लगते हैं और पूर्ण ज्ञानी का चोला पहन कर, वेद-वाक्यों का अर्थ अपनी-अपनी दृष्टि, बुद्धि तथा तर्कशीलता के नुसार विश्वामित्र सृष्टि के सदृश करने लगते हैं अर्थात् मनमुखी सिद्धान्त को ही सर्वथा सत्य समझने में उतर आते हैं, तब ऐसे अनेक द्रष्टाओं के अनेक वाक्यों और सिद्धान्तों से वेदाभिमत सिद्धान्त सर्वथा संशय ग्रस्त उसी प्रकार हो जाता है जैसे लोक में दूर से दर्शन करने वालों की पृथक-पृथक दृष्टियाँ, दृश्य वस्तु के सही स्वरूप का निर्णय देने में अकुशल हो जाती हैं और वह वस्तु विशेष संशय के राहु से अस्त सी लगने लगती है; ऐसे ही श्रुति वाणियों की स्वतन्त्र वर्णन शैली ज्ञानाभिमानियों के मुख से श्रवण कर, श्रुतियाँ रोने लगती हैं, वेद खिन्न मना होकर वक्ता और उसके कुल के लोगों का स्पर्श नहीं करता जिससे अर्थक वेद का अन-

धिकारी बनकर नीच योनियों में ही भ्रमण किया करता है।

ऐसे ही विश्वामित्र-सृष्टि-सादृश्य को अपने बुद्धि-गुफा का चमत्कारिक सौन्दर्य बनाये हुये, ज्ञान की गठरी का अभिमान अपने शिर में ढोने वाले वेद वेत्ताओं एवं वेदान्तियों का दर्शन, वेद का चतुर्धाविभाजन करने वाले वेदावतार, वेद-वेत्ता वादरायण श्री वेदव्यासजी ने समाधि अवस्था में किया, अस्तु वेद का अर्थ सर्वथा सत्य और सहजतया प्रकट करने के लिये इतिहास और पुराणों की रचना की अर्थात् वेदों का अर्थ इतिहास-पुराणों द्वारा ही जानना चाहिये; ऐसा अनुशासन, स्वतन्त्र अर्थ करने वाले विद्वानों के लिये किया। इसी प्रकार वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म-विषयक विचारों की विभिन्नता तथा प्रस्थान त्रयी के सत्य अर्थों की अवहेलना कर अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार अर्थकारों और पथ-प्रदर्शकों में वेदान्त प्रतिपादित सिद्धान्त और मन्त्रों के अर्थों में खींचतान एवं परस्पर विरोध जनित प्राप्य तत्व की अप्राप्ति रूप दुर्दशा को स्वदृष्टि का विषय बनाकर दयार्द्र चित्त हो गये और अखिल प्राणियों के कल्याण के लिये मन्त्रार्थों के साक्षात विग्रह श्री वेदव्यासजी ने ब्रह्मसूत्र की रचना इसलिये की कि मुमुक्षु लोग ब्रह्म दर्शन के समान ब्रह्म सूत्रों के श्रवण-मनन और निदिध्यासन के द्वारा सुकरतया ब्रह्म प्राप्ति कर, ब्रह्म स्वरूप हो जांय, भ्रम-संदेह और शोक-मोह से पार होकर अपुनरावर्ती धाम की अनुभूति करें।

ब्रह्म सूत्र का अर्थ है सूत्र अर्थात् संकेत के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला साधन। सांकेतिक अल्पाक्षर एवं अल्प वाक्य के द्वारा महान ब्रह्म की प्राप्ति कराने का हेतु होने से इन अल्पाक्षरों को सूत्र कहा जाता है जैसे किसी के पद-चिन्हों के अनुसार चलने से पद वाले को प्राप्त करने वाला कहा करता है कि मुझे सूत्र रूप में पद-चिन्ह प्राप्त हो गये थे अस्तु प्राप्य पुरुष को प्राप्त कर लिया।

वेदान्त प्रतिपाद्य पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को साक्षात् अनुभव का विषय बनाने के लिये ही ब्रह्म सूत्र का प्राकट्य श्री वेदव्यासजी के द्वारा हुआ है अतएव ब्रह्म प्राप्ति की कामना रखने वाले सुधी जिज्ञासुओं को इस वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) का अध्ययन (ब्रह्म विद्या का ज्ञान) ब्रह्म प्राप्त सद्गुरु से सम्यक तया कर लेना चाहिये जिससे उनके कामना की कल्पलता पल्लवित और पुष्पित होकर, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष फल की प्रदायिका सिद्ध हो जाय।

अपना अन्वेषण करने पर दास को प्रतीति होती है कि वेदान्त दर्शन के विषय में कुछ कहना व लिखना सर्वथा अपनी अनधिकारिणी चेष्टा की उछल-कूद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दास को किसी भाषा व विद्या का ज्ञान नहीं है, बुद्धि में विकास एवं सूक्ष्मता नाम मात्र नहीं अतएव आध्यात्मिक ज्ञान, बुद्धि के दर्श में कैसे दिखाई पड़े अस्तु उपर्युक्त अभाव की दशा में ब्रह्म विद्या विषयक चर्चा करना बाल चापल्य के अतिरिक्त और क्या है ? तथापि आचार्य श्री के चरणाम्बुजों का स्मरण कर, कुछ लिखने का साहस कम्पित वदन इसलिये कर रहा हूं कि कुछ प्रभु-प्रेमी मुमुक्षुओं की ओर से प्रेरित किया जा रहा हूं, विशेष-कर अपने आश्रय में रहने वाले लोगों की उत्सुकता है कि मैं ब्रह्म सूत्र पर सरल से सरल और अविस्तारतया ऐसी व्याख्या लिखूं कि कम पढ़े-लिखे हिन्दी भाषी लोग भी वही ब्रह्म-बोध पा सकें जो आचार्यों एवं अन्य लेखकों व टीकाकारों के भाष्यों व व्याख्याओं से प्राप्त किया करते हैं, संस्कृत का ज्ञान न होने से व्या-ख्याओं में बहुत से श्रुति, संहिता और शास्त्र-स्मृति-पुराणादि के प्रमाणों के भर-मार से व युक्तियों के द्वारा खण्डन-मण्डन के वाक्यों से अपढ़ व अबोधित मन ऊबकर, ग्रन्थ उठाकर देखना नहीं चाहता अतएव हमें अपनी बोलचाल की भाषा में सूत्रों का सामासिक अर्थ सुबोध प्रदायक प्राप्त हो जाता तो संभव है कि वेदान्त दर्शन का ज्ञान स्वबुद्धि के अनुसार कुछ हम अपढ़ लोग भी पा सकते अन्यथा प्रस्थान त्रयी का नाम सुनकर बिना पंख के उड़ने के समान भय शरीर को शिथिल कर देता है।

अस्तु,'मूकं करोति वाचालं' की महिमा का स्मरण कर लिखने की धृष्टता कर ही बैठा, वास्तव में लिखने व लिखाने वाले वही पुरुषोत्तम भगवान हैं, जो वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के पद-पद में प्रतिष्ठित हैं, उनकी शक्ति व प्रेरणा से ही प्राणी प्राणित होकर चेष्टा किया करते हैं अतएव इस ब्रह्म सूत्र की व्याख्या में अपना कुछ नहीं है। दो-एक ब्रह्म सूत्र की टीकाएं देखने को मिली थीं, जिनसे दास को सहायता मिली। यह ब्रह्म सूत्र व्याख्या वैसे ही है जैसे कोई अपने जान-कारी के लिये अपनी नोट-पुस्तिका में आवश्यक बातें लिख लेता है, वैसे ही इसमें मेरा कुछ नहीं है, प्रसादी पाने के लिये ब्रह्मविद संतों की उच्छिष्ट वाणी का ही संग्रह है, वह भी उनके कृपा प्रसाद से ही हुआ है। श्री सद्गुरु कृपा को धन्य है जिसके प्रकाश में बैठकर दास ने ब्रह्म सूत्र पर कुछ लिखने का साहस किया है। हां, त्रुटियां अवश्य अपनी हैं जिसके लिये पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूं, बालकों की

तोतली व अशुद्ध वाणी भी जननी-जनक को आह्लादित करती है, इसी आधार शिला की नींव पर ब्रह्म सूत्र के रहस्यार्थ का भवन निर्माण करने का साहस बटोर रहा हूं। भविष्य में क्या होगा ? क्या नहीं होगा ? सेवा स्वीकार होगी, नहीं होगी, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान जानें। दास के हृदय में सफलता प्राप्त करने और न करने में कोई आग्रह नहीं है, तत्सुख सुखित्वम की भावना प्रभु कृपा से सर्वदा बनी रहे, यही अपने आराध्य देव से प्रणत प्रार्थना है।

निवेदक :–

चैत्र कृष्ण नवमी सम्वत् २०४५

भगवद्दासदासानुदास:
रामहर्षणदास

॥ श्रीमन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत ॥

वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र)

वेद वेद्यं विभुम्वन्दे अद्वैतं ब्रह्म संज्ञकम् ।
सगुणं निर्गुणं चैव रामं पूर्णपरात्परम् ॥
वेदव्यास मुनिं नत्वा भगवान् बादरायणम् ।
ब्रह्म सूत्र रहस्यार्थं करोमि तत्प्रसादतः ॥

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के

प्रथम अध्याय का प्रथम पाद

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥१।१।१॥

व्याख्या : अथ और ओम् माङ्गलीक शब्द प्रथम प्रथम ब्रह्मा के मुख से निकले थे इसलिये सभी शुभ कर्मों के प्रारम्भ में अथ और ओम् कहने की प्रथा मनीषियों द्वारा प्राचीन काल से चली आ रही है अतएव श्री वेदव्यासजी ब्रह्म सूत्र की रचना के प्रारम्भ में अथ का स्मरण करके प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं अब यहाँ से अर्थात् अन्य-अन्य प्रकारों को लेकर आध्यात्मिक विषय वर्णन करने के पश्चात् ब्रह्म विषयक (ब्रह्म कौन है ? कहाँ रहता है ? क्या करता है ? उसको कैसे जाना जाता है ? उसके जानने से क्या होता है ?) वार्ता का वर्णन एवं विचार निरुपाधिक शुद्ध सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ करुंगा ।

मुमुक्षु मुखेन: भगवन ! जिस ब्रह्म के विषय में आप श्री ने मुमुक्षुओं के प्रति कुछ कहने की प्रतिज्ञा की है, वह अविज्ञात ब्रह्म कौन है ?

वेदव्यासजी : **जन्माद्यस्य यतः ॥१।१।२॥**

व्याख्या : जिस अनादि सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट परम तत्व से स्थूल चिद-चित् विशिष्ट अवर ब्रह्म स्वरूप जगत उत्पन्न होता है, उसी को पूर्णतम परब्रह्म कहते हैं अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, भगवान, राम, कृष्ण और नारायणादि नाम उसी अद्वय तत्व के हैं जिससे यह अवर ब्रह्म स्वरूप संसार का सृजन होता है, जिसमें इस जगत की स्थिति रहती है और जिसमें यह सम्पूर्ण सृष्टि विलीन हो जाती है। यह जगत उन परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के अचिन्त्य और अनन्त महिमा का विकास है। अहो ! आश्चर्य ! महा आश्चर्य ! शून्य आधार पर कैसा यह जगच्चित्र बिना रंग और बिना तूलिका के, बिना प्राकृत शरीर वाले चित्रकार के द्वारा मनमोहक बनाया गया है। अहो ! अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड जो सुर, नर, मुनि, नाग, गंधर्व, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, तारक, पशु-पक्षी और पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश से आच्छादित हैं, वे सब के सब जिनके संकल्प मात्र से बनते और बिगड़ते रहते हैं, उन सबसे महान सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वरूप, सर्वेश्वर, अपरिछिन्न पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को इस जगत का कारण स्वरूप समझना अर्थात् उपादान निमित्त और सहकारी कारण जान लेना ही ब्रह्म व ब्रह्म की महिमा का परोक्ष दर्शन है, जो अपरोक्ष दर्शन का संप्रयोग कराने में हेतु भूत है जिसकी सत्ता जगत के आदि, मध्य और अन्त में अचिन्त्य और अनन्ततया बनी रहती है अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक अवस्था में भी, जो सर्वज्ञ स्वराट, परम स्वतन्त्र सत्तावान बना रहता है जिसकी सत्ता से माया एवं माया कार्य सत्य से प्रतीत होते हैं, वही ब्रह्म है, वही ब्रह्म है, वही ब्रह्म है, ऐसा जानने वाला ही ब्रह्मविद् है।

मुमुक्षु मुखेन : कर्तृत्व और भोक्तृव भाव से रहित, आप श्री से प्रति-पादित ब्रह्म को जगत का कर्ता कैसे स्वीकार कर लिया जाय ?

वेदव्यासजी : **शास्त्रयोनित्वात् ॥१।१।३॥**

व्याख्या : वेद, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के मुख की वाणी है, शास्त्र, पुराण, स्मृति वेदोपबृंहण हैं अतएव जैसे ब्रह्म को वेद के द्वारा ही अधिगत किया जाना संभव है तदनुसार ब्रह्म को कारण स्वरूप अर्थात् जगत कारणत्वेन जानना ही ब्रह्म ज्ञान है क्योंकि जहाँ उपनिषदों में ब्रह्म को सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म आदि लक्षणों से समन्वित कहकर बताया गया है, वहीं ब्रह्म को जगत का कारण भी कहा गया है, यदि वेद वाक्यों पर कोई विश्वास नहीं करता तो

वह नास्तिक हो जायेगा तथा वेद के न मानने से लोक-परलोक सभी व्यर्थ हो जांयगे, वेद प्रमाण को न मानने वाला अपने पने का भी प्रमाण नहीं दे सकता अतएव वेद प्रमाण से ब्रह्म को जगत का कारण मानना उचित और न्यायसंगत है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! घट आदि मृत्तिका पात्रों के निर्माण में कुम्भकार जैसे निमित्त कारण है, उसी प्रकार ब्रह्म को युक्ति प्राबल्य से निमित्त कारण स्वीकार किया जा सकता है परन्तु जगत का उपादान कारण ब्रह्म को स्वीकार करना कैसे हो सकता है।

वेदव्यासजी : तत्तु समन्वयात् ।।१।१।४।।

व्याख्या : ब्रह्म अपरिछिन्न है, वह आकाश से लेकर परमाणु तक के सभी प्राणी-पदार्थ, देश-काल, कर्म-गुण, स्वभाव आदि के बाहर और भीतर व्याप्त है। ब्रह्माण्डों के भीतर एक अणु भी नहीं जिसमें व्यापक रूप से ब्रह्म प्रतिष्ठित न हो, ब्रह्म, सबको सब ओर से आवृत किये हुये है, ब्रह्म के अतिरिक्त जगत में अन्य तत्व अणुमात्र नहीं है, जैसे मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी ही मिट्टी है, रुई के वस्त्रों में रुई ही रुई है, वैसे ही जगत में ब्रह्म ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशा०) आदि प्रमाणों का बाहुल्य उपनिषदों में द्रष्टव्य है, अतएव जैसे मिट्टी के बर्तनों का उपादान मिट्टी ही है, क्योंकि मिट्टी अपने बर्तनों में व्याप्त है, उसी प्रकार जगत में बाहर-भीतर व्यापक होने से सर्व-व्यापी ब्रह्म को उपादान कारण मानना, सभी श्रुतियों, शास्त्रों, और दीर्घदर्शी ऋषियों-मुनियों के सिद्धान्त के अनुकूल है।

मुमुक्षु मुखेन : सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रधान (प्रकृति) को भी जगत् व्यापनी कहा जाने के कारण, प्रकृति को ही जगत का कारण क्यों न स्वीकार कर लिया जाय क्योंकि व्याप्त हेतुत्वात् ही तो ब्रह्म को जगत का कारण रूप कहा जा रहा है।

वेदव्यासजी : ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।१।१।५।।

व्याख्या : ईक्षण का अर्थ है संकल्प व विचार, अतएव त्रिगुणात्मिका जड़ स्वरूपिणी प्रकृति में संकल्प होना संभव नहीं हैं। ईक्षण करना चेतन का धर्म है,

प्रकृति का नहीं इसलिए शब्द प्रमाण शून्य प्रधान (प्रकृति) को जगत का उपादान कारण कोई भी, प्रकृति-पुरुष का ज्ञान रखने वाला ब्रह्मविद विद्वान नहीं कह सकता। हां, ब्रह्म में ईक्षण होने का प्रमाण सृष्टि क्रम में कई जगह संप्राप्त होता है। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजयिय" छा० उ० "स ईक्षत लोकान्नुसृजै" (ऐ०उ० १) इसलिये ब्रह्म को जगत का कारण मानना श्रुति-शास्त्र, सन्तानुमोदित है। भाई! परमात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान जब ईक्षण अर्थात् संकल्प करते हैं, सृष्टि के पूर्व कि मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् अपने को चराचर रूप में अनेक प्रकार से उत्पन्न करूँ, तब वे अपने को जगत रूप में देखकर, अपने से अतिरिक्त उसमें कुछ न पाये जैसे स्वर्ण आभूषण बन कर अपने से अतिरिक्त अलंकारों में वह कुछ नहीं पाता तथा एक सिद्ध योगी अपने चित्त से अपने रूप के अनेक पुरुष प्रकट करके, अपने से अतिरिक्त उनमें कुछ नहीं देखता। अस्तु बुद्धि का वैशद्य प्राप्त कर लेने पर, ब्रह्म को जगत का कारण स्वीकार कर लेना सहज हो जाता है। कोई भी सुधी पुरुष ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य को कारण कहना अज्ञानमूलक समझता है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! आप श्री के बताये हुये, वेद वाक्यों से ईक्षण (संकल्प) धर्म चेतन का है किन्तु लोक में 'ईक्षण' क्रिया का प्रयोग गौण रूप से प्रकृति के लिये भी श्रवणगोचर होता है, जैसे लोग कहते हैं कि यह बहेड़े का वृक्ष अब गिरना ही चाहता है अर्थात् वृक्ष गिरने की इच्छा रूप संकल्प कर रहा है, एवं प्रकारेण ईक्षण क्रिया का प्रयोग गौण रूप से त्रिगुणमयी माया के साथ स्वीकार कर लेने से कौन आपत्ति आड़े आयेगी।

वेदव्यासजी : **गौणश्चेन्नात्म शब्दात् ॥१।१।६॥**

व्याख्या : उपर्युक्त श्रुति मन्त्रों में ईक्षण क्रिया का कर्ता स्पष्ट रूप से आत्मा अर्थात् सर्वात्मा को बताया गया है अतएव गौण वृत्ति से भी ईक्षण क्रिया का सम्बन्ध जड़ भूता प्रकृति के साथ कदापि नहीं हो सकता। प्रकृति को जगत का कारण मानना सर्वथा वेद विरुद्ध उसी प्रकार है जैसे मिट्टी के खिलौनों का उपादान कारण मिट्टी को न बताकर कुम्भकार के चक्र व दण्डे को कारण रूप से निरूपित करना।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कई स्थानों पर आत्म शब्द का प्रयोग बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर के लिये भी उपनिषदों में मिलता है, अतएव उक्त श्रुति में

'आत्म' शब्द को गौण रूप से प्रकृति का वाचक मानकर, उसे जगत का कारण मान लेने पर क्या, कोई विरोध उत्पन्न होगा ?

वेदव्यासजी : तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।१।१।७।।

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में निष्ठा (स्थिति) रखने वाले अर्थात् परमात्मा के नाम, रूप, लीला, और धाम में अविचल भाव से मन:स्थिति लगाये रहने वाले जीवात्मा को अभय पद अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त होता है, ऐसा छान्दोग्योपनिषदादि में कहा गया है, परन्तु प्रकृति सम्बन्ध को संसार चक्र में सदा भ्रमण करने का हेतु कहा गया है इसलिये उपर्युक्त श्रुति मन्त्रों में आत्म शब्द प्रकृति के वाचक अर्थ में नहीं ग्रहण किया जा सकता, अस्तु, प्रकृति को जगत का कारण कदापि नहीं कहा जा सकता । सृष्टि प्रकरण में प्रमाण है कि "तदात्मानं स्वयमकुरुत" परब्रह्म परमात्मा ने स्वयं अपने को जगत रूप में प्रकट किया अतएव जगत के उपादान कारण स्वयं पुरुषोत्तम भगवान उसी प्रकार हैं जैसे वट वृक्ष रूप कार्य का कारण वट-बीज ही है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त श्रुति में आत्मा प्रकृति का वाचक नहीं है, ऐसा आपका आदेश है, किन्तु हमारी बुद्धि में यह वार्ता दृढ़ रूपेण स्थित हो जाय इसलिये तत् विषयक कोई अन्य कारण और हो तो उसे भी श्रवण कराने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : हेयत्वावचनाच्च ।।१।१।८।।

व्याख्या : यदि उक्त श्रुति में आत्मा शब्द प्रकृति के अर्थ में होता तो आगे कहीं न कहीं उसे हेय समझकर त्यागने की वार्ता एवं मुख्य आत्मा में निष्ठा रखने का अनुशासन श्रुति वाक्यों द्वारा अवश्य उपलब्ध होता, परन्तु कहीं ऐसा आदेश नहीं मिलता, जिस अद्वय तत्व को जगत का कारण कहा गया है, उसी में जीवात्मा को निष्ठा रखने का आदेश, मोक्ष-प्राप्ति के लिये दिया गया है । प्रकृति स्थित पुरुष सदा संसार चक्र में ही भ्रमण किया करते हैं । इसलिये उक्त श्रुति में आत्म शब्द गौण रूपेणापि प्रकृति के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता, जैसे आत्मज शब्द का अर्थ पुत्र के ही अर्थ में ग्रहण होता है, पसीना, कफ, कीचड़, वमन आदि प्रकृति जन्य अर्थ में नहीं, भले ही ये सब देह से निकलते हों ।

मुमुक्षु मुखेन : मुनि ! उक्त श्रुति में जो सत् शब्द आया है, क्या वह भी प्रकृति का वाचक नहीं है ?

वेदव्यासजी : स्वाप्ययात् ॥१।१।६॥

व्याख्या :– छान्दोग्योपनिषद में (६।८।१) की श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि "जिस सुषुप्ति अवस्था में यह पुरुष (जीवात्मा) सोता है, उस समय यह जीव अपने कारण स्वरूप सत से संयुक्त हो जाता है और अपने कारण में बिलीन हो जाता है जैसे एक बड़ी शक्ति वाली अग्नि ज्योति से एक पृथक छोटी ज्योति जलाकर, उसी स्थान में (बड़ी ज्योति के समीप) रख देने से छोटी ज्योति के प्रकाश को बड़ी ज्योति का प्रकाश अपने में आत्मसात कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा को परमात्मा अपने में विलीन कर लेता है या यों कहिये कि जीवात्मा, परमात्मा से मिलकर जीवत्व भाव को भूल जाता है अतएव उक्त प्रसंग में जिस सत को चराचर जगत का कारण बताया गया है, उसी कारण स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में जीवात्मा का विलीन होना भी कहा गया है, अस्तु, यह स्पष्ट है कि श्रुति में सत नाम से कहा हुआ शब्द जड़ भूता प्रकृति के अर्थ में गौण रूप से भी नहीं उद्धृत किया गया अपितु परब्रह्म के अर्थ में वाचकतया कहा गया है ?

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यह वार्ता क्या अन्य प्रकारान्तर से भी सिद्ध की जा सकती है ।

वेदव्यासजी : गति सामान्यात् ॥१।१।१०ः

व्याख्या : सभी उपनिषदों का समवेत कथन है कि निःसन्देह परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान से आकाश उत्पन्न हुआ, परमात्मा से ही (आत्मत एवेदँ सर्वम्) यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है, परब्रह्म से ही प्राण, मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, और समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, एवं प्रकारेण सभी उपनिषद वाक्यों में महा चेतन परब्रह्म परमात्मा को ही समानतया जगत का कारण कहा गया है, अतएव स्वयं जड़ भूता प्रकृति को कोई विद्वान कारण नहीं कह सकता क्योंकि किसी वस्तु एवं तत्व विशेष तथा स्वार्थ-परमार्थ विषयक वार्ता का बोध अधिगत करने के लिये समस्त विशेषज्ञों का समवेत कथन ही

अमिट प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! पुन: श्रुति प्रमाण से इसी वार्ता को दृढ़ करने की अनुकम्पा हो।

वेदव्यासजी : श्रुतत्वाच्च ।।१।१।११।।

व्याख्या : मुमुक्षुओं के प्रति प्रश्न के उत्तर में श्री वेदव्यासजी कहते हैं कि श्रुतियों द्वारा स्थान-स्थान में परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही जगत का कारण कहकर उद्घोषित किया गया है, अत: यह वार्ता सर्वमान्य है कि जगत का कारण परब्रह्म परमात्मा ही है, प्रकृति नहीं; जैसे मातृ-योनि संभूत सभी पुरुष शैशव काल में अपने उत्पत्ति स्थान की न जिज्ञासा रखते और न ज्ञान ही किन्तु बड़े होने पर शास्त्र एवं जन-श्रुति वाक्यों को श्रवणकर, अदर्शित मातृ-योनि से अपनी उत्पत्ति अवधारण कर लेते हैं, उसी प्रकार श्रुति, शास्त्र एवं संतानुमोदित वाक्यों एवं प्रमाणों को श्रवणकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का साक्षात् न करने वाले सुधी जन परब्रह्म परमेश्वर को जगत का कारण साक्षात् के सदृश स्वीकार कर लेते हैं, हाँ, बिचारे जिज्ञासाहीन अज्ञानी पुरुष परब्रह्म के विषय में कुछ जानने की इच्छा ही न करें तो परमात्मा की क्या हानि है, वह तो सदा अपने स्वरूप में एक रस स्थित है, इसी प्रकार कोई नास्तिक परब्रह्म को जगत का कारण न माने तो परमेश्वर को क्या आपत्ति। अरे भाई; कोई मूर्ख अपने पिता को अपना पिता न माने तो पिता की क्या हानि ? वह मूर्ख पुत्र ही कुल, गोत्र, शाखा, सूत्र, प्रवर और वेद विहीन होकर, लोक वेद से त्याज्य के कारण किसी की पिण्डोदक क्रिया करने का अधिकारी नहीं हो सकता।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के नवमें सूत्र के 'स्व' का अर्थ आपने परमात्मा किया है किन्तु 'स्व' शब्द जीवात्मा के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है, यह प्रसिद्ध वार्ता है, तो क्या प्रत्येक चेतन जीवात्मा को भी जगत के कारण रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता ?

वेदव्यासजी : आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१।१।१२।।

व्याख्या : तैत्तरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्द वल्ली में विज्ञानमय जीवात्मा

का अन्तर्यामी आनन्दमय परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान को बताया गया है किन्तु आनन्दमय का अन्तरात्मा कोई नहीं निरूपित किया गया। आनन्दमय स्वयं सिद्ध अपना अन्तरात्मा है जो जगत का कारण और सर्वजगत का आत्मा है, आनन्द-मय परमात्मा को जान लेना व प्राप्त कर लेना ही जीवन का चरम फल एवं पुरुषार्थ है अतएव उपनिषदों में 'आनन्द' शब्द का अभ्यास (प्रयोग) बार बार परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में किया गया है, अस्तु, आनन्द शब्द की पुनः पुनः आवृत्ति ब्रह्म के लिये करने से यह दृढ़ निश्चय होता है कि 'आनन्द' का अर्थ ब्रह्म ही है। तैत्तरीय उ० "आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान न विभेति कश्चित्" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" तथा बृ० उ० में "विज्ञान मानन्दं ब्रह्म" इत्यादि कई प्रकरणों में आनन्दं व आनन्दमय का प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में ही है, अन्य के अर्थात् जीवा-त्मा के लिये नहीं क्योंकि जीवात्मा का अन्तरात्मा, आनन्दमय परमात्मा कहा गया है तथा आनन्दमय को प्राप्त करके ही जीव आनन्दी होता है इसलिये सर्व प्रकारेण यह दृढ़ निश्चय है कि "आनन्दमय" नाम परब्रह्म का है जैसे आहार सम्बन्धी षट रसों में एक रस मधुर कहलाता है, लोक में प्रायः सभी पदार्थों में कुछ मधुरांश व्याप्त रहता है जिसे लोग कहा करते हैं कि इस पदार्थ में शक्कर की मात्रा कम होती है और इसमें अधिक। यहाँ शक्कर शब्द से मधुर रस का ही जैसे ग्रहण होता है अन्य का नहीं, वैसे ही वेद में आनन्द शब्द से परब्रह्म पर-मात्मा का ग्रहण निःसन्देह किया जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुनेः! "आनन्दमय" शब्द में मय शब्द मयट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है अतः विकार अर्थ में 'मयट्' का प्रयोग होने से "आनन्दमय" का प्रयोग परब्रह्म के लिये कैसे संभव हो सकता है क्योंकि परमात्मा निर्विकार है इसलिये जैसे अन्नमय आदि शब्दों का ब्रह्म के अर्थ में ग्रहण नहीं होता है वैसे ही आनन्दमय शब्द को, उन्हीं के साथ आने से, उन्हीं की तरह ब्रह्म अर्थ में न लिया जाय तो कौन आपत्ति है।

वेदव्यासजी : **विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१।१।१३॥**

व्याख्या : यहाँ मयट् प्रत्यय का प्रयोग विकार अर्थ में नहीं किया गया है अपितु प्रचुरता अर्थ में स्वीकार करना प्रसंगानुसार है, क्योंकि पाणिनि सूत्र के अनुसार मयट् प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य अर्थ में भी होता है, लोक में इस अर्थ के

प्रतिपादक बहुत से शब्द श्रवण किये जाते हैं, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय में भी मयट् का प्रयोग प्राचुर्यार्थ ही में ग्रहण होता है विकार में नहीं अतएव उन्हीं शब्दों के साथ आये हुये, 'आनन्दमय' शब्द के मयट् का प्रयोग निस्सन्देह प्रचुरता के अर्थ में है इसलिये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप होने से उन्हें आनन्दमय कहना सर्वथा औचित्यानुरूप है जैसे स्वर्ण के बने हुये आभूषणों को लोक में कहा जाता है कि ये अलंकार स्वर्ण ही स्वर्ण के बने हुये हैं अर्थात् सब स्वर्णमय हैं, उसी प्रकार परब्रह्म में आनन्द की घनता होने से श्रुति अपनी वाणी में उन्हें आनन्दमय कहकर सम्बोधित करती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जब मयट् प्रत्यय का प्रयोग विकारार्थ में भी होता है तब यहाँ विकार अर्थ में न मानकर प्राचुर्यार्थ में ग्रहण करने का क्या कारण है ?

वेदव्यासजी : **तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।।१।१।१४।।**

व्याख्या : पूर्वोक्त प्रकरण में "आनन्दमय" को आनन्द प्रदान करने वाला कहा गया है अर्थात् वह जगत के चराचर जीवों को आनन्दित करने वाला है, अव्यय आनन्द का अक्षय भण्डार जो होगा, वही जगज्जीवों को सदा से आनन्द प्रदान करता चला आया है, कर रहा है और आगे भी करते रहने से, उसके आनन्द में किंचित कमी नहीं होती इसलिये उस परब्रह्म को आनन्दमय कहना सर्वथा उचित है क्योंकि उसके आनन्द में प्राचुर्य अर्थात् अनन्तत्व है जैसे महासागर से जल शोषण कर, सूर्य सदा से जगत में जल वृष्टि करते आये अर्थात् सूर्य द्वारा समुद्र संसार को जल वितरण करता चला आया है, कर रहा है और आगे भी करेगा किन्तु उसमें जल की न्यूनता का कभी दर्शन नहीं होता इसलिये उस जलधि को जलमय कहने में कौन आपत्ति है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! एक मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में होने से यहाँ "आनन्दमय" शब्द ब्रह्म का वाचक है कि कोई अन्य कारण से भी है।

वेदव्यासजी : **मान्त्र वर्णिकमेव च गीयते ।।१।१।१५।।**

व्याख्या : "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन्।"

इत्यादि मन्त्रों से वर्णित ब्रह्म को जैसे सांकेतिक-भाषा-ज्ञानी द्वारा अपने ज्ञान का विषय बनाया जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में "आनन्दमय" को सबका अन्तरात्मा कहकर वर्णन हुआ है इसलिये मन्त्रों का सामञ्जस्य रखने के लिये तथा अनर्थ की निवृत्ति के लिये यहाँ "आनन्दमय" शब्द ब्रह्म के वाचक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है जैसे लोक में देवदत्त की जीवनी श्रवण करने के समय कहीं देवदत्त को देवप्रसाद कहकर वक्ता कथानक कह रहा हो तथा देवदत्त के सर्वलक्षण देवप्रसाद नाम के साथ जुड़े हों तथा देवदत्त की कथा छोड़कर अन्य कथा कहने का संकल्प उस समय वक्ता के हृदय में न हो तो, 'देवप्रसाद' को देवदत्त का वाचक जैसे श्रोता लोग समझ लेते हैं, वैसे ही उक्त अर्थ को समझो।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आनन्दमय को जीवात्मा का वाचक मान लिया जाय तो क्या हानि होगी ?

वेदव्यासजी : **नेतरोऽनुपपत्तेः ।।१।१।१६।।**

व्याख्या : उपनिषदीय मन्त्रों के अनुसार आनन्दमय ब्रह्म ने अपने संकल्प से विविध स्वरूप वाली सृष्टि की रचना की और सबका अन्तरात्मा होकर सबके भीतर प्रविष्ट हो गया किन्तु जीवात्मा में यह सामर्थ्य नहीं है, वह अल्पज्ञ है, स्वयं का भी ज्ञान नहीं रखता तथा सृष्टि करने की किंचित शक्ति उसमें नहीं है इसलिये 'आनन्दमय' शब्द यहाँ परब्रह्म का वाचक है जीवात्मा का नहीं अतएव पूर्वापर के वर्णन से जीवात्मा को आनन्दमय नहीं कहा जा सकता जैसे किसी पिता के पुत्र को पिता नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस पुत्र ने अपने को उत्पन्न नहीं किया और न उसमें शक्ति ही थी, उसका जन्म तो उसकी मातृ-योनि में पिता द्वारा वीर्य सिंचन से हुआ है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! उक्त वार्ता की सिद्धि क्या किसी अन्य कारण से भी हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **भेदव्यपदेशाच्च ।।१।१।१७।।**

व्याख्या : तै० उ० की ब्रह्मानन्द वल्ली में वर्णन आता है कि जो 'सुकृत' नाम से कहा गया है, वही रस स्वरूप ब्रह्म है, जिसे जीवात्मा प्राप्तकर आनन्द

से युक्त हो जाता है (रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति) एवं प्रकारेण यहाँ पर परब्रह्म को आनन्द प्रदाता और जीवात्मा को आनन्द से युक्त होने वाल निरूपित किया गया है, जिससे दोनों का भेद, दाता और ग्रहीता तथा अन्न और अन्नाद के समान स्पष्ट सिद्ध है अन्यत्र भी भेद सिद्ध करने वाले श्रुति वाक्य हैं इसलिये भी जीवात्मा का वाचक 'आनन्दमय' शब्द नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आनन्द तो सत्व गुण विशेष से संप्राप्त होता है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही स्वरूप है इसलिए यहाँ 'आनन्दमय' को प्रकृति का वाचक क्यों न मान लिया जाय ?

वेदव्यासजी : **कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१।१।१८॥**

व्याख्या : उपनिषद में जहाँ भी 'आनन्दमय' का प्रसंग आता है वहाँ "सोऽकामयत" वाक्य कहकर श्रुति के द्वारा 'आनन्दमय' में सृष्टि विषयिनी कामना (संकल्प) का होना कहा गया है जो जड़भूता प्रकृति के लिये सर्वथा असंभव है अर्थात् कामना या संकल्प करना चेतन कार्य है, जड़ का नहीं इसलिये "आनन्दमय" से जड़ात्मा प्रकृति का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता जैसे "त्रिलोचन ने आज अपने को आचार्य चरणों में समर्पित कर देने की वार्ता लोगों के बीच में की है" अगर इस वाक्य में आये हुये 'त्रिलोचन' की जगह कोई नारियल का अर्थ ग्रहण करने का आग्रह करे, तो यह केवल अज्ञान ही तो होगा। नारियल में तीन नेत्र-चिन्ह मात्र अवश्य हैं किन्तु वह चेतन नहीं, अस्तु, कोई कामना करना उस का कार्य नहीं हो सकता, त्रिलोचन शब्द से किसी चेतन पुरुष का ग्रहण करना ही उचित होगा।

मुमुक्ष मुखेन : तो क्या "आनन्दमय" शब्द से जीवात्मा और प्रकृति का ग्रहण किसी प्रकार नहीं हो सकता ?

वेदव्यासजी : **अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१।१।१९॥**

व्याख्या : उपर्युक्त प्रकारों से आनन्दमय शब्द जीव व प्रकृति का वाचक नहीं हो सकता, इसके अतिरिक्त श्रुतियाँ इस जीवात्मा का आनन्दमय परमात्मा से मिल जाना रूप जीव का उद्योग वर्णन करती हैं। तै० उ०, वृहदारण्यक

में श्रुति वाक्य हैं कि आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप को समझ-कर जो विद्वान उनकी प्राप्ति के लिये कामना करता है, वह परमात्मोपासक, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय समस्त कोषों के अन्तरात्मा आनन्दमय परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है और उन आनन्दमय ब्रह्म के साहचर्य एवं साधर्म्य को प्राप्तकर, ब्रह्म के समान परमानन्द का अनुभव करता है, तथा कामना रहित आप्तकाम पुरुष ब्रह्ममय होकर, ब्रह्म में लीन हो जाता है, इत्यादि श्रुति प्रमाणों से स्वयं सिद्ध है कि जड़ प्रकृति व जीवात्मा को आनन्दमय कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चेतन जीवात्मा का जड़ात्मा प्रकृति में व अपने समान परतन्त्र किसी जीव में लय होना नहीं संभव है इसलिये आनन्दमय शब्द परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का ही एकमात्र वाचक है, जैसे नमक का एक बड़ा गोला खण्ड, न तो किसी काष्ट खण्ड पर रखने से उसमें मिल सकता और न अपने समान किसी नमक पिण्ड के समीप रखने से मिल सकता किन्तु जल में उस नमक पिण्ड को रखने से वह जल में घुल मिल जाता है, वैसे ही जीव परमात्मा में ही संयुक्त होता है, प्रकृति व अन्य जीव में नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! तैत्तरीय श्रुति में 'विज्ञानमय' शब्द से जीवा-त्मा को लिया गया है किन्तु बृहदारण्यक में विज्ञानमय को हृदयाकाशशायी अंत-रात्मा बताया गया है अतएव जिज्ञासा होती है कि यहाँ विज्ञानमय शब्द से जीवात्मा का ग्रहण होता है या परब्रह्म का। इसी प्रकार (छान्दो० उ०) में जो सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्यमय पुरुष का वर्णन मिलता है तो वह सूर्य के अधिष्ठाता देवता का वर्णन है या ब्रह्म का ?

वेदव्यासजी : **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१।१।२०॥**

व्याख्या : हृदयाकाश में शयन करने वाला एवं सूर्य मण्डल के भीतर स्थित हिरण्यमय पुरुष परब्रह्म है क्योंकि उक्त श्रुतियों में 'विज्ञानमय' और हिर-ण्यमय पुरुष के विशेषण व धर्म जो भी कहे गये हैं, वे सब के सब पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ही हैं, जीवात्मा व सूर्य के अधिष्ठातृ देवता के गुण व विशे-षण इस प्रकार होना संभव ही नहीं है इसलिये उक्त श्रुतियों में 'विज्ञानमय' और हिरण्यमय पुरुष, परब्रह्म परमात्मा के लिये ही कहा गया है, जैसे 'आत्मा' शब्द श्रुतियों-पुराणों में कहीं जीव का बोधक है, कहीं ब्रह्म का, विद्वान लोग जहाँ जीव के धर्म आत्मा शब्द के साथ आये हैं, वहाँ आत्मा शब्द का ग्रहण जीव

के लिये करते हैं और जहाँ आत्मा के साथ परमात्मा के विशेषण और धर्म मिलते हैं, वहाँ आत्म शब्द का ग्रहण ब्रह्म के लिये करते हैं, जैसे 'पीपल' शब्द से जुड़े हुये गुण-धर्म के अनुसार सत वैद्य यह समझ जाते हैं कि यहाँ पीपल शब्द बड़े वृक्ष (अश्वस्थ) का बोधक है और यहाँ यह पीपल शब्द वेलि वाली पीपल का बोधक है, वैसे ही उक्त विषयक शब्दों के अर्थ को ब्रह्मविदों ने हस्तामलवत् ग्रहण किया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये क्या कोई अन्य हेतु भी हो सकते है ?

वेदव्यासजी : **भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥१।१।२१॥**

व्याख्या : (बृ० उ०) में वर्णन मिलता है कि जो सूर्य मण्डल में रहने वाला सूर्य का अन्तर्वर्ती (अन्तर्यामी) है जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है तथा जो सूर्य के अन्तर्देश में रहकर सूर्य का नियंत्रण करता है, वही अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है और अमृत है, एवं प्रकारेण सूर्य मण्डल अन्तर्वर्ती हिरण्यमय पुरुष सूर्य से भिन्न बताया गया है इसलिये भेद होने से 'हिरण्यमय पुरुष' परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है, सूर्य का नहीं जैसे स्वर्ण संपुट के भीतर रखी हुई मणि, स्वर्ण-सम्पुट के भीतरी भाग तथा सम्पुट में सूक्ष्म छिद्र होने से बाह्य भाग को प्रकाशित करती है किन्तु सम्पुट से वह भिन्न है, उसी प्रकार सूर्य को अन्तर्बाह्य प्रकाशित करने वाला हिरण्यमय पुरुष जो ब्रह्म का वाचक है, वह सूर्य से सर्वथा भिन्न है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यहाँ तक के निर्णयात्मक विवेचन से जगत के उद्भव, स्थिति और प्रलय के उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान सिद्ध हुये किन्तु छान्दोग्योपनिषद की श्रुति में जगत के विविध स्थितियों का कारण आकाश को बताया गया है, अस्तु, जिज्ञासा होती है कि जन्मादि त्रय अवस्थायें जगत की, जिसमें व जिससे होती हैं, वही ब्रह्म है और यह ब्रह्म के लक्षण हैं, कैसे कहा गया ?

वेदव्यासजी : **आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥१।१।२२॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (१।९।१) में कहा गया है कि ये समस्त भूत

(पञ्चतत्वों के सहित समस्त प्राणी) अवश्यमेव आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश ही में विलीन होते हैं अतएव आकाश ही सबसे श्रेष्ठ व महान है तथा सबका आधार है। उपर्युक्त श्रुति में आकाश के लिये जो विशेषण कहे गये हैं, वे भूताकाश में हो ही नहीं सकते क्योंकि चेतन कार्य जड़ से होना संभव नहीं, भूताकाश तो (इमानि सर्वाणि भूतानि) स्वयं भूतों के समुदाय में आ जाता है इसलिये इस आकाश से भूतों व प्राणियों की उत्पत्ति कहना व मानना असंगत है। उक्त श्रुति में कथित लक्षण एक मात्र परब्रह्म परमात्मा के कहना ही ठीक है, वही सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधार और महान है इसलिये सिद्ध होता है कि उक्त श्रुति में 'आकाश' नाम से परब्रह्म परमेश्वर को ही कहा गया है। अन्यत्र भी 'परव्योम' 'चिद्व्योम' विशेषण परब्रह्म के लिये आये हैं जो सबसे बड़ा हो, वही ब्रह्म है और आकाश भी उसे कहते हैं जो सबसे बड़ा हो अतएव चेतन और जड़ तथा इन के लक्षणों का विचार करके यहाँ आकाश का अर्थ परब्रह्म के लिये ग्रहण करना सर्वथा उचित है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! (छा० उ० ॥१।११।५॥) में आकाश के सदृश प्राण को भी जगत का कारण कहा गया है, अस्तु, जिज्ञासा है कि यहाँ प्राण शब्द किस का वाचक है ?

वेदव्यासजी : **अत एव प्राणः ।१।१।२३॥**

व्याख्या : छा० उ० कथित श्रुति में जो यह आया है कि निश्चय है कि ये सब भूतसमुदाय प्राण से उत्पन्न होते हैं और प्राण ही में विलीन होते हैं। ये सब लक्षण प्राणवायु में नहीं संगत बैठते, अपितु उस ब्रह्म के हैं, जिसके द्वारा प्राणियों के प्राण में प्राणित करने की शक्ति आती है अर्थात् जिसकी शक्ति व प्रेरणा से प्राण शरीर को धारण करता है, वही सबका प्राण ब्रह्म है, यह भी उपनिषद वाक्य है इसलिये उपर्युक्त श्रुति में 'प्राण' नाम से ब्रह्म का ही वर्णन है, अनर्थ करके श्रुति को दुखी नहीं करना चाहिये जैसे 'गो' शब्द गाय का वाचक है जिसका लक्षण दूध देना आदि है और कहीं 'गो' शब्द पृथ्वी के वाचकार्थ में आता है किन्तु विद्वान पुरुष लक्षण को देखकर ही 'गो' का अर्थ किया करते हैं न कि असंगत।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व प्रकरण में ब्रह्म सूचक लक्षण की संप्राप्ति से

आकाश और प्राण को ब्रह्म का वाचक स्वीकार किया किन्तु छा० उ० (३।१३।७) में जिस ज्योति को प्रकृति से परे परमधाम में प्रतिष्ठित बताया है तथा शरीरान्तर्वर्ती पुरुष में स्थित ज्योति के साथ जिसकी एकता कही गई है उस ज्योति के लक्षण वहाँ ब्रह्म के समान न मिलने से उक्त ज्योति को किसका वाचक माना जाय, यह जिज्ञासा है।

वेदव्यासजी : **ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥१।१।२४॥**

व्याख्या : छा० उ० कथित ज्योति जो स्वर्गलोक से ऊपर अर्थात् प्रकृति पार परम धाम में प्रकाशित हो रही है, वह निश्चय करके यही है जो कि इस पुरुष की अन्तर्वर्ती ज्योति है अर्थात् वह और यह दोनों एक ही हैं : यह ज्योति जड़ प्रकाश की वाचिका नहीं है तथा ज्ञान और जीवात्मा के अर्थ को प्रकट करने के अभिप्राय से भी नहीं कही गयी है अतएव यह 'ज्योति' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि इसके पूर्व बारहवें खण्ड में ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पादों का वार्णन आया है। पूर्ण विराट जगत को ब्रह्म का एक पाद बताकर शेष तीन पादों को अमृतमय कहकर, उनकी स्थिति परमधाम में कहीं गई है इसलिये इस प्रसङ्ग में आया हुआ ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक है, निःसन्देह अन्य किसी का वाचक नहीं है जैसे, ब्रह्मलोक का अर्थ ब्रह्मा का लोक व परब्रह्म का धाम भी होता है किन्तु वर्णन में लक्षण व विशेषण के ज्ञान से निश्चय किया जाता है कि यहाँ ब्रह्म लोक का अर्थ सृष्टि कर्ता ब्रह्मा का लोक है या यहाँ परब्रह्म परमात्मा का अपुनरावर्ती धाम है, उसी प्रकार यहाँ ज्योति के अर्थ में परम ज्योति स्वरुप परमात्मा का अर्थ ग्रहण करना सर्वथा उचित है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे! छा०उ० तीसरे अध्याय के बारहवें खण्ड में "गायत्री" के नाम से प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। गायत्री संज्ञा एक छन्द की है अतएव उस संदर्भ में ब्रह्म का वर्णन है, यह कैसे मान लिया जाय ? कृपया संशय का शमन करने के लिये वाणी का विसर्ग करें।

वेदव्यासजी : **छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण-निगदात् तथा हि दर्शनम् ॥१॥१।२५॥**

व्याख्या : गायत्री नाम से प्रकरण प्रारम्भ होने के कारण, गायत्री को ही

यहाँ सर्व कुछ समझना चाहिये, ऐसा अभिप्राय नहीं है, अपितु स्थूलात्मक के वर्णन द्वारा चित्त को सूक्ष्म तत्व में समाहित करने के लिये है। साधक को गायत्री नाम से ब्रह्म की महिमा का ही दर्शन कराया गया है। लोक में तो गायत्री जाप के द्वारा साधक प्रार्थना करता है कि "हे मेरी माता ! आप ऐसी प्रेरणा करें कि इस शिशु बुद्धि के दर्श में परम तत्व का दर्शन कर सके" तदनुसार प्रापक और प्राप्य में अन्तर है इसलिये गायत्री के द्वारा ज्ञान का विषय बनने वाली विशेष वस्तु दूसरी है, अस्तु, उक्त प्रकरण गायत्री के नाम से परब्रह्म का ही समझना चाहिये जैसे, "देव-देव" शब्द इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु भगवान के लिये यथास्थान विशेषण के रुप में प्रयुक्त होता है, परन्तु किस स्थान में किसके लिये सम्बोधित हुआ है, इसका निर्णय लक्षणों के द्वारा विद्वान लोग करते हैं अर्थात् जहाँ जिस देव विशेष के लक्षण मिलते हों, वहाँ देव-देव विशेषण या सम्बोधन उसी देवता के लिये ग्रहण किया जाता है तदनुसार गायत्री नाम से यहाँ ब्रह्म प्रकरण ही प्रस्तुत किया गया है, यही ब्रह्मविदों की मान्यता है।

मुमुक्ष मुखेन : भगवन ! उक्त प्रकरण गायत्री नाम से ब्रह्म का ही है, इस वार्ता को पुष्ट करने के लिये क्या कोई दूसरी युक्ति भी प्रस्तुत की जा सकती है ?

वेदव्यासजी : **भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्** ।१।१।२६।।

व्याख्या : छान्दो० उ० में गायत्री को भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय रूप चार पादों से संयुक्त निर्देशित किया गया है, पुन: उसकी महिमा का वर्णन करके, पुरुष नाम से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का प्रतिपादन किया गया है और प्रतिपादित ब्रह्म के साथ गायत्री की एकता करके समस्त प्राणि समूहों को उसका एक पाद कहा गया है और अमृत स्वरूप तीन पादों को परमधाम में स्थित कहा गया है, अतएव यहां गायत्री नाम से ब्रह्म का ही विवेचन किया गया है, ऐसा मानना ही औचित्यानुरूप है अन्यथा उक्त वर्णन की संगति नहीं लग सकेगी। जैसे नदी का नाम लेकर, उसके जल की महिमा का गान गंगाजल के गुणों से सर्वथा मिलते हुये किया गया हो और अन्त में यह भी कहा हो कि इसके जल में मरने वाले दुर्गति को नहीं प्राप्त होते, श्री शंकर जी भी इसे शिर में धारण करते हैं, अस्तु, इस वर्णन से नदी के अर्थ को गंगा नदी में ही ग्रहण करना सर्वथा उचित है, वैसे ही गायत्री शब्द को ब्रह्म के अर्थ में लेना ही संगत है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त उपदेश में पृथकत्व होने से गायत्री शब्द

को स्वतन्त्र स्वीकार कर, ब्रह्म का वाचक न माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।१।१।२७।।

व्याख्या : उपर्युक्त प्रकरण में तो तीन पाद दिव्य लोक में बताकर दिव्य लोक को ब्रह्म के तीन पादों का आधार कहा गया है, पुनः दूसरे मन्त्र में 'ज्योति' नाम से कथित ब्रह्म को, उस दिव्य लोक से परे बताया गया है, इस प्रकार से वर्णन शैली में भेद होने से गायत्री शब्द को ब्रह्म का वाचक न मानना असंगत और अनर्गल है क्योंकि दोनों जगहों में श्रुति का उद्देश्य एक है अर्थात गायत्री व ज्योतिः शब्दवाच्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्रकृति से परे परमधाम में प्रतिष्ठित बतलाना है, दोनों स्थानों की विवेचन शैली में नाम मात्र भेद होने से भी वास्तव में कोई विरोध नहीं है; श्रुति का असम्मानित अर्थ करना, विद्वानों के बुद्धि में भ्रम का आवरण डालकर वेद-विरोध करना है, जैसे सृष्टि क्रम के कथन में जहाँ-तहाँ भेद होने से भी, सृष्टि के उपादान कारण, ब्रह्म को स्वीकार करना ही युक्ति संगत है, अन्य को नहीं, वैसे ही उक्त अर्थ को समझ लेना चाहिए।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रथम आप श्री के मुख से "प्राण" शब्द को ब्रह्म का वाचक सुन चुका हूँ किन्तु 'कौषीतकि उपनिषद्' (३/२) में प्रतर्दन के प्रति इन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि मैं ज्ञानमय प्राण हूँ, तुम सर्व भावेन मेरी उपासना करो, अस्तु, यह जिज्ञासा हो रही है कि इस प्रसंग में प्राण शब्द किसका वाचक है, इन्द्र का अथवा प्राण वायु का या जीवात्मा का या ब्रह्म का ?

वेदव्यासजी : प्राणस्तथानुगमात् ।। १।१।२८ ।।

व्याख्या :—उक्त प्रकरण में वर्णित वार्ताओं से पूर्वापर विचार करने पर सरलतया इस सिद्धान्त की संप्राप्ति हो जाती है कि इस प्रसंग मे कथित 'प्राण' ब्रह्म का ही वाचक है । प्रतर्दन जी ने इन्द्र से परम पुरुषार्थ रूप वर पाने की याचना की है तदनुसार, इन्द्रदेव ने परम हित स्वरूप अपने उपदेश में 'प्राण' शब्द से तद्वाच्य परब्रह्म की उपासना करने का आदेश दिया है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञानों का आश्रय है, साथ ही उक्त प्राण को वहाँ प्रज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप, अजर अमर कहकर सर्व लोकों का स्वामी पालक और सर्वेश्वर कहा है, ये सब विशेषण परब्रह्म के ही हैं । प्राणवायु, जीवात्मा और इन्द्र के लिये

उपयुक्त नहीं हो सकते इसलिये यहाँ प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक निःसन्देह है, ऐसा समझना ही बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय है। बुद्धि के सूक्ष्म होने पर उसमें सूक्ष्म स्वरूप परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः सिद्धान्त के निर्णय में विद्वान पुरुष को कोई कठिनाई नहीं होती।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! उक्त प्रकरण में देव श्रेष्ठ इन्द्र जो अजर अमर हैं, उन्होंने स्वयं अपने को 'प्राण' कहा है अतएव यहाँ प्राण शब्द को इन्द्र का वाचक मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ १।१।२९ ॥

व्याख्या : इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्धी विषय वर्णन करने का बाहुल्य है, अधिदैविक विषय का नहीं इसीलिये यहाँ उपास्य रूप से वर्णित अद्वय तत्व, इन्द्र नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्र स्वयं अल्प है, अनल्प नहीं इसलिये यहाँ प्राण शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, इन्द्र का नहीं जैसे, दुग्धेच्छु मनुष्य को संकेत से कहे हुये पय शब्द का अर्थ, पानी समझकर पानी का गिलास उसे दिया जाय तो कितना असंतोषप्रद यह अर्थ होगा। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के प्रति कहे हुये प्राण शब्द को सुरपति शचीनाथ का वाचक समझना है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! उक्त प्रकरग में प्राण शब्द को ब्रह्म का वाचक मानकर इन्द्र को उसका वाच्य न माना जाय ठीक है किन्तु इन्द्र ने जो यह कहा कि "मैं प्रज्ञान स्वरूप प्राण हूँ, मेरी उपासना करो", तो इस कथन की क्या दशा होगी ?

वेदव्यासजी : शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ १।१।३० ॥

व्याख्या : बृहदारण्यकोपनिषद में आता है कि देवताओं में जिस ने उस ब्रह्म को जाना वह ब्रह्म ही हो गया "ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति" इसी प्रकार ऋषियों व मनुष्यों में जिसने भी ब्रह्म को जाना वह ब्रह्म हो गया क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान होने पर, अहं का निःशेष अभाव हो जाता है, तब ब्रह्मविद अपने को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं पाता और वह सबको अपने में और अपने में सबको जानने के

स्वभाववाला हो जाता है जैसे, उक्त ज्ञान की उपलब्धि में श्री वामदेव ऋषि बोल उठते है कि मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, इसी प्रकार शास्त्र दृष्टि से ब्रह्मभाव को प्राप्तकर अर्थात् एकता में अनेकता का लय करके इन्द्र का, इस प्रकार कहना कि "मैं प्रज्ञान स्वरूप ब्रह्म हूँ, मेरी उपासना करो" शास्त्र दृष्टि से उपयुक्त है। लोक में देखा जाता है कि भूत-प्रेत, ब्रह्म राक्षस से अभिभूत होकर लोग अपने कुल-गोत्र-कर्म और अपने को भूल जाते हैं, तब ब्रह्म में लीन होकर, अपने में सबको और सब में अपने को देखा करें कि मैं प्रज्ञान स्वरूप हूँ या सूर्य हूँ, मनु हूँ आदि, तथा तदनुरूप बोल उठने में कौन आश्चर्य है।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : मुने ! इस प्रकरण में जीवात्मा तथा प्रसिद्ध प्राणवायु के लक्षण मिलते हैं इसलिये प्राण शब्द को ब्रह्म का वाचक न मानने से कौन आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : जीवमुख्यप्राण लिङ्गान्नेति चेन्नोपासा त्रैविध्यादाश्रित-त्वादिह तद्योगात् ।। १।१।३१ ।।

व्याख्या :—कौषीतकि उपनिषद में जो यह आया है कि वाणी को जानने की इच्छा न कर, वक्ता को जानना चाहिये क्योंकि वाणी करण और कार्य का अध्यक्ष, जीवात्मा है, इसी प्रकार प्राण विषयक वार्ता भी आती है कि प्रज्ञानात्मा प्राण ही शरीर को ग्रहण करके उठाता है, इत्यादि अर्थों को लेकर 'प्राण' शब्द को ब्रह्म का वाचक न मानने से त्रिविध उपासना का प्रसंग उपस्थित हो जायगा अर्थात् प्राण, जीव और ब्रह्म ये तीन उपास्य देव हो जायेंगे तो उपासना करने वाला अन्वेषण करने पर भी न मिलेगा क्योंकि उपासक को उपास्यदेव स्वीकार करने पर, उपासक का अभाव हो जाना स्वाभाविक है, इसके अतिरिक्त जीव और प्राण आदि धर्मों के आश्रय अर्थात् धर्मी ब्रह्म ही है इसलिये ब्रह्म—प्रकरण में उसके धर्मों का प्रसंग आ जाना सर्वथा उचित ही है। साथ ही यहाँ लोकाधिपति लक्षणों का वर्णन मिलता है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य का हो ही नहीं सकता, इसलिये यहाँ प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक निःसन्देह हैं, इन्द्र, जीव और प्रसिद्ध प्राण का वाचक कदापि नहीं हो सकता। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं जैसे हरि शब्द भगवान विष्णु, इन्द्र, वानर, सिंह आदि कई शब्दों का वाचक होने पर भी, 'हरि' शब्द का वाच्य उसी का समझना चाहिये, जिसका वर्णन प्राप्त प्रसंग में चल

रहा हो।

तात्पर्यार्थ :–श्री वेदव्यासजी ने ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ब्रह्म के लक्षण एवं परिभाषा का वर्णन करके ब्रह्म को जगत का कारण कहा है, प्रकृति और जीव को नहीं। जीव और प्रकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के शरीर हैं और शरीरी अर्थात् अन्तर्वर्ती आत्मा, सबका परब्रह्म है। अन्नमय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय कोषों का अन्तर्यामी अन्तरात्मा परब्रह्म परमात्मा है किन्तु आनन्दमय (परब्रह्म परमात्मा) का अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही हैं। उपनिषदों के ब्रह्म प्रकरण में आये हुये, हिरण्यमय, विज्ञानमय, प्राण, इन्द्र, गायत्री आदि विशेषण शब्द ब्रह्म के धर्म होने से ब्रह्म के वाचक अर्थ में कहे गये हैं अर्थात् ब्रह्म के अर्थ में उनका ग्रहण करना, वेदविदों के अनुकूल है अन्यथा अर्थ करने से श्रुतियों के अश्रुपात से, अनर्थ करने वाले वेदाभिमानियों को पतित होकर वेदाधिकार से वञ्चित हो जाना रूप दण्ड भोगना पड़ेगा अतएव वेदव्यासजी विरचित ब्रह्म सूत्र के विनिश्चित वाक्यों की अग्नि में कुतर्कों की आहुति देकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करना ही, जीव का स्वरूपानुकूल कृत्य है।

श्री वेदव्यास कृत ब्रह्म सूत्रान्तर्गत प्रथम अध्याय का प्रथम पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के

प्रथम अध्याय का द्वितीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! उपास्यदेव विषयक वार्ता का विनियोग यद्यपि आपके द्वारा पूर्ण हो चुका है तथापि संशय के निर्मूलार्थ पुनः प्रश्न करने की धृष्टता कर रहा हूँ। प्रभो ! उपास्य देव कौन है ? जिसकी उपासना करने से सभी की उपासना अपने आप हो जाती है, वह जीवात्मा है या परमात्मा है कि कोई दूसरा ही है ?

वेदव्यासजी : सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।।१।२।१।।

व्याख्या :– समस्त वेदान्त वाक्यों में जिस प्रसिद्ध परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को जगत का उपादान कारण बतलाया गया है तथा जो समस्त जगत समुदाय का पालक है एवं जिसमें समस्त जगत स्थित रहता है, जो सबका संहार करके अपने में ही लीन कर लेने वाला है, वही परब्रह्म परमात्मा सबका उपास्य देव है। छा० उप० के (सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत) तथा अन्य उपनिषदों के एवं प्रकारेण तदर्थ को बताने वाले मन्त्रों से यही सुनिश्चित होता है कि साधक को उपर्युक्त दृढ़ निश्चय के साथ शान्त चित्त से वेदान्त सिद्धान्त स्वरूप परब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये अर्थात् सबका उपास्य देव परब्रह्म परमात्मा ही है, जैसे कोई पूछे कि इस भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट कौन है ? उसके चक्रवर्तीत्व का क्या प्रमाण है तथा समस्त प्रजा को किसे अपना राजा स्वीकार करना चाहिये ? उत्तर में यही बताया जायगा कि इस भूमण्डल के चक्रवर्ती महाराज का अमुक नाम है, इनके चक्रवर्ती राजा होने का यही प्रमाण है कि पृथ्वी के समस्त राजे-महाराजे एक मत होकर, इन्हें चक्रवर्ती महाराजा स्वीकार करके स्वयं इनके आधीन बने रहते हैं। प्रजा का पुत्रवत भरण, पोषण, संरक्षण और रंजन करने के कारण सारी प्रजा अनुरक्तपूर्ण इनकी ही उपासना करती है। ठीक इसी प्रकार समस्त वेदान्त वाक्यों से वेद्य परब्रह्म,

अपने अनन्त कल्याण गुण गण निलयत्व के कारण चराचर जगत के उपास्य देव हैं।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : भगवन्! छान्दो० उप० में उपास्य देव को मनोमय, प्राणस्वरूप शरीर संयुक्त कहा गया है, जो जीवात्मा के लक्षणों एवं विशेषणों के सर्वथा अनुकूल है अतएव जीवात्मा को ही ब्रह्म मान लेने से उक्त प्रकरण की संगति में कोई विरोध तो नहीं उत्पन्न होगा?

वेदव्यासजी : विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।।१।२।२।।

व्याख्या : छान्दो० उप० (३।१४।२) में उपास्य विषयक वार्ता की उपलब्धि इस प्रकार है कि वह मनोमय है, प्राण स्वरूप है, शरीर स्वरूप है, प्रकाशमय है, सत्य संकल्प आकाश के समान महान और व्यापक है, सर्वकर्मा, सर्वकाम (पूर्णकाम) सर्वगन्ध और सर्वरस है तथा समस्त संसार को, बाहर-भीतर अर्थात् सब ओर से व्याप्त करने वाला वाणी रहित संभ्रम शून्य (अखंड ज्ञानैक रूप) है। इस प्रसंग में जो उपास्य देव के गुण एवं लक्षण कहे गये हैं वे सब के सब परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं, जीवात्मा में न हैं और न संगति ही सिद्ध होती। ब्रह्म को मनोमय, प्राणस्वरूप एवं शरीर से संयुक्त कहना भी ब्रह्म महत्ता के प्रकट करने के लिये है। चराचर जगत के मन को, मनन करने की शक्ति, परब्रह्म की शक्ति व प्रेरणा से प्राप्त होती है इसलिये वह मन का मन है, प्राणधारियों के प्राणों को, प्राणित करने की शक्ति भी परब्रह्म की शक्ति व प्रेरणा से मिलती है इसलिये वह प्राण का भी प्राण है, सम्पूर्ण जगत अर्थात् परा-अपरा से संयुक्त यह दृश्य, परब्रह्म का शरीर है अतएव सबके अन्तर्यामी आत्मा परब्रह्म को मनोमय, प्राण स्वरूप इत्यादि कह देना अनुचित नहीं है अपितु युक्तिसंगत है, इसलिये सबके उपास्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही हैं जैसे पंचमहाभूत, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश हैं, ये सब पृथक-पृथक हैं किन्तु प्रत्येक में पांचों तत्व हैं इसलिये आकाश को वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी से युक्त कहने में कोई असंगति हो सकती है क्या? ठीक इसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर से उत्पन्न होने वाले सारे प्रकृति वा प्रकृति-विकृत तत्व हैं, उनका अन्तर्वर्ती आत्मा भी परमात्मा ही है अतएव परब्रह्म 'सर्वनामा' है, उन्हें मनोमय, प्राणमय विशेषणों से युक्त करना उन की महिमा का द्योतक है।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : प्रभो ! उपर्युक्त वार्ता की संपुष्टि परक क्या कोई अन्य युक्ति भी है ?

वेदव्यासजी : **अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।।१।२।३।।**

व्याख्या : उपासक को उपास्य देव की जो महिमा-गरिमा सम्बन्धी विशेषण, सत्य संकल्प-सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वसामर्थ्य इत्यादि बताये गये हैं, वे गुण जीवात्मा में नहीं दृष्टिगोचर होते अतएव उपास्य देव जीवात्मा कदापि नहीं हो सकता । वह तो उपासक के आसन को ग्रहण करने वाला स्वभाव सिद्ध है इस लिये अनर्गल आशंका कभी नहीं करनी चाहिये जैसे पिता के आंशिक लक्षणों का प्रमाण वेद व लोक में प्राप्तकर कोई पुत्र को उपास्य मानने का आग्रह करे तो उस हठधर्मी की वार्ता सर्वथा अमान्य होगी, कोई विद्वान पुत्र को सेव्य मानना स्वीकार नहीं करेगा अपितु नरकार्णव में व्यस्त होने का सरल साधन बताकर, अज्ञानियों को ज्ञाननेत्र प्रदान करेगा ।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : मुने ! उपास्य देव परब्रह्म हैं, जीवात्मा नहीं, इसे प्रकारान्तर से पुनः प्रपुष्ट करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च ।।१।२।४।।**

व्याख्या छान्दो० उप० में कहा गया है कि सर्वकर्मा सर्वात्मा इत्यादि विशेषणों से वर्णित परब्रह्म ही हमारे हृदय में रहने वाला हमारा आत्मा है, मृत्यु के पश्चात् यहाँ से उत्क्रमण कर, अर्चिरादि मार्ग द्वारा परम धाम में पहुंचकर, इसी आत्मा को अपनी उपासना के अनुसार प्राप्त करूंगा । इस प्रकार पूर्वोक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को परम प्राप्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य तथा जीवात्मा को प्राप्ति करने वाला बताया गया है इसलिये परब्रह्म परमेश्वर को उपास्य देव और जीवात्मा को उपासक मानना श्रुति सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है, जैसे इन्द्र और इन्द्र के आधीन देव समुदाय में इन्द्र को सुरेश्वर कहकर, देवों को उपासक और इन्द्र को उपास्य देव मानना ही संगत है, वैसे ही ब्रह्म और जीव का सदा सेव्य और सेवक सम्बन्ध सहज है ।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्नः प्रभो ! प्रकारान्तर से परब्रह्म ही उपास्य देव हैं

इस कथन की पुष्टि करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **शब्द विशेषात् ॥१।२।५॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० में कहा गया है कि यह मेरे हृदय में रहने वाला अन्तर्यामी आत्मा हैं, यह ब्रह्म है। इस कथन में 'एष:' (यह) 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' ये प्रथमान्त शब्द उपास्य देव के लिये कहे गये हैं और 'मे' (मेरा) यह षठयन्त पद पृथक रूप से जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, इस प्रकार दोनों के प्रयोग में आयें हुयें, शब्दों में स्पष्ट रूपेण भेद हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उपास्य देव, उपासक जीवात्मा से सर्वथा भिन्न हैं इसलिये जीवात्मा को उपास्य देव नहीं माना जा सकता, जैसे अङ्गों को उपासक व अङ्गी को उपास्य देव मानना ही स्वरूपानुकूल है। अङ्गी चेतन व अङ्ग जड़ हैं। जड़ जगत का उपयोग चेतन जगत की सेवा के लिये ही है अतएव अङ्ग को उपास्य नहीं माना जा सकता। इनके वर्णन में भी चेतन के लिये अयम् और जड़ के लिये इदम् शब्द का प्रयोग होने से स्वाभाविक भेद है, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा के विषय में उक्त सिद्धान्त को ही सहज सिद्ध मानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : इसके अतिरिक्त यदि अन्य प्रमाण हो तो उसे बताने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **स्मृतेश्च ॥१।२।६॥**

व्याख्या : श्रीमद्भगवत गीता आदि स्मृति ग्रन्थों से भी उपास्य और उपासक का भेद सिद्ध होता है जैसे गीता (१२।८) तथा (८।५) में स्पष्ट स्वयं भगवद् वाणी है, "हे पार्थ ! तुम मुझमें ही मन और बुद्धि को लगा दो, जिसके परिणामस्वरूप तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, इसमें संशय अणुमात्र भी नहीं है।

जो पुरुष अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ, शरीर परित्याग करता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।"

जैसे, पापमूर्ति अजामिल, यवन, गणिका आदि नेअन्त में पुरुषोत्तम भगवान का स्मरण करके परम पद की प्राप्ति की है, वैसे ही कोई भी परब्रह्म परमात्मा का स्मरण करके, अच्युतधाम की प्राप्ति कर सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

मुमुक्ष मुखेन प्रतिप्रश्न : प्रभो ! छान्दो० उप० में उपास्य देव को हृदय में स्थित एक देशीय कहा गया है तथा अन्य मन्त्र में उसे सरसों और साँवा धान्य

से भी छोटा बताया गया है अतएव ऐसी अवस्था को प्राप्त, उस उपास्य देव को परब्रह्म कैसे माना जा सकता है ।

वेदव्यासजी : अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥१।२।७॥

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान सर्वव्यापक और सर्वात्मा होने से आकाशवत् सर्वत्र हैं अतएव प्राणियों के हृदय में भी स्थित हैं इसलिये अपेक्षाकृत ऐसा कहने से, उन्हें एक देशीय तथा छोटा नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार सरसों व साँवा के समान कहकर परब्रह्म की सूक्ष्मता अर्थात् सभी छोटे-बड़े प्राणी-पदार्थों में भीतर-बाहर व्याप्त होने की शक्ति का परिचय देने की अपेक्षा से ऐसा उक्त छान्दो० उप० के प्रसंग में कहा गया है न कि परब्रह्म को एक देशीय और छोटा बतलाने के लिये, अतएव जो सबसे बृहत् तथा सबको बृहत् बनाने वाला ब्रह्म है, उसी को यहाँ अपेक्षाकृत हृदयस्थ और साँवा-सरसों के समान बताया गया है । जैसे लोक में यह कहा जाता है कि ये महाराज गरीबों के यहाँ जाकर, गरीब बनकर रहते हैं अर्थात् उनका मज्जन, अशन शयन उनकी गरीबी का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है, वे इतने छोटे हैं कि अपने छोटों के हृदय में प्रवेश कर रहते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा गरीब और सबसे छोटा है इसलिये उसे राजा नहीं कह सकते अपितु सही अर्थ राजा की महानता का द्योतक है कि राजा होते हुये भी गरीबों के यहाँ का सत्कार नगण्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने पर भी बड़े प्रेम से वह ग्रहण करता है, कितना सरल, निरभिमानी और प्रजा प्रेमी है । छोटे मनुष्य भी उनसे अपने बन्धुओं के समान मिल सकते हैं, अपनी प्रभुता व महिमा का स्मरण नहीं रखते इसलिये छोटों को भी प्राणों से प्यारे है तथा सबके हृदय के सम्राट हैं ।

ब्रह्म से सूक्ष्म कुछ नहीं है तथा उससे बड़ा भी कोई नहीं है इसलिये अपरि-च्छिन्न है, सबको बाहर भीतर से आवृत्त किये हुये है, अस्तु, यहाँ कहे गये उपा-स्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है ।

मुमुक्षु मुखेन :—मुने ! परब्रह्म परमात्मा सबके हृदय में स्थित होते हुये भी, प्राणियों के सुख-दुःख से अलिप्त बना रहता है, ऐसा क्यों ?

वेदव्यासजी : सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥१।२।८॥

व्याख्या : जीवात्मा से परमात्मा में विशेषता का दर्शन होता है, अपने वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान जीवात्मा के साथ हृदय गुफा में रहने पर भी, उसके समान सुख-दु:ख से अभिभूत नहीं होते क्योंकि परमात्मा में कर्तापन का अभाव, फलाशा के बीज की अप्राप्ति, आसक्तिहीनता सहज है, वह साक्षी मात्र है किन्तु जीव में कर्तृ भाव, फलेच्छा और आसक्ति का अदर्शन नहीं होता इसलिये जीव अपने किये गये कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख भोगता है किन्तु असंग होने से परमात्मा, जीवों की तरह सुख-दु:ख का अनुभव नहीं करता जैसे सूर्य की सकाशता से सभी मनुष्य मुनि, देवादि कर्म करते हैं परन्तु सूर्य मात्र साक्षी होने से, जीवों के पुण्य और पापमय कर्मों से सदा अलिप्त बना रहता है एवं रणभूमि, दोनों दलों के हार-जीत से असंग रहकर, सुखी-दुखी नहीं होती, इसी प्रकार परब्रह्म अपनी विशेषता के कारण, जीवात्मा की भांति सुख-दु:खादि द्वन्दों से लिप्त नहीं होता।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त प्रकरण में यह सिद्धान्त संप्राप्त हुआ कि परब्रह्म परमेश्वर में भोक्तापन नहीं है किन्तु वेदान्त-वणियों द्वारा कहीं-कहीं परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को भोक्ता भी कहा गया है अतएव वहां किसी अन्य के लिये भोक्ता कहा है या उसका प्रयोग किसी दूसरे अर्थ के लिये है, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अत्ता चराचरग्रहणात् ॥१।२।९॥**

व्याख्या : कठोपनिषद में कहा गया है कि संहार बेला में जिस परब्रह्म परमेश्वर के, ब्राह्मण और क्षत्रिय से लेकर, समस्त चराचर समुदाय भोजन बन जाते हैं और सर्वसंहारकारी मृत्यु शाक, चटनी आदि व्यञ्जन बन जाता है, उस परमात्मा के विषय में कोई क्या कह सकता है अर्थात् वह जहाँ और जैसा है, कौन जानने में समर्थ हो सकता है अतएव उक्त श्रुति में जीवों के साथ हृदय में रहकर, उनके समान सुख-दुख भोगने के कारण, परब्रह्म परमात्मा को 'भोक्ता' नहीं कहा गया है। संहार काल में स्थावर-जंगम जगत के समस्त प्राणियों को अन्न की भाँति उदरीकृत्य करने के कारण ही उन्हें भोक्ता कहकर सांकेतिक भाषा

में सबको अपने में विलीन करना रूप वैभव का दर्शन कराना ही श्रुति का अभीष्ट है जैसे, भागवत में भगवान कृष्ण को दावाग्नि को पीने वाला कहा गया है, इसका यह अर्थ नहीं कि वे रोज अग्नि का भोजन करते थे अपितु स्वजनों के रक्षकत्व गुण एवं अग्नि ज्वाला को उदर में रखकर शान्त कर देने से, उनकी शक्ति के औचित्य का दर्शन कराया गया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त सिद्धांत की सम्पुष्टि के लिये क्या कोई अन्य युक्ति भी है ?

वेदव्यासजी : **प्रकरणाच्च ॥१।२।१०॥**

व्याख्या : कठोपनिषद के उक्त (१।२।२५) मन्त्र के प्रथम बीसवें मन्त्र से चौबीसवें मन्त्र तक परब्रह्म का ही प्रकरण कहा गया है। ब्रह्म स्वरूप का निरूपण, ब्रह्म ज्ञान का महत्व बताकर, ब्रह्म को जानने या ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की कृपा को ही बताय गया है, तत्पश्चात् उक्त पच्चीसवें मन्त्र में भी परब्रह्म परमात्मा को जानना अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है जो पहले से चले आते हुए प्रकरण के अनुरूप है इसलिये पूर्वापर प्रसंग का परिशीलन करने से यही सिद्ध होता है कि चराचर जगत को ओदन तथा काल को शाक या चटनी बनाकर, उदरीकृत्य करने से परब्रह्म को भोक्ता कहा गया है जैसे, अच्छा राजा अपनी प्रजा पर, कर्मानुसार निग्रह-अनुग्रह करता है जिसे प्रजा दुख वा सुख के रूप में भोगती है परन्तु राजा उस सुख-दुख का अनुभव नहीं करता किन्तु करुणा एवं मैत्री भाव से युक्त राजा जब कभी प्रजा के सुख-दुख का अनुभव अपने हृदय में करता है, तब लोग कहते हैं कि महराज दुखी हैं, सुखी हैं, अस्तु, जैसे यहां वास्तव में प्रजा ही सुख-दुखादि का अनुभव करती है, राजा नहीं, वैसे ही जीवात्मा भोक्ता है, परमात्मा नहीं किन्तु सृष्टि उदरीकृत्य करने से, ब्रह्म को भोक्ता इसी प्रकार से कहा गया है जैसे राजा प्रजा के पाप-पुण्य का भोक्ता नहीं है तथापि जीव समुदाय के सुख-दुखादि को हृदयङ्गम करने से महाराज को लोग दुखी व सुखी कहते हैं।

मुमुक्ष मुखेन : ब्रह्मर्षे ! कठोपनिषद (१।३।१) वाली श्रुति में ऋत को पीने वाले, अर्थात् कर्म फल भोगने वाले, छाया और धूप के समान दो भोक्ता

हैं अतएव आपके कथनानुसार परब्रह्म, कर्म फल को भोगने वाला नहीं है, तो उक्त दो भोक्ता कौन-कौन हैं ?

वेदव्यासजी : गुहां प्रविष्टा वात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।१।२।११।।

व्याख्या : हृदय रुप गुहा में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा और परमात्मा ही हैं जिसका प्रमाण अन्य श्रुति वाक्यों से सिद्ध किया जा सकता है। परमात्मा धूपवत् है अर्थात् अखण्ड ज्ञानैक रस हैं इसलिए उसमें भोग, कामना, आसक्ति, कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान और फलाकांक्षा नहीं है किन्तु अपने अङ्गभूत समस्त देवताओं के रुप में यज्ञ भोक्ता है और सर्व प्राणि समुदाय के अन्तरात्मा होने से साक्षितया भी भोक्ता है परन्तु भोक्ता होते हुए भी परमात्मा निर्लिप्त अर्थात् असंग होने के कारण अभोक्ता ही है इसलिये परब्रह्म को कर्म बाँध नहीं सकते। जीवात्मा छाया के सदृश है अर्थात् अल्प प्रकाश (अल्प ज्ञान) वाला है, अज्ञान के अन्धकार का बाहुल्य होने से वह अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानकर कर्मसिक्त तथा फलाकांक्षी की मूर्ति बन गया है इसलिये उसे कर्म बाँधते हैं, जिससे त्रिताप की अग्नि में सदा जला करता है। जीवात्मा परमात्मा सत्य को पीने वाले इसलिये कहे गये हैं कि परमात्मा असंग की सत्यता को ग्रहण करने वाला है अर्थात् साक्षीमात्र होकर, जीव के कर्मों को देखता है अतएव वह अपने सत् स्वरूपानन्द का अनुभव करता है किन्तु जीवात्मा अपने किये हुये कर्तापन के अभिमान से संयुक्त कर्मों के फल को भोगना चाहता है इसलिये वह अपने किए हुये, कर्मों के फल को यथार्थतया सत्य स्वरूप न्याय से ग्रहण करता है अर्थात् सत्य को ही पीता है जैसे कारागार में कैदी भी रहते हैं और कारागार के मालिक तथा कर्मचारी भी किन्तु अपराधी दण्ड भोगते हुये कालक्षेप करते हैं और कारागार में बन्द करने वाला मुखिया तथा कर्मचारी साक्षी रूप से कैदियों के दुःख को, देखना रूप दृष्टिभोग बिना आसक्ति के करते हुये समय व्यतीत करते हैं, जिस प्रकार कर्मचारियों की देख-रेख में ही दंडी-दंड का उपभोग करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के साथ रहने से ही जीव सुखदुःखादि भोगने में समर्थ हो सकता है, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा को भोक्ता कहने का रहस्यार्थ हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : उपर्युक्त कथन की सिद्धि के लिये क्या दूसरा कारण भी हो

सकता है, प्रभो ?

वेदव्यासजी : **विशेषणाच्च ॥१।२।१२॥**

व्याख्या : उपर्युक्त उपनिषद के मन्त्रों में, जीवों के भवसागर संतरण हेतु परब्रह्म परमात्मा को ही उपाय और अभय प्रदाता बातया गया है इसके बाद रथ के रूपक में जीवात्मा को रथी और रथ के द्वारा गन्तव्य स्थान, परब्रह्म स्वरूप परमधाम कहा गया है, इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा को पृथक-पृथक विशेषणों से युक्त बताकर, यही सिद्ध किया गया है कि हृदय-गुहा में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा और परमात्मा ही हैं, अन्य नहीं जैसे शंकर दत्त और गणेशदत्त इस गुफा में भजन करने के लिये अपना निवास बनाकर सदा रहते हैं यदि उनकी दिनचर्या या जीवनी में जहाँ उनका नाम न लेकर सर्वनाम व विलेषणों से उनका संकेत किया गया हो, वहाँ अन्य की जीवनी व चर्या ग्रहण करना मोह मूलक है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परब्रह्म पुरुषोत्तम् भगवान की प्राप्ति हृदय में होती है अतएव उसे हृदय में स्थित कहना संगत है किन्तु छान्दो० उप० में कहा गया है कि यह नेत्र में जिस पुरुष का दर्शन हो रहा है, उसे निश्चय करके ज्ञान का विषय बनाना चाहिये, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है और यही ब्रह्म है, अतः यहाँ नेत्रान्तरगत कौन सा पुरुष है, जानने की जिज्ञासा हो रही है।

वेदव्यासजी : **अन्तर उपपत्तेः ॥१।२।१३॥**

व्याख्या : जो नेत्र में दिखाई देने वाला यह पुरुष है, वह ब्रह्म ही है, ऐसा मानने से ही पूर्वापर के सिद्धान्त में विरोध नहीं उत्पन्न होगा अर्थात् संगति बैठ जायेगी। नेत्र में दिखाई देने वाला यह दृश्यमान जगत रूप पुरुष है, जो परब्रह्म का कार्य होने से ब्रह्मात्मक है इसलिये यह ब्रह्म ही है, अवश्यमेव सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट परब्रह्म परमेश्वर से स्थूल चिदचित् विशिष्ट बनने वाला अपरब्रह्म रूप जगत ब्रह्म ही है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वाक्य इसके प्रमाण हैं अथवा "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति" कहकर आचार्य

का यह भाव होगा कि "जो यह नेत्र में पुरुष दिखाई पड़ता है" यह ब्रह्म ही है अर्थात् परमात्मा का नाम हृषीकेश भी है, बिना उसकी शक्ति व प्रेरणा से इन्द्रियाँ कुछ करने में समर्थ नहीं होती अतएव नेत्रेन्द्रिय तथा नेत्र देवता सूर्य को अपने कार्य में लगाने वाला जो पुरुष नेत्र में विवेक दृष्ट्या दिखाई पड़ रहा है, वही ब्रह्म है, इस प्रकार से यह भी निश्चय होता है कि सभी इन्द्रियों को अपने अपने कार्य में सक्षम होने की शक्ति, जिस हृषीकेश से प्राप्त होती है, वह ब्रह्म ही है। नेत्रों में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब व जीवात्मा को यहाँ ब्रह्म नहीं कहा गया है जैसे, सूर्य मण्डल में सूर्य का अन्तर्वर्ती आत्मा ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है, वैसे ही यह नेत्र में दिखाई देने वाला पुरुष ब्रह्म है, बताया गया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यहाँ ब्रह्म को नेत्र में दिखाई देने वाला पुरुष क्यों कहा गया है, वह एक देशीय तो नहीं ?

वेदव्यासजी : **स्थानादि व्यपदेशाच्च ।।१।२।१४।।**

व्याख्या : वेद वाक्यों में ब्रह्म को समझाने के लिये स्थान-स्थान पर, उसके स्थान, नाम, रूप आदि का वर्णन, पर्याप्त रुप में प्राप्त होता है जैसे, बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को पृथ्वी आदि अनेक स्थानों में स्थित बताया गया है, अतएव उपर्युक्त वर्णन में ब्रह्म को नेत्र में दीखने वाला पुरुष कहने से कोई अनुचित नहीं हुआ क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र है और निर्लिप्त है, वह नेत्र-पीड़ा एवं नेत्र में डाली जाने वाली घृत आदि वस्तुओं से प्रभावित नहीं होता, ये सब वस्तुयें आँख की पलकों में ही रह जाती हैं, ब्रह्म का स्पर्श नहीं कर सकतीं जैसे विषई पुरुष के हृदय में ज्ञान का स्पर्श नहीं होता अथवा जैसे आकाश सर्वत्र रहने पर भी किसी के दोष-गुण व परिणाम से सदा अलिप्त बना रहता है, वैसे ही ब्रह्म विषयक वार्ता को समझो।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता को दृढ़ करने के लिये कोई दूसरी युक्ति का प्रयोग कृपा कर करें।

वेदव्यासजी : **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।।१।२।१५।।**

व्याख्या : उक्त प्रकरण में नेत्रवर्ती पुरुष को अमृत, अभय और ब्रह्म

कहा गया है तथा आकाश की भाँति सूक्ष्म सर्वव्यापी और आनन्दमय भी सांकेतिक उपलक्षणों द्वारा निरूपित किया गया है अतएव उपर्युक्त विशेषण ब्रह्म में घटने के कारण आँख में दीखने वाला पुरुष ब्रह्म ही है, जैसे एक झोपड़ी में बैठे हुये पुरुष को देखकर, सामुद्रिक विद्या जानने वाले त्रिकालज्ञ ज्योतिषिओं से वह पुरुष सम्पूर्ण राजलक्षणों से युक्त राजसिंहासनासीन राजा ही है, ऐसा कहा जाने पर लोग उसे राजा ही स्वीकार करते हैं, उसके राजा होने में लोगों को कोई भ्रम नहीं उत्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्मविदों एवं श्रुतियों के कथनानुसार नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष को ब्रह्म मानना मुमुक्षुओं के स्वरूपानुरुप है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त युक्ति के अतिरिक्त यदि कोई युक्ति वर्तमान प्रसंग की पुष्टिकारिका हो तो, उसे कहने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१।२।१६॥

व्याख्या : इस प्रसङ्ग के अन्त में नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष के ज्ञानाधिकारी की गति वही बताई गई है, जो एक ब्रह्मवेत्ता की कही गई है अर्थात् फल श्रुति में उसे पुनरावर्ती रहित परम धाम की प्राप्ति कही गई है अतएव नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष ब्रह्म ही है, यह कथन भली भाँति सिद्ध हो जता है जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश की सूक्ष्मता और महानता को जानने वाले कोई व्यक्ति विशेष कहे कि इस घट में दीखने वाला जो अवकाश है, वह महान भूताकाश ही है, तो इसमें संशय करने की कौन सी वार्ता है।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न :–प्रभो ! यदि इस प्रसंग में नेत्र में दीखने वाले पुरुष को नेत्राभिमानी देवता या जीवात्मा के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाय तो कौन सी आपत्ति आड़े आ सकती है ?

वेदव्यासजी : अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥१।२।१७॥

व्याख्या : छाया पुरुष या प्रतिबिम्ब नेत्र में सर्वदा निवास नहीं करता क्योंकि किसी पुरुष के सम्मुख आने पर ही, उसका प्रतिबिम्ब नेत्र में पड़ता है, अन्य समय असम्भव है।। इन्द्रिय देवता भी जिस समय नेत्र किसी रूप को अपना विषय बनाते हैं, उस समय सहायक रूप में नेत्र में रहते है और सोते समय तथा

अविषयावस्था में नहीं एवं जीवात्मा भी जिस समय, जिस इन्द्रिय विषय को ग्रहण करता है, उस समय उसी के साथ रहता है, एक साथ सब इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों को नहीं ग्रहण कर सकता इसलिये सर्वदा नेत्र में निवास नहीं कर सकता। अतः इन तीनों की निरन्तर स्थिति नेत्र में नहीं पाई जाने के कारण, इन्हें नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष नहीं कह सकते, दूसरे जो ब्रह्म के अमृतादि विशेषण कहे गये हैं वे गुण व विशेषण अन्य किसी में हो ही नहीं सकते, अतएव उक्त युक्तियों द्वारा नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष को ब्रह्मविद्, ब्रह्म ही बतलाते हैं जो सर्वथा उचित है जैसे देवदत्त के घर में समयानुसार लोग-आते जाते हैं परन्तु किसी के पूँछने पर यही कहा जाता है कि इस भवन में रहने वाले पुरुष का नाम देवदत्त है, वह सदा यहीं रहता है और यह उनका स्वयं का मकान है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! श्रुतियों में जैसे स्थान-स्थान पर, ब्रह्म स्थिति का निर्देशन किया गया है, वैसे ही और अधिदैव तथा अधिभूतादि में ब्रह्म-व्याप्ति का निरूपण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १/२/१८ ॥**

व्याख्या : बृहदारण्यकोपनिषद में श्री याज्ञवल्क्य जी ने उद्दालक ऋषि से कहा कि किसी के जानने में न आने वाला किन्तु सबको जो जानने वाला है, किसी के नेत्र का विषय न बनने वाला है परन्तु जो सबको देखता है, जो किसी के श्रवण का विषय न बनने वाला है तथापि सब कुछ सुनने वाला है, जो किसी के मनन में न आने वाला है परन्तु स्वयं सब का मनन करता है इत्यादि चमत्कारों से युक्त वह सबका और तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है और–और जो विशेषण वहाँ कहे गये हैं वे सब के सब ब्रह्म में ही घटते हैं, जीवात्मा में नहीं अतएव समस्त अधिदैविक और अधिभौतिक वस्तुओं का अन्तर्यामी होने से उपर्युक्त प्रकरण में नेत्र में दीखने वाला पुरुष ब्रह्म ही सिद्ध होता है, ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा का अन्तर्यामी अन्य कोई नहीं हो सकता। इन्द्रिय, देवता और जीवात्मा के अन्तर्यामी व प्रकाशक, परब्रह्म को मानने से ही संगति ठीक बैठती है जैसे जादूगर अपने बनाये जादू के मर्म को भलीं-भाँति समझता है किन्तु दर्शक उसके चमत्मकारपूर्ण व्यवहार को समझने से अछूते ही रहते हैं, जादूगर जैसे अपने विनिर्मित असत दृश्यों का कर्ता अपने चित्त को बनाकर, चित्त को दृश्यों में

लगाये रहता है, वही दृश्यों के आदि-मध्य और अन्त का साक्षी एवं अन्तर्यामी है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा अपने बनाये समस्त अधिदैविक और अधि-भौतिक जगत के कर्ता हैं और सबके आदि मध्य और अन्त में होने से ही सृष्टि, सृजन, संरक्षण और संहार की लीला उनसे होना संभव है, वही सबके अन्तर्वर्न्ती आत्मा हैं अतएव वह परब्रह्म परमात्मा सबके बाहर-भीतर समान रूप से जो व्याप्त है, वह ब्रह्म ही है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अभी तक आपने विधि मुख से यह वार्ता सिद्ध कर दी कि अन्तर्यामी ब्रह्म ही है, अब कृपा कर निषेध मुख से यह सिद्ध करने की कृपा हो कि अव्यक्त जड़ प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकती अतएव वह जगत का कारण भी नहीं हो सकती।

वेदव्यासजी : **न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १।२।१९ ॥**

व्याख्या :–सांख्य स्मृति से प्रतिपादित प्रधान अर्थात् जड़ प्रकृति भी अन्त-र्यामी नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ जड़ प्रकृति के धर्मों का विवेचन अन्तर्यामी के लिये नहीं किया है अपितु महाचेतन परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के धर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है अतएव वहाँ कहा हुआ "अन्तर्यामी" विशेषण जड़भूता प्रकृति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि अन्तर्यामित्व कार्य चेतन का है "जड़ का नहीं" इसलिये सिद्ध होता है कि इस प्रसंग में अन्तर्यामी के नाम से परब्रह्म परमात्मा का ही वर्णन किया गया है जैसे, रामदेव नाम के पंडित त्रिकालज्ञ हैं, सबके भीतर की बात जान लेते हैं, इस कथन से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि रामदेव पंडित के हाथ-पैर आदि त्रिकालज्ञ हैं, यदि ऐसी ही बात सत्य हो तो मृत्यु के पश्चात् रामदेव के निष्प्राण शरीर संघात में भी ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा होता नहीं, अस्तु, ज्ञान कार्य चेतन आत्मा का है, अचेतन का नहीं।

मुमुक्षु मुखेन: मुने ! प्रकृति जड़ है इसलिये अन्तर्यामी उसे नहीं मान सकते किन्तु जीवात्मा को तो मान सकते हैं ? क्योंकि वह चेतन है, शरीर पर नियमन करता है और शरीर के भीतर ही रहता है ।

वेदव्यासजी : **शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥१।२।२०॥**

व्याख्या : माध्यन्दिनी और काण्व दोनों शाखाओं वाले ब्रह्मविद विद्वान

अन्तर्यामी ब्रह्म को जैसे पृथ्वी आदि पंचभूतों का अन्तर्यामी होकर, नियमन करने वाला मानते हैं, वैसे ही जीवात्मा का अन्तर्यामी होना भी मानते हैं, बिना परब्रह्म के अन्तर्यामित्व वैभव के जीवात्मा अनियन्त्रित हो जायेगा वहाँ जीवात्मा को नियम्य और परमात्मा को नियाम्यक बताया गया है इसलिये अन्तर्यामी विशेषण जीवात्मा के लिये नहीं है । और न हो सकता है। "अन्तर्यामी" शब्द परमात्मा का ही वाचक है जैसे, हे हरे ! वृक्ष-फलों को तुम्हें अर्पण करके ही मैं प्रसाद रुप से ग्रहण करूंगा" इस वाक्य में हरे शब्द, हरि भगवान के लिये आया है परन्तु कोई आग्रह करे कि हरे शब्द वृक्ष का विशेषण है अर्थात् कहा गया है कि, "हे हरियाली से युक्त वृक्ष ! मैं तुमको अर्पण करके प्रसाद पाऊंगा ।" विचार करें कि हरे शब्द तो भगवान के लिये है, वृक्ष के लिये नहीं क्योंकि उपासना करना व भोग लगाना उपास्य चेतन देव के लिये ही संभव है, जड़ के लिये नहीं, उसी प्रकार अन्तर्यामी शब्द परमात्मा के लिये ही है, जीव व प्रकृति के लिये नहीं ।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : प्रभो ! उपर्युक्त प्रकरण में यह बताया गया है कि अन्तर्यामित्व तथा दृष्टापन आदि धर्म चेतन के हैं, प्रकृति के नहीं इसलिये प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकती, परन्तु मुण्डकोपनिषद में जिसको अदृश्य, अग्राह्य आदि विशेषणों से संयुक्त कर अन्त में उसे भूतों का कारण बताया गया है, वह तो प्रकृति ही हो सकती है क्योंकि वहाँ गताये हुये धर्म प्रकृति में पाये जाते हैं, कृपा कर इस जिज्ञासा की पूर्ति करें ।

वेदव्यासजी : अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।।१।२।२१।।

व्याख्या : मु० उप० में श्री शौनकजी का प्रश्न अंगिरा ऋषि से है कि भगवन् ! किस परमज्ञेय तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने से, सबका ज्ञान (जीवात्मा और प्रकृति का ज्ञान) सहज ही हो जाता है । अंगिरा ऋषि ने वहाँ पराविद्या के द्वारा अक्षरातीत ब्रह्म को जान लेने के लिये अनुशासन किया है, जिसके जान लेने से सबका सब जाना हुआ उसी प्रकार हो जाना है। जैसे मिट्टी को जान लेने से, सभी पार्थिव पदार्थों का ज्ञान हस्तामलक हो जाता है। उसके पश्चात् अक्षर ब्रह्म को शौनक जी के ज्ञान का विषय बनाने के लिये, श्री अंगिरा ऋषि उस ब्रह्म के गुण-धर्मों का वर्णन करते हुये (मु० १।१।६ में) कहा है कि जो 'अगोचर है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अचक्षु है अश्रोत्र है अपाणिपादो

है, नित्य, व्यापक, सब ओर से परिपूर्ण, अति सूक्ष्म और अविनाशी है, उसको धीर पुरुष देखते हैं, वह समस्त भूतों का कारण है। जो सर्वज्ञ है, अखण्ड ज्ञान ही जिसका तप है, उसी से यह विराट स्वरूप चरा-चर जगत तथा नाम, रूप और अन्न प्रकट होते हैं। यहाँ जिन अग्राह्यादि धर्मो का वर्णन है, वे सबके सब परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ही हैं तथा एक परब्रह्म को जान लेने पर ही, सब कुछ जाना हुआ हो जता है अन्य जीवात्मा व प्रकृति के ज्ञान से नहीं, इसलिए उक्त प्रकरण में आये हुये अदृश्यादि धर्म ब्रह्म के ही हैं, प्रकृति व जीवात्मा के नहीं जैसे गाय का नाम लेकर, गाय के दुग्ध-गुणों का वर्णन मिलता हो तो वहाँ केवल दुग्ध के श्वेत वर्ण को सुनकर अर्थ में थूहा, मदार, ऊंटनी, गदही या भैंस, बकरी का दूध नहीं समझना चाहिए और न प्रयोग में लाना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो उक्त वार्ता की पुष्टि के लिये क्या कोई अन्य युक्ति पर प्रकाश डाला जायेगा ?

वेदव्यासजी : **विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याँ च नेतरौ ।।१।२।२२।।**

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा के बोधक "सर्वज्ञ" आदि विशेषण इस प्रकरण में बताये गये हैं, जो जड़ प्रकृति (प्रधान) और अल्पज्ञ जीवात्मा के लिये उपयुक्त नहीं हैं, इसके अतिरिक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान से भिन्न, इन दोनों को स्पष्ट-तया बताया गया है जैसे मुण्डकोपनिषद(३।१।७)में कहा गया है कि वह(परमात्मा) देखने वालों के शरीर के भीतर यहीं हृदय-गुफा में छिपा हुआ है, इस प्रमाण से जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता का दर्शन स्पष्ट रूप से संप्राप्त हो जाता है, इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धान्त की संपुष्टि मुण्ड० उप० (३।१।२) में भी पाई जाती है। शरीर रूपी वृक्ष में रहने वाला, जीवात्मा शरीर में आसक्त (देहाभि-मान से संयुक्त) होकर, दुख के सागर में निमग्न हो रहा है परन्तु जब उसे किसी ब्रह्मविद वरिष्ठ गुरु एवं भगवत्-भक्ति निष्ठ भागवत के संग का लाभ प्राप्त हो जाता है, तब वह शोक-मोह से पार हो जाता है। इस प्रकार उक्त मन्त्र द्वारा स्पष्ट आदेश प्राप्त होता है कि परब्रह्म परमेश्वर, जीवात्मा तथा शरीर(प्रकृति)से सर्वथा भिन्न है अतएव जीवात्मा व प्रकृति दोनों में से कोई भी अदृश्यतादि धर्मों से संयुक्त जगत का कारण नहीं हो सकता। वेदविदों का यह सिद्धान्त सर्वथा श्रुतियों

के मनोनुकूल होने से उन्हें आनन्दित करने वाला है, जैसे पिता अपने पुत्र व पत्नी से सर्वथा भिन्न है वैसे ही ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति दोनों से सर्वथा विलक्षण और भिन्न है तथा रस जैसे छिलका व गुठली दोनों से भिन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न होता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! उक्त प्रकरण में जिसे सर्व भूतों का कारण सिद्ध किया गया है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही हैं, इस तथ्य की पुष्टि के लिए क्या कोई प्रमाण भी है ?

वेदव्यासजी : **रूपोपन्यासाच्च ।।१।२।२३।।**

व्याख्या : श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म के अखिल लोकमय विराट स्वरूप का वर्णन भली-भाँति जिज्ञासुओं को समझाने के लिये किया गया है जिसके अर्थ का विस्तार इतिहास, पुराणों और स्मृतियों में दृष्टव्य है अतएव वह परब्रह्म परमात्मा ही समस्त भूतों का कारण है, यह परम सत्य है, जैसे मुण्डकोपनिषद (२।१।४) में परब्रह्म का मस्तक अग्नि है, चन्द्रमा और सूर्य दोनो नेत्र हैं, सब दिशायें दोनों कर्ण हैं, वेद ही वाणी है, वायु ब्रह्म का प्राण है, सम्पूर्ण विश्व हृदय है। परमात्मा के पैरों से पृथ्वी प्रकट हुई है, ब्रह्म ही सब प्राणियों का अन्तरात्मा है एवं प्रकारेण परब्रह्म परमेश्वर के विराट स्वरूप का निरूपण करके, उसे सबका अन्तरात्मा स्पष्ट रूप से कहा गया है इसलिये उपर्युक्त प्रकरण में, 'भूतयोनि' के नाम से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का ही वर्णन सिद्ध होता है जो समस्त विचारकों का मतैक्य है। जैसे जगतयोनि संज्ञा देकर, उससे गौण रूपेण सृष्टि रचना कार्य का वर्णन विस्तारपूर्वक करने के प्रकरण में जगज्योनि शब्द चतुर्मुख ब्रह्मा के अर्थ में ही लगाना संगत है, वैसे ही सृष्टि के प्रधान कारण (उपादान कारण) वर्णन के प्रकरण में भूत-योनि शब्द को परब्रह्म का वाचक समझना ही ब्रह्म विदों के ज्ञान की कसौटी है।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : प्रभो ! छान्दो० उप० (५।१८।२) में 'वैश्वानर' के स्वरूप का वर्णन मिलता है, वहाँ द्यु लोक को वैश्वानर का मस्तक कहा है। वैश्वानर तो जठराग्नि का ही एक नाम है अतएव उक्त वर्णन में जठर में रहने वाले अनल को वैश्वानर कहा गया है अथवा अन्य के अर्थ में। कृपया संदेह दूर करें।

वेदव्यासजी : **वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥१।२।२४॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (५।१८।२) में 'वैश्वानर' नाम से निश्चय परब्रह्म परमात्मा का ही वर्णन है क्योंकि उस प्रकरण में 'वैश्वानर' और आत्मा इन दोनों की अपेक्षा परमात्म बोधक विशेषणों का प्रयोग विशेष रूप से संप्राप्त होता है, उक्त वर्णन में महाराज अश्वपति जो वैश्वानर आत्मा के विशेषज्ञ थे, जिज्ञासु ऋषियों से उन्होंने कहा है कि "हे जिज्ञासु ऋषियों ! आप लोगों में कोई अग्नि की कोई सूर्य की, कोई वायु की, कोई जल की, कोई आकाश की और कोई द्युलोक की उपासना तो करते हैं किन्तु यह उपासना विश्व के आत्मा वैश्वानर के एक-एक अङ्ग की ही हुई आप लोगों से, अस्तु, अभी सर्वाङ्ग पूर्ण उपासना का रहस्य ज्ञान आप में किसी को ज्ञात नहीं है। अरे, जिज्ञासुओं ! विश्व के आत्मा वैश्वानर का सिर द्युलोक है, सूर्य नेत्र हैं और वायु प्राण है, आकाश शरीर का मध्यभाग है, जल वस्ति स्थान है, पृथ्वी युगल पाद हैं, वेदी वक्षस्थल है, दर्भ लोम है, गार्हपत्याग्नि हृदय है, अन्वाहार्यपचन अग्नि मन है और आहवनीय अग्नि मुख है अर्थात् विश्वात्मा वैश्वानर विश्व स्वरूप हैं अतएव विश्व का कारण है इसलिये कारण की उपासना करना ही सर्वाङ्गीण उपासना है तथा कार्य में कारण को अणु-अणु समाया हुआ देखना उपासना का रहस्य है। अत: इस प्रकरण में विश्व के आत्मा विराट पुरुष को ही वैश्वानर के नाम से कहा गया है क्योंकि जठराग्नि आदि के वाचक साधारण शब्दों की अपेक्षा पर-ब्रह्म परमात्म वाचक विशेषण शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है, जैसे विराट शब्द का प्रयोग लोक में लोग कई जगह करते हैं, 'विराट मेला है' 'विराट जनता है', 'विराट मन्दिर है' 'विराट वैभव है', किन्तु विराट का प्रयोग जहाँ पर ब्रह्म के बहुत से विशेषणों के साथ मिलता हो, वहाँ विराट शब्द को ब्रह्म के अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिये, मेला, जनता, मन्दिर और वैभव के अर्थ में नहीं, यही बुद्धि का वैशद्य है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त सिद्धान्त की संपुष्टि के लिये कोई अन्य कारण भी हो तो कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥१।२।२५॥**

व्याख्या : महाभारत शान्ति पर्व (४७।७०) में बताया गया है कि अग्नि

जिनका मुख है, द्युलोक शिर, आकाश नाभि, पृथ्वी दोनों पैर, सूर्य नेत्र और दिशायें कान हैं, उस विश्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को नमस्कार है, नमस्कार है। इस प्रकार स्मृति परमात्मा को निखिल विश्व के रूप में प्रतिपादन करती है, स्मृति के वचन मूल रूप से किसी श्रुति के अर्थ स्वरूप ही होते हैं, तदनुसार उपर्युक्त छान्दोग्योपनिषद की श्रुति में जो वैश्वानर स्वरूप परमात्मा के विराट स्वरूप का वर्णन आया है, वही उक्त महाभारत शान्ति पर्व के स्मृति वाक्यों का मूल आधार है, "अत: वेद वाक्यों का अर्थ इतिहास-पुराण द्वारा ही जानना चाहिये।" इस अनुशासन के अनुसार यहाँ परब्रह्म परमात्मा के विराट रूप को ही 'वैश्वानर' कहा जाना सिद्ध होता है अतएव जहाँ-जहाँ आत्मा व परमात्मा के वर्णन में वैश्वानर शब्द आये वहाँ-वहाँ उसे परब्रह्म परमेश्वर का ही वाचक मानना विद्वानों का मत है, जठराग्नि व जीवात्मा के अर्थ में कदापि नहीं लेना ही उत्तम बोध है जैसे, 'वज्र' शब्द हीरा तथा इन्द्र के आयुध को भी कहते हैं किन्तु जहाँ इन्द्र के पराक्रम व युद्ध विषयक वार्ता के प्रकरण में 'वज्र' शब्द आये वहाँ इन्द्रदेव के आयुध का ही अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त है, हीरे का नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अन्य श्रुतियों में आया हुआ 'वैश्वानर' शब्द अग्नि का विशेषण ही स्पष्टतया मालुम पड़ता है अतएव इसका समाधान क्या है जिससे आपके कहे अर्थ की संगति ठीक से बैठ जाय।

वेदव्यासजी : शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट-युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥१।२।२६॥

व्याख्या : शतपथ ब्रा० (१०।६।१।११) में तथा भगवद्गीता में आया हुआ वैश्वानर शब्द है, वह जठराग्नि में, ब्रह्म दृष्टि स्थापित करने के लिये है यदि ऐसा न होता तो वहाँ उसको पुरुष न कहा जाता और न "अहं वैश्वानरो भूत्वा" कहा जाता, इससे स्पष्ट है कि जठराग्नि में परमात्म बुद्धि कराने के लिये ही (श० प० ब्रा०) और भग० गीता में ऐसा कहा गया है। इसके अति-रिक्त जिस श्रुति पर विचार किया जा रहा है उस श्रुति में समस्त ब्रह्माण्ड को वैश्वानर का शरीर कहा गया है अर्थात् नख-शिखान्त उसके सर्व अङ्गों में समस्त लोकों की कल्पना की है, जो जठराग्नि के लिये सर्वथा असंभव है। श० प० ब्रा० में वैश्वानर को पुरुष के आकार वाला बताकर 'पुरुष' कहा है जो

जठराग्नि के लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये इन सब कारणों से वर्तमान प्रकरण में कहा हुआ 'वैश्वानर' शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है, जठराग्नि या अन्य का नहीं जैसे, राम शब्द है और उसका प्रयोग रावण वधादि प्रसंग में यदि किया गया हो तो वहाँ राम शब्द परशुराम, बलराम या अन्य किसी के अर्थ में ग्रहण नहीं होगा, वह तो 'दाशरथि राम' के अर्थ में ही लिया जायगा। ठीक ऐसे ही उपर्युक्त प्रकरण में 'वैश्वानर' शब्द परब्रह्म का ही वाचक सिद्ध होता है, जठराग्नि का नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! चलते हुये प्रकरण में द्यौ, आदित्य, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी इत्यादि देवता उपास्य रूप में जो पृथक-पृथक कहे गये हैं, वे भी वैश्वानर नहीं हैं, सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अत एव न देवता भूतं च ॥१।२।२७॥**

व्याख्या : पूर्व सूत्र में बताये हुये कारण यह सिद्ध करते हैं कि द्यौ, सूर्यादि लोकों के अधिष्ठातृ देवताओं तथा आकाशादि भूतों का ग्रहण वैश्वानर शब्द से नहीं हो सकता क्योंकि उपर्युक्त प्रकरण में सम्पूर्ण लोकों को वैश्वानर का शरीर बताया गया है, इसलिये वैश्वानर शब्द न तो देवताओं का वाचक हो सकता और न भूतों का। यह शब्द तो परब्रह्म का वाचक है, ब्रह्म स्वरूप ही है जैसे, 'परमात्मा' शब्द परब्रह्म परमेश्वर के लिये ही उपयुक्त होता है, किसी देवी-देव व भूत के लिये नहीं। वैश्वानर की व्युत्पत्ति भी परब्रह्म परमात्मा के अर्थ ही में संगत होती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रथम २६वें सूत्र में श० प० ब्रा० की श्रुति में कहे हुये वैश्वानर शब्द को जठराग्नि में ब्रह्म दृष्टि रखने के उद्देश्य से कहा गया, बताया है, इससे ऐसी प्रतीति होती है कि जैसे शालिग्राम शिला में विष्णु भगवान की प्रतीकोपासना कही गयी, उसी प्रकार वैश्वानर नामक जठराग्नि में परब्रह्म की प्रतीकोपासना करने का अनुशासन किया गया है।

वेदव्यासजी : **साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥१।२।२८॥**

व्याख्या : आचार्य जैमिनि का यह निश्चयात्मक निर्णय है कि 'वैश्वानर'

शब्द को साक्षात् परब्रह्म का वाचक मानने में जब कोई विरोध नहीं है, तब जठ-राग्नि को प्रतीक मानकर ,परमात्मा की उपासना उसमें करने की कोई आवश्य-कता नहीं है इसलिये यहाँ जठराग्नि को न तो वैश्वानर कहा गया है और न जठराग्नि को प्रतीक मानकर, परमात्मा की उपासना करने की आज्ञा दी गई जैसे राम परब्रह्म हैं, अस्तु ऐसा जानकर उनकी भक्ति करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रों व संतों का कथन है, अब विचार करें यहाँ राम में ब्रह्म की प्रतीकोपासना नहीं कही गई है अपितु राम शब्द स्वयं निर्गुण और सगुण ब्रह्म का वाचक है अर्थात् राम कहो या ब्रह्म कहो या परमात्मा कहो अथवा भगवान कहो, सबका वाच्य एक ही हैं, वास्तव में तो यहाँ वाक्य-वाचक एक ही अद्वय तत्व हैं।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! उपर्युक्त प्रकरण में यह वार्ता सिद्ध की गई है कि वैश्वानर नाम से परब्रह्म परमात्मा का ही वर्णन किया गया है किन्तु निर्गुण, निरा-कार, निर्विशेष को सगुण साकार सविशेष बतलाना तथा विराट रूपेण देश-विषेश से सम्बन्धित परब्रह्म परमात्मा का निरूपण करना विरोध सा प्रतीत होता है।

वेदव्यासजी : अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥१।२।२९॥

व्याख्या : श्री आश्मरथ्य आचार्य का कथन है कि परब्रह्म परमात्मा अपने आश्रितों एवं भक्तों पर अनुग्रह करने एवं दर्शन देने के लिये समय-समय पर, मनुष्यादि रूप में किसी देश विशेष में अवतार लेते हैं तथा अपने दर्शन-स्पर्शन, मधुरालाप एवं दैनिन्दिनी लीला के द्वारा, सभी प्राणियों को आनन्द प्रदान करते हैं। सगुण साकार ब्रह्म की चरित चन्द्रिका की सुधासिक्त किरणें तीनों काल में मृत्यु के भय से, मनुष्यों को मुक्तकर अमृतमय आनन्द के सिन्धु में अवगाहन कराने वाली सिद्ध होती हैं। उपनिषद, गीता, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ इस तथ्य-मय सिद्धान्त की परिपुष्टि करते हैं। इस कारण से विराट रूप में परब्रह्म पर-मात्मा को सगुण साकार एवं देश-विशेष से सम्बन्धित मानने में कोई विरोध व आपत्ति नहीं है क्योंकि वह परब्रह्म परमेश्वर युगपद विरोधी धर्मों का आश्रय है, सर्व समर्थ है, करने न करने तथा अन्यथा करने की अचिन्त्य शक्ति सदा उसके अन्तर्भुक है इसलिये वह परमात्मा देशकालातीत भी है और देश-विशेष में भी उसकी अभिव्यक्ति है, इसी प्रकार निर्गुण, निराकार, निर्विशेष भी है और सगुण साकार सविशेष भी है जैसे, बर्फ और जल, वैसे ही निर्गुण और सगुण दोनों

तत्वतः एक हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! इस विषय में अन्य आचार्य भी क्या ऐसा ही कहते हैं, जानने की जिज्ञासा है।

वेदव्यासजी : अनुस्मृतेर्बादरिः ॥१।२।३०॥

व्याख्या : बादरि नामक आचार्य का कथन है कि देशकालातीत होते हुये भी परब्रह्म परमात्मा को, उनके भजन-ध्यान, स्मरण में निरन्तर लगे रहने के लिये विराट रूप में एक देश-विशेष स्थित मानने व समझने में कोई अन्तर व विरोध नहीं है, इसी प्रकार सगुण साकार समझने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वह एक साथ निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार होने की सामर्थ्य वाला है जैसे अग्नि काष्ठ में होते हुये, वही अग्नि अरणि मन्थन द्वारा यज्ञ कुण्ड, देश-विशेष में देखी जाती है तथा एक साथ निराकार और साकार रूप में भी सबके दृष्टि का विषय बनती है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसी विषय में किसी और आचार्य का मत कहने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३१॥

व्याख्या : जैमिनि आचार्य का कथन है कि परब्रह्म अचिन्त्य ऐश्वर्यवान है, सर्व समय सब कुछ करने में वह समर्थ है, इसलिये अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्ति से वह एक साथ निर्गुण, निराकार, निर्विकार तथा सगुण साकार, सविशेष विभूतियों से युक्त है, उसे एक देश-विशेष स्थित तथा सगुण साकार मानने में कोई विरोध नहीं है। प्रमाण में दूसरी श्रुतियाँ भी ऐसा ही अभिप्राय प्रकट करती हैं, (मुण्ड० उप० २।१।४) भागवतादि पुराण इस प्रमाण के बाहुल्य से भरे पड़े हैं। वायु सर्व देश में व्याप्त होते हुये भी उसका एक देशीय रूप देवताओं के बीच जैसे वर्णन किया गया है निराकार होते हुये भी जैसे उसके सगुण स्वरूप का वर्णन पुराणों इतिहासों और उपनिषदों में मिलता है, वैसे ही सर्वदेशीय निराकर ब्रह्म के विषय में समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! आप श्री का स्वय का क्या मत है, इस विषय में ?

श्री व्यासदेवजी : आमनन्ति चैनमस्मिन ॥१।२।३२॥

व्याख्या : इस वैदिक सिद्धान्त में सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सबके आधार, अचिन्त्य एवं अनन्त पद वाच्य परब्रह्म परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान का प्रतिपादन ब्रह्मविद् वरिष्ठ वेदज्ञ लोग उपर्युक्त प्रकार से ही किया करते हैं। परब्रह्म परमात्मा परक बोध के लिये वेद शास्त्र, इतिहास और पुराण ही प्रमाण है क्योंकि परमात्मा अतर्क्य है, वह युक्ति तर्क से जानने में नहीं आता, वह एक साथ निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, निर्विशेष-सविशेष सब कुछ है और इनसे परे भी है। परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र हैं, अणु-अणु में है इसलिये यदि साधक उपासना की सिद्धि के लिये एक देश में उसका ध्यान करता है और समझता व मानता है तो कोई विरोध और अप्रमाणित नहीं है तथा वह सब देशों व कालों से निर्लिप्त है अतएव उसे देशकालातीत कहना औचित्यानुरूप ही है।

तात्पर्यार्थ : वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का सारांश यह है कि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति पृथक-पृथक हैं। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान आनन्दमय है और सबको आनन्द प्रदान करते हैं। आनन्दमय परब्रह्म परमात्मा ही चराचर जगत का अन्तर्वर्ती आत्मा है, अन्य नहीं।

जड़-चेतनात्मक जगत के वही कारण हैं, अन्य नहीं अतएव सबके उपास्य देव, परब्रह्म परमात्मा ही हैं, जीवात्मा नहीं, चाहे वह देव कोटि में हो, चाहे देवेतर मनुष्यादि कोटि में अर्थात् जीवात्मा उपासक है और परमात्मा उपास्य है। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार, सभी आचार्यों का मत है कि जो परब्रह्म परमात्मा निर्गुण-निराकार निर्विशेष है, वही सगुण साकार सविशेष है, जो सर्व देशीय सर्वकाल में है, वही एक विशेष देशीय तथा एक कालिक है, उपासकों के भजन-ध्यान, स्मरण, दर्शन स्पर्शन, वार्तालाप व लीला स्वाद के लिये ही, परब्रह्म को सगुण साकारादि के रूप में श्रुतियों ने प्रदान किया है अतएव कल्याण कामियों को पुरुषोत्तम भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम में प्रीति रखकर, उन्हें प्राप्त करने के साधन में जुटे रहना चाहिए। भाई ! पृथ्वी खरीद लेने से उसके क्षेत्रफल के ऊपर आकाश बिना खरीदे ही अपना हो जाता है, इसके विपरीत

आकाश को खरीदने से पृथ्वी अपनी नहीं हो पाती, इसलिये परमात्म-प्राप्ति का सरल साधन सगुणोपासना है, जिसका समर्थन भगवद्गीता बारहवें अध्याय में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान करते हैं ।

श्री वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत प्रथम अध्याय
का द्वितीय पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

प्रथम अध्याय का तृतीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! समस्त ब्रह्माण्डों का ऊपरी भाग व निम्न भाग तथा मध्य भाग किस आधार पर स्थित है।

वेदव्यासजी : द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१।३।१॥

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (२।२।५) में वर्णन आता है कि जिस परम तत्व में स्वर्ग, पृथ्वी और दोनों के मध्य का भाग, अन्तरिक्ष तथा पंच प्राणों समेत मन पिरोया हुआ है अर्थात् जिसके आधार में ये सब स्थित हैं, वही परब्रह्म परमात्मा है अस्तु, सबका आत्मा उसी एक पुरुषोत्तम भगवान को जानो। अन्य वार्ताओं को सर्वथा छोड़कर, उसी की चर्चा में कालक्षेप करो, अमृतानन्द प्राप्त करने का मात्र वही हेतु है क्योंकि उसके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अमृत और आनन्द के वाच्य हैं अतएव समस्त लोकों के आधार परब्रह्म परमेश्वर ही हैं, जीवात्मा व प्रकृति नहीं। जीवात्मा व प्रकृति स्वयं परब्रह्म परमात्मा रूपी आधार पर स्थित हैं और उन्हीं की सत्ता से, इन दोनों की सत्ता है। परब्रह्म बोधक 'आत्माशब्द' का प्रयोग श्रुति में होने से उक्त अर्थ स्वयं सिद्ध है जैसे, 'आम्र फल अमृत है जगत में' यह वाक्य है, इसमें आम्र शब्द के प्रयोग होने से, यहाँ आम्र के अतिरिक्त अन्य फलों को अमृततया कहने व प्रश्न करने का कोई स्थान नहीं है; इसका स्वयं सिद्ध अर्थ है कि आम्र फल को ही यहाँ अमृत कहा है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता की सिद्धि के लिये क्या कोई दूसरा हेतु भी है ?

वेदव्यासजी : मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥१।३।२॥

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (३।२।८) में कहा गया है कि जिस प्रकार

नदियाँ अपने उद्‌गम स्थान से निकलकर, अपने नाम व रूप को धारण करती हुई आगे-आगे बहती ही जाती हैं और अन्त में समुद्र से मिलकर उसी में विलीन हो जाती हैं और अपने नाम रूप का अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा, ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में अग्रसर होते हैं और अपने नाम रूप के अभि-मान से अशेष रहित होकर, सर्व श्रेष्ठातिश्रेष्ठ दिव्य परब्रह्मपुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा को, ज्ञानी पुरुषों का परम प्राप्तव्य बताया गया है इसलिये मुण्ड० उप० (२।२।५) में सबका आधारभूत परब्रह्म परमात्मा ही कहा गया है, जीवात्मा नहीं। इस मन्त्र के पूर्ववर्ती मन्त्र (प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा····) में भी जीवात्मा का परम प्राप्य परब्रह्म परमात्मा है इसलिये उसे अप्रमत्त होकर, प्राप्त करना चाहिये, इस अनुशासन से भी पर-मात्मा ही परम प्राप्य सिद्ध होता है जीवात्मा नहीं जैसे क्षुधातुर पुरुष को प्राण रक्षा के लिये अन्न क्षेत्र में अन्न ही प्राप्य वस्तु है, उसी प्रकार मोक्ष कामी को परब्रह्म परमात्मा ही परम प्राप्य है।

मुमुक्षु मुखेन प्रतिप्रश्न : मुने ! द्यौः, पृथ्वी आदि प्रकृति के कार्य हैं और कार्य का आधार कारण ही होता है, यदि यहाँ पर प्रकृति को ही सब जगत का आधार मान लिया जाय, तो क्या होगा ?

वेदव्यासजी : नानुमानमतच्छब्दात् ।।१।३।३।।

व्याख्या : इस प्रसंग में किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं मिलता जो द्यौ, पृथ्वी आदि का आधार जड़ प्रकृति को बतलाता हो, इस लिये कल्पना मात्र से जड़भूता प्रकृति को जगत का आधार नहीं माना जा सकता, वह जगत का कारण भी नही है, यह वार्ता तो प्रथम ही सिद्ध की जा चुकी है, अस्तु, अब पीसे हुये को पीसने की आवश्यकता नहीं है।

पर्वत पर लगी हुई अग्नि के धुयें को देखकर कोई नुमान करे कि पहाड़ पर बादल छाये हैं, जल वृष्टि होने ही वाली है किन्तु वहाँ बादल न होने से जल वृष्टि असंभव है, उसी प्रकार कल्पना करना कि यह जगत केवल जड़भूता प्रकृति के आधार पर स्थित होगा, सर्वथा निर्मूल है श्रुति-शास्त्र ही इस में प्रमाण हैं। अनुमान-प्रमाण की कोई स्थिति नहीं है।

मुमुक्षु मखेन : प्रभो ! प्रकृति का वाचक, वहाँ कोई शब्द न होने से, प्रकृति को सबकी आधार भूता नहीं कहा जा सकता, यह तो ठीक है किन्तु जीवात्मा का वाचक 'आत्मा' शब्द तो वहाँ आया ही है इसलिये जीवात्मा को ही, सबका आधार मान लिया जाय तो इसमें कौन सी आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : **प्राणभृच्च ॥१।३।४॥**

व्याख्या : जैसे वर्तमान प्रकरण में प्रकृति के वाचक रूप में कोई शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, वैसे ही जीवात्मा के अर्थ को प्रकट करने वाला, यहाँ कोई शब्द नहीं है, यदि यह कहो कि अन्यत्र जीवात्मा के अर्थ को बताने वाला 'आत्मा' शब्द कहा गया है तो भी यहाँ आत्मा का अर्थ जीवात्मा कदापि नहीं हो सकता क्योंकि मु० उ० (२।२।७) में 'आत्मा' शब्द के साथ 'आनन्द' और 'अमृत' आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है, जो परब्रह्म परमात्मा के स्वरूपानुरूप हैं, जीवात्मा के लिये नहीं इसलिये प्राणधारी जीवात्मा, जगदाधार नहीं कहा जा सकता जैसे, एक घोड़ा है, उस घोड़े पर एक आदमी बड़ी पोटली सिर में रखे हुये चढ़ा है, कोई कहे कि गठरी का वजन घोड़े पर नहीं है आदमी पर है, यह कहाँ तक सत्य है। अरे भाई ! गठरी ही नहीं, आदमी का वजन (भार) भी घोड़े पर है, आदमी तो अपनी अज्ञतावश, गठरी अपने शिर पर रखकर अभिमान से अभिभूत होकर कष्ट पा रहा है। इसी प्रकार जीवात्मा का आधार भी जब परमात्मा है, तब वह कैसे जगदाधार हो सकता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त वार्ता की सिद्धि के लिये क्या कोई दूसरा हेतु भी हो सकता है ?

वेदव्यासजी : **भेदव्यपदेशात् ॥१।३।५॥**

व्याख्या : उपर्युक्त प्रकरण में आये हुये 'आत्मा' शब्द को जीवात्मा का ज्ञातव्य और प्राप्तव्य कहा गया है, इससे स्पष्ट मालुम पड़ता है कि पाने वाला जीवात्मा और प्राप्त करने योग्य परमात्मा है तथा जानने वाला जीवात्मा तथा जानने योग्य परमात्मा है इसलिये जीवात्मा और परमात्मा में भेद है, मुण्ड० उप० की श्रुति सिद्धान्त से। अत: इस प्रसंग में द्युलोकादि का आधार, परब्रह्म परमात्मा को कहा गया है, जीवात्मा को नहीं, जैसे वृक्ष मूल ही शाखा-प्रशा-

खाओं और पत्तों सहित फूल-फलों का आधार है, कोई शाखा नहीं क्योंकि मूल और शाखा में गुण कृत व शक्ति कृत भेद है।

मुमुक्षु मुखेन : हे देव ! जीवात्मा और जड़ प्रकृति दोनों ही द्युलोकादि जगत के आधार नहीं है, इसकी सिद्धि के लिये कोई अन्य कारण भी उपस्थित किये जा सकते है ?

वेदव्यासजी : **प्रकरणात् ॥१।३।६॥**

व्याख्या : यहाँ परब्रह्म परमात्मा का प्रकरण चल रहा है, अस्तु, श्रुति भगवती परब्रह्म विषयक विशेषणों के द्वारा, मात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की महिमा का ही वर्णन कर रही है अन्य का नहीं इसलिये प्रसंगानुसार यहाँ परब्रह्म परमात्मा को ही स्वर्गलोकादि जगत-समुदाय का आधार कहा गया है, जीवात्मा प्रकृति को नहीं। उक्त श्रुति के प्रथम व अन्त के मन्त्रों में, परब्रह्म परमात्मा को सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वकारण,, सर्वात्मा, सर्वनियन्ता तथा प्रकृति से परे व जीवात्मा से भिन्न और विलक्षण कहा गया है इसलिये सर्वजगत के आधार परब्रह्म परमात्मा ही हैं, अल्पज्ञ एवं अल्प सामर्थ्यवाला जीवात्मा तथा जड़भूता प्रकृति, स्वर्ग व पृथ्वी आदि लोकों के आधार कदापि नहीं हो सकते। जैसे, पृथ्वी है और उस पर मजबूत नींव देकर बड़े-बड़े भवन व नगर बनाये गये हैं किन्तु भवनों का आधार नींव व अन्य साधन सामग्रियाँ नहीं हैं अपितु उन भवनों का आधार पृथ्वी है, ऐसे ही सर्वाधार परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसके अतिरिक्त भी कोई हेतु हो सकता है ?

वेदव्यासजी : **स्थित्यदनाभ्यां च ॥१।३।७॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।६) की श्रुति में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···· ।" कहा गया है कि एक साथ सख्य भाव से सदा रहने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर निवास किया करते हैं, किन्तु उन दोनों में एक (जीवात्मा) वृक्ष फलों (शरीर से किये गये पाप-पुण्य रूप कर्मों के फल स्वरूप सुख दुःखो) को आसक्ति पूर्ण स्वाद ले-लेकर खाता है और दूसरा (परमात्मा) उपभोग

न करता हुआ अनासक्त भाव से केवल साक्षीतया देखता रहता है। जीवात्मा को कर्म फलों का भोक्ता तथा परमात्मा को साक्षी मात्र होकर, शरीर में स्थित रहने वाला बताने से, स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा और परमात्मा में भेद है इसलिये इस चराचर जगत का आधार परब्रह्म परमात्मा ही सिद्ध होता है जैसे एक पिता की बहुत सी संताने हैं, उनका आकार प्रकार भी बड़े होने पर पिता के सदृश हो गया। किसी पुरुष को जिज्ञासा उत्पन्न हो गई कि इनमें सबको उत्पन्न करने वाला पिता कौन है, किसी के द्वारा पितृ-कार्य एवं गुण का परिचय जिसमें पाया गया, उसी को वह जिज्ञासु सबका उत्पादक पिता समझ लेता है क्योंकि पितृ-कार्य में भेद होने से, पिता-पद में स्थित रहने वाले को, भली-भाँति समझ लेने में कोई संशय नहीं रहता।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! छान्दोग्योपनिषद के सातवें अध्याय में श्री सनत्कुमारजी ने नारदजी से, शरीर संस्थित तत्वों में सबसे श्रेष्ठ प्राण को बताकर, उसी की उपासना करने के लिये निर्देश दिया है, जिसे श्रवणकर श्री नारदजी संशयहीन की तरह पुनः प्रश्न नहीं किये, तदनुसार सबसे बड़ा प्राण है, जिसे भूमा व आत्मा भी कहते हैं अतएव पूर्व प्रकरण में भी सबका आधार प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा को मान लेने पर कौन हानि है ?

वेदव्यासजी : भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥१।३।८॥

व्याख्या : उक्त प्रकरण में 'भूमा' का अर्थ सबसे बड़ा होता है और सबसे बड़े को 'ब्रह्म' कहा जाता है। 'बृहत्वात् ब्रह्म' 'बृहणत्वात ब्रह्म' व्युत्पत्ति के अनुसार स्पष्ट है, 'भूमा' शब्द सत्य ज्ञानानन्द घनैक रस परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का ही वाचक है, जिसे प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा से बहुत बड़ा कहा है, अतः इस प्रसंग में भूमा शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है। प्राण, जीवात्मा व प्रकृति का बोधक नहीं है। नारदजी के न पूछने पर भी, सनत्कुमार जी ने सत तत्व को समझकर अतिवाद नहीं करना चाहिये यह कहकर सुख स्वरूप भूमा को अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर को सबसे महान बतलाकर, प्रकरण की इति की है इसलिये सबका आधार परब्रह्म परमात्मा ही है, प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा नहीं। जैसे, यह कहा जाय कि एक गिरधारी महापुरुष ने इन्द्र-कोप से की हुई, वर्षा से ब्रजवासियों की रक्षा की, अतः बहुत से अन्य लोगों के द्वारा पर्वत खण्ड उठाये जाने पर भी, यहाँ गिरधारी के अर्थ में, भगवान कृष्ण को ही समझना

चाहिये अन्य को नहीं क्योंकि यह कार्य उन्हीं का है और उनसे बड़ा सामर्थ्यशाली भी कोई नहीं है जो इच्छा मात्र से एक कनिष्टिका अँगुली पर, पूरे पर्वत को धारण कर सके, उसी प्रकार उक्त अर्थ को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! भूमा के धर्म क्या जीवात्मा में नहीं घटित होते ?

वेदव्यासजी : **धर्मोपपत्तेश्च ॥१।३।६॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (७।२४।१) 'यत्र नान्यत् पश्यति ......' में वर्णन मिलता है कि जिसको प्राप्तकर, अन्य के देखने, सुनने और जानने की जिज्ञासा का बीज समाप्त हो जाता है, (जल जाता है) वही भूमा है। जहाँ (भूमा से अन्य) अन्य को देखना, सुनना और जानना होता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है वही मृत (विनाशशील) है, उसी संदर्भ में नारद जी का प्रश्न है कि भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर में श्री सनत्कुमार जी ने कहा कि भूमा अपनी अनिर्वचनीय एवं अनंत महिमा में प्रतिष्ठित है, वह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें, सब ओर परिपूर्णतया प्रतिष्ठित है तथा वही सब कुछ है, सबका आधार भूत है। भूमा ही आत्मा है, जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वही आत्म ज्ञानी है, आत्मा रमण है तथा आत्म योगी, आत्म-केलि निरत और आत्मानन्दी है, इत्यादि। इन सब धर्मों की संगति, सब धर्मों के धर्मी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में ही लग सकती है, अतः भूमा नाम से परब्रह्म परमात्मा को ही, इस प्रकरण में कहा गया है, अन्य को नहीं। अध्यापक के धर्म जैसे अध्यापक ही में घट सकते हैं, विद्यार्थी व अध्ययन और अध्यापन कार्य साहाय्य सामग्रियों में नहीं, वैसे ही भूमा के धर्म भूमावाच्य परब्रह्म में ही घट सकते हैं, जीवात्मा में नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जो धर्म भूमा के वर्तमान प्रकरण में कहे गये हैं, वही धर्म वृहदारण्यकोपनिषद (३।८।७) में 'अक्षर' के बताये गये हैं, अक्षर शब्द प्रणव (ॐ) का भी वाचक है, जानने की जिज्ञासा है कि यहाँ अक्षर शब्द किसका वाचक है ?

वेदव्यासजी : **अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१।३।१०॥**

व्याख्या : बृहदारण्यक (३।८।६-७-८) में गार्गीजी के प्रश्न के उत्तर में,

श्री याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि ऊपर व नीचे के लोक तथा भूत-भविष्य और वर्तमान काल, ये सबके सब आकाश में ओत-प्रोत हैं और आकाश जिस तत्व में ओत-प्रोत है, उसे ब्रह्मवेत्ता लोग अक्षर कहते हैं, जो कि न स्थूल है न सूक्ष्म है, न छोटा है न बड़ा और न लाल है न पीला अर्थात् इन विशेषणों से परे और विलक्षण है। इस प्रकार वह 'अक्षर' आकाश पर्यन्त सबको धारण करने वाला बतलाया गया है अतएव यह अक्षर नाम से परब्रह्म परमात्मा का ही वर्णन है, अन्य का नहीं जैसे, गुरु शब्द भगवान, हरि, शंकर, ब्रह्म-विद्या-प्रदाता और भारीपन के अर्थ में ग्रहण किया जाता है किन्तु प्रकरण के अनुसार 'ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बताने के प्रसंग में' उपदेष्टा के अर्थ में गुरु शब्द का ग्रहण उचित है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जो प्रकृति को कारण मानते हैं, उनके विचार में यहाँ 'अक्षर' शब्द प्रकृति का वाचक हो सकता है क्योंकि कारण ही अपने कार्यों को धारण करता है। शंका शमन करने की महती कृपा हो।

वेदव्यासजी : **सा च प्रशासनात् ॥१।३।११॥**

व्याख्या : (बृहदारण्यक उप० ३।८।९) में 'अक्षर' को सबपर सर्वाङ्गीण शासन करने वाला एवं आकाश पर्यन्त सबको धारण करने वाला बताया गया है। यह कार्य जड़भूता प्रकृति का होना असंभव है इस लिये ब्रह्मविद् वरिष्ठ श्री याज्ञवल्क्य जी के निर्णय के अनुसार, चराचर सबका शासक तथा धारक अक्षर तत्व परब्रह्म परमात्मा ही है, प्रकृति तो स्वयं क्षर है, वह अक्षर कैसे कही जा सकती है। परिणामशील तत्व सबका शासक और धारक नहीं हो सकता जैसे धरा ही बन, पर्वत, समुद्र, सरिता, मनुष्यादि प्राणियों को गौण रूप से धारण करती है किन्तु धारण किये जाने वाले वन आदि को धारक कहने से अनर्थ ही का दर्शन होगा, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा को शासक व धारक न कहकर, प्रकृति को कहना अतिवाद व अनर्थ है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! क्या उक्त विषय की सिद्धि के लिये कोई अन्य हेतु भी, कृपा कर कहा जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **अन्यभावव्या वृत्तेश्च ॥१।३।१२॥**

व्याख्या : बृहदा० उप० (३।८।११) में श्री याज्ञवल्क्यजी ने कहा है कि

वह 'अक्षर' किसी के नेत्र, श्रवण, मन और ज्ञान का विषय नहीं है परन्तु वह सबको देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और जानने वाला है, इसके विपरीत प्रकृति सबके देखने, सुनने, मनन करने और जानने में आने वाली है इसलिये 'अक्षर' में प्रकृति धर्मों की शून्यता होने से 'अक्षर' शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है और वही यहाँ का प्रतिपादित विषय है। विनाशशील प्रकृति के अर्थ में कदापि उसका ग्रहण नहीं हो सकता जैसे विष्णुदेव नाम का कोई पुरुष है और पुरुष शब्द के अर्थ के अनुसार, उसमें पौरुषेय ही नहीं, अपौरुषेय कार्य भी होते देखे जाते हैं, उसे लोग कभी-कभी पद्म हाथ में लेने के कारण 'पद्मधर' भी कहते हैं, कभी अति दुलार के कारण 'पद्म' भी कहते हैं, अब विचार करो कि यदि विष्णु देव के सामर्थ्य एवं कार्य कुशलता को देखकर कोई कह दे कि पद्म ने यह अमानुष कार्य किया है, तो क्या इसके अर्थ में प्रकृति प्रदेश में प्रकट सरोज (कमल) को ग्रहण करना उचित है ? बिलकुल नहीं, यह तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रश्नोपनिषद में (५।२।७) ॐकार अक्षर के अर्थ ध्यान से परब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों के प्राप्ति अर्थ में ग्रहण किया गया है क्या ? यदि हाँ तो अक्षर का अर्थ, अपर ब्रह्म भी माना जा सकता है, या नहीं ?

वेदव्यासजी : ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥१।३।१३॥

व्याख्या : प्रश्नोपनिषद में कहा गया है कि जो त्रिमात्रिक (अ+उ+म) ओंकार रूप अक्षर के द्वारा तदर्थ भावना स्वरूप परम पुरुष का निरन्तर ध्यान करता है, वह सर्प-केचुली की भाँति समस्त पापों से संप्रमुक्त होकर, तेजोमय सूर्यलोक में जाता है, तत्पश्चात् सामवेदीय श्रुतियों द्वारा ब्रह्मलोक में पहुंचाया जाता है तथा जीव समुदाय रूप परतत्व से परम श्रेष्ठ सबके अन्तर्वर्ती आत्मा पुरुषोत्तम भगवान को साक्षात् कर लेता है अर्थात् परमधाम में पहुंचकर, पुरुषोत्तम भगवान का साहचर्य प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रश्नोपनिषद के मन्त्र में, त्रिमात्रिक ॐ के द्वारा ध्यान कर, जिसको प्राप्त करना कहा गया है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है, अपर ब्रह्म नहीं क्योंकि उसको हिरण्य गर्भ रूप अपर ब्रह्म (जीव समुदाय) से अति श्रेष्ठ कहा गया है और मन्त्र में आई हुई 'ईक्षते' क्रिया का कर्म कहा गया है जैसे रामदत्त नाम का एक राजा है जो राजोचित महिमा से महिमान्वित है, वही एक रंगमंच पर एक सिपाही का वेष धारण कर, अपना पाठ करने लगा। किसी ने पहचानकर लोगों से कहा कि यह राजा साहब ही हैं।

अब विचार करो कि जहाँ राज-ऐश्वर्य से युक्त सिंहासन पर बैठे हुये, राजा का वर्णन करके, उसकी आधीनता को स्वीकार करने की चर्चा हो रही हो, वहाँ सिपाही बने राजा की (सिपाही स्वरूप) चर्चा नहीं समझनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त वर्णन में मनुष्य-शरीर रूपी पुर में शयन करने वाले पुरुष को, परब्रह्म परमात्मा माना गया है किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (८।१।१) में, ब्रह्म पुर स्वरूप मनुष्य शरीर में कमलाकार एक गृह (हृदय) है, उसमें सूक्ष्म आकाश है और आकाश स्थित जो वस्तु विशेष है, वह परम ज्ञेय है अतएव जिज्ञासु को उसे जानने की इच्छा करनी चाहिये, अस्तु, कृपा कर यह बतायें कि यहाँ 'दहर' नाम से किस तत्व का निर्देश किया गया है ?

वेदव्यासजी : **दहर उत्तरेभ्यः ।।१।३।१४।।**

व्याख्या : छान्दों० उप० के इस वर्णन में, जिसे ज्ञेय कहा गया है, उस 'दहर' शब्द का अभिप्राय परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही हैं क्योंकि आगे के मन्त्रों में, समस्त ब्रह्माण्डों को दहर के भीतर ही स्थित बताया गया है तथा दहर को आत्मा, पापशून्य, अजर,अमर अशोक, भूख-प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प आदि अष्टगुणक कहा गया है, आगे बताया गया है कि यही अत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म है, इसी को सत्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दहर नाम से परब्रह्म परमात्मा को ही परम ज्ञातव्य कर, श्रुति भगवती ने निर्देश किया है, जैसे कपि कहकर कवि के वर्णन में महावीर, बाल ब्रह्मचारी, वेदज्ञ, मनोजव, मारुततुल्य वेगी, जितेन्द्रिय, महाबुद्धिमान आदि विशेषण आये हों, तो कपि शब्द का लक्ष्य, अंजनी नन्दन श्री हनुमान जी ही समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से उक्त सिद्धान्त को सिद्ध करने की कृपा की जाय।

वेदव्यासजी : **गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिङ्गं च ।।१।३।१५।।**

व्याख्या : छान्दों० उप० (८।३।२) में वर्णन मिलता है कि प्रतिदिन सुषुप्ति समय में सम्पूर्ण जीव, इस ब्रह्म लोक को जाते हैं किन्तु अज्ञान से आवृत

माया-मोहित जीव उसे नही जानते। इस वाक्य में जीव का गमन (गति) प्रतिदिन ब्रह्मलोक में होता है, वर्णन है तथा उस दहर को ब्रह्मलोक कहने का अर्थ दहर को, ब्रह्मलोक का वाचक बताना है, ब्रह्मलोक ही ब्रह्म है इसलिये उक्त दोनों कारणों से सिद्ध होता है कि यहाँ दहर शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, अन्य का नहीं, जैसे बालक पढ़ने के समय प्रतिदिन शाला जाता है किन्तु वहाँ के प्रधान महोदय के प्रभाव को बालक होने से नहीं जानता। वे प्रधान महोदय बालकों को सुन्दर सुरीति और प्रीति के साथ पढ़ाते हैं। अब यहाँ प्रधान महोदय, प्रधानाध्यापक का जैसे वाचक है, वैसे ही उक्त अर्थ को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! उपर्युक्त वार्ता की सिद्धि के लिये कोई अन्य हेतु भी हो तो, उसे कहने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१।३।१६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।४।१) में कहा गया है कि यह जो आत्मा है वही दृश्यमान सम्पूर्ण लोकों का धारक सेतु है, एवं प्रकारेण 'दहर' शब्द वाच्य आत्मा में अनन्त ब्रह्माण्डों के धारण करने की शक्ति का सम्यक् प्रकार से वर्णन संप्राप्त होने के कारण 'दहर' शब्द यहाँ, परब्रह्म पुरुषोत्तम का ही वाचक है, अन्य श्रुतियों में भी परब्रह्म परमेश्वर में ऐसी अचिन्त्य महिमा के होने में पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं। बृहदारण्यकोपनिषद (३।८।९) तथा (४।४।२२) में देखा जा सकता है कि परब्रह्म परमात्मा में ही, सबको धारण-पोषण करने की सहज शक्ति है, अन्य में नहीं। इसलिये यहाँ दहर शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है, जैसे अन्यत्र अप्राप्य गुण वाले भद्रमणि नाम के नरेश हैं, उनके कई उपनाम हैं जो उनके सम्बन्धियों एवं प्रेमियों और प्रजागणों के मुख से कहे जाते हैं, ठीक है किन्तु किसी उपनाम के साथ अन्यत्र अप्राप्य गुणों का वर्णन करने से समझने वाले उस उपनाम के वाच्य महाराज भद्रमणि को ही समझेंगे क्योंकि अन्यत्र अप्राप्य गुण भद्रमणि में ही हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! उक्त वार्ता की पुष्टि का कोई और अन्य हेतु भी है?

वेदव्यासजी : **प्रसिद्धेश्च ॥१।३।१७॥**

व्याख्या : श्रुति में दहराकाश नाम मिलता है और आकाश शब्द

परमात्मा के अर्थ में उपनिषदों में लिया गया है, यह प्रसिद्ध वार्ता है। तैत्तरीय उप० (२।७।१) छान्दो० उप० (१।६।१) में देख सकते हैं, इसलिये भी दहर शब्द के वाच्य परब्रह्म परमात्मा ही हैं, किसी गाँव में मोहनलाल की प्रसिद्धि 'मुखिया' नाम से है अतः कोई दूसरा व्यक्ति मुखिया नाम से, मुखिया शब्द वाच्य मोहनलाल के ही समीप पहुंचकर, अपने प्रयोजन की सिद्धि करेगा।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! 'दहर' शब्द से जीवात्मा का ग्रहण क्यों नहीं किया जा सकता ?

वेदव्यासजी : **इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥१।३।१८॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।१।५) की श्रुति में, नाम मात्र संकेत के मिलने से दहर का अर्थ, जीवात्मा कदापि नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्र में 'सत्य संकल्प' आदि लक्षण परब्रह्म परमात्मा ही में घटित होते हैं, जीवात्मा में होना असंभव है इसलिये यहाँ दहर शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही बोधक है, अन्य का नहीं। जैसे रामदत्त नामक पुरुष में दैवी सम्पदा के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं किन्तु देवदत्त में कुछ ही गुण ऐसे हैं, जो रामदत्त से आंशिक रूपेण मिलते हैं, अब विचार करें कि जहाँ पूरा नाम न लेकर कहा जाय कि धन्य है दत्तजी को, जिनमें दैवी सम्पदा के सभी गुणों का दर्शन होता है, वहाँ 'दत्त' से रामदत्त का ही ग्रहण होगा, देवदत्त का नहीं क्योंकि देवदत्त में सर्व गुण हैं ही नहीं। वैसे ही उक्त प्रकरण में दहर शब्द परब्रह्म का वाचक है, जीवात्मा का हो ही नहीं सकता।

मुमुक्षु मुखेन : छान्दो० उप० के (८।१।५) उत्तर वर्णन से भी, जीवात्मा के अर्थ में दहर शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है।

वेदव्यासजी : **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१।३।१९॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।३।४) में कहा गया है कि जो यह संप्रसाद (जीवात्मा) है, शरीर से उत्क्रमण कर परम ज्योति (परब्रह्म) को प्राप्तकर, शुद्ध स्वरूप हो जाता है, यह आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म विशेषणों से युक्त हो जाता है, ऐसा आचार्य ने कहा है। परब्रह्म के ये विशेषण निज सहज स्वरूप की

सिद्धि प्राप्त कर लेने पर अर्थात् नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध और असंग हो जाने पर, जीवात्मा के जोड़े गये हैं इसलिये उक्त मन्त्र के आधार पर मायाबद्ध देहाभिमानी जीवात्मा का वाचक 'दहर' शब्द को कदापि नहीं कहा जा सकता जैसे कोई भिक्षुक पूर्व संस्कारानुसार राज्य पद को प्राप्त कर लिया और राज-विशेषणों से युक्त, उसके यश का बखान बन्दी जन करने लगे तो इसका अर्थ यह नहीं कि ये राज-विशेषण सभी भिखारियों के साथ जोड़े जा सकते हैं। अरे भाई। भिखारी और राजा में जैसा अन्तर है वैसे ही संसारी जीव और पुरुषोत्तम भगवान में है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यदि ऐसा ही है तो जीवात्मा को लक्ष्य करके तदर्थ बताने वाले शब्दों का प्रयोग मन्त्र में क्यों लिया गया ?

वेदव्यासजी : **अन्यार्थश्च परामर्शः ॥१।३।२०॥**

व्याख्या : पूर्वोक्त प्रकरण में दहर शब्द वाच्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का अपरोक्ष पूर्ण ज्ञान हो जाने पर, जीवात्मा भी भगवान के गुणोंवाला हो जाता है अर्थात् रूप, गुण, वैभव प्राप्त कर, ब्रह्म की त्रिसाम्यता का अनुभव करता है। यह भाव एवं परमात्मा ज्ञान का फल तथा परमात्म-प्राप्त जीव के सहज सिद्ध स्वरूप का लक्षण प्रदर्शित करने के लिये ही यहाँ जीवात्मा का वर्णन उक्त श्रुति में, उक्त रूप से किया गया है। भगवद्गीता (१४।२) में भी ऐसी ही वार्ता कही गई है इसलिये उपर्युक्त प्रकरण में जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन आ जाने मात्र से, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'दहर' शब्द जीवात्मा का वाचक है जैसे, सोमशर्मा के कतिपय गुणों का स्मरण कर, यह कहा जाय कि पुत्र चन्द्रशर्मा भी पढ़ लिखकर सोमशर्मा हो गया है, इसका अर्थ यह नहीं कि चन्द्रशर्मा का वाचक सोमशर्मा है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! दहर को बहुत छोटा कहा गया है इसलिये यहाँ अणु स्वरूप जीवात्मा ही दहर का वाच्य मानना, क्या ठीक नहीं है ?

वेदव्यासजी : **अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥१।३।२१॥**

व्याख्या : इसका उत्तर प्रथम सूत्र (१।२।७) में दे दिया गया है अतएव बारम्बार पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है और न शंका ही करनी चाहिये।

अति प्रश्न और अतिवाद से श्रोता के स्वरूप की हानि होती है जैसे, किसी के पूछने पर उत्तरदाता ने बता दिया कि यह राजा है और यह राज सेवक है अत-एव उत्तर पर विश्वास कर, उक्त वार्ता ग्रहण कर लेनी चाहिये। बार-बार उसी से उक्त प्रश्न करना, उस पर विश्वास न रखना धृष्टता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से क्या समझाया जा सकता है, जिससे की हुई शंका का समाधान हो जाय।

वेदव्यासजी : अनुकृतेस्तस्य च ॥१।३।२२॥

व्याख्या : तैत्त० उप० (२।६) छान्दो० उप० (६।३।३) कठो० उप० (१।३।१) में परमात्मा को जीवात्मा का अनुकरण करने वाला अर्थात् कर्म वशात् जीवात्मा को शरीर प्रवेश करते देखकर, अनासक्त भाव से सहकारितया साक्षी स्वरूप, उसके साथ शरीर में प्रवेश कर हृदय गुफा में रहने वाला बताया गया है, इसलिये परमात्मा को अंगुष्ठ मात्र हृदय में रहने से अल्प परिमाण वाला कहना, उसके स्वरूपानुकूल ही है। इसी कारण श्रुतियाँ स्थान-स्थान पर परमात्मा को अणोरणीयान और महतोमहीयान कहकर तन्निरूपण करती हैं। एक पिता अपने पुत्र की मस्तिष्क अस्वस्था को देखकर, जहाँ-जहाँ बालक जाता है, वहाँ-वहाँ वह वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर स्वयं जाता है, किन्तु न उसको मस्तिष्क की बीमारी है और न जहाँ जाता है, वहाँ से आसक्ति है, परन्तु पुत्र के पीछे-पीछे चलता है। अस्तु, पिता महान आशय वाला और स्वस्थ है, पुत्र पागल व अल्प आशय वाला है इसलिये पितृपद-बोधक व उसके गुण स्मारक शब्द पिता के ही वाचक होंगे, पुत्र के नहीं; हाँ, पुत्र के साथ नीच गृह में रहने के कारण, उसे भी नीच गृह निवासी कहा जाय तो अनुचित नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में क्या कोई अन्य स्मृति आदि के भी प्रमाण प्राप्त होते है ?

वेदव्यासजी : अपि च स्मर्यते ॥१।३।२३॥

व्याख्या : गीता पुरुषोत्तम भगवान की श्रीमुख वाणी है, उसमें अनेक स्थलों में बताया गया है कि परब्रह्म परमात्मा सबके हृदय में प्रतिष्ठित हैं इसलिये

अणोरणीयान, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को छोटे स्थान में रहने से उपेक्षाकृत छोटे आकार वाला कहना उचित ही है, अतः दहर शब्द परमात्मा का ही वाचक है, जीवात्मा का नहीं। किसी योगी को जैसे हाथी के शरीर में प्रवेश करने से हस्तिकाय और पिपीलिका के शरीर में प्रवेश करने से पिपीलिका काय कह देना अनुचित नहीं है क्योंकि वह परकाय प्रवेश की सिद्धि हस्तामलक किये हुये हैं, ठीक इसी प्रकार अणोरणीयान और महतोमहीयान अपरिछिन्न परब्रह्म को सबसे छोटा व सबसे बड़ा कह देना कोई अनुचित नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! कठोपनिषद (२।१।१२-१३) और (२।३।१७) में जिसे अंगुष्ठ के बराबर कहा गया है, वह परमात्मा है या जीवात्मा ?

वेदव्यासजी : **शब्दादेव प्रमितः ॥१।३।२४॥**

व्याख्या : कठोपनिषद की श्रुति भगवती अपने शब्दों से ही यह सिद्ध करती है कि अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला परब्रह्म परमात्मा ही है क्योंकि उक्त प्रकरण के मन्त्रों में बताया गया है कि अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला परम पुरुष सबके हृद्देश में स्थित है। वह निर्धूम अग्नि शिखा के समान एक रस है, वह तीनों कालों का शासक है अर्थात् सभी देव, ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी स्वरूप चराचर जगत उसके शासन से ही अपना-अपना कार्य करते हैं। वह स्वतन्त्र निरंकुश शासक व स्वराट है। वह आज भी है और कल भी रहेगा अर्थात् वह नित्य सनातन अविनाशी है, अस्तु, आगे के मन्त्रों में उस विशुद्ध अमृत स्वरूप परम ज्ञातव्य तत्व को जानने का आदेश दिया गया है इसलिये कठो० उप० में अंगुष्ठ मात्र कहा जाने वाला पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! परब्रह्म परमात्मा को अंगुष्ठ प्रमाण माप वाला बताने का क्या अभिप्राय है ?

वेदव्यासजी : **हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥१।३।२५॥**

व्याख्या : उपनिषदों से निर्दिष्ट ब्रह्म विद्या के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है। मनुष्येतर पशु-पक्षी आदि अधम योनियों को नहीं क्योंकि उनमें बुद्धि का विकास एवं वैशद्य नहीं

होता और बुद्धि की सूक्ष्मावस्था के बिना ब्रह्म का परोक्ष दर्शन भी असंभव है, चूँकि मनुष्य के हृदय की नाप अंगुष्ठ के बराबर कही गई है, इस कारण से मनुष्य-हृदय के प्रमाण की अपेक्षा से परब्रह्म परमात्मा को यहाँ अंगुष्ठ मात्र पुरुष बताया गया है, वैसे सर्वसमर्थ प्रभु चींटी में चींटी के हृदय के बराबर और हाथी में हाथी के हृदय के बराबर स्थित होकर, प्राणि मात्र के अन्तर्यामी आत्मा कहे जाते हैं जैसे मत्स्य भगवान मनु की अंजली में, अंजली के बराबर, कूप, तालाब और नदी में तदाकार वाले होकर स्थित रहे तथा समुद्र में समुद्र-प्रमाण होकर, राजा को दर्शन दिये थे वैसे ही उक्त प्रकरण में मनुष्य हृदय के माप के बराबर अंगुष्ठ मात्र होकर, रहने की स्थिति परब्रह्म परमात्मा की बताई गई है।

मुमुक्षु मुखेन : उपर्युक्त सूत्र में ब्रह्म विद्या के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार केवल मनुष्य मात्र को बताया गया है, तो क्या मनुष्येतर कोई भी प्राणी ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं है ?

वेदव्यासजी : **तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥१।३।२६॥**

व्याख्या : मनुष्य से नीचे की योनियों में वेद पढ़ने व ब्रह्म प्राप्त करने की क्षमता नहीं है क्योंकि उनमें न बुद्धि है और न बोलने व समझने की शक्ति ही है इसलिये उन्हें अनाधिकारी कहना उचित ही है किन्तु देव योनि, मनुष्य योनि से ऊपर व श्रेष्ठ होती है। वेद-विहित धर्म-कर्म व ज्ञान के अनुष्ठान से मनुष्य, देव योनि प्राप्त करते हैं इसलिये पूर्वाभ्यास से उनमें ब्रह्म-विद्या द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति स्वभाव सिद्ध है, अस्तु, साधन द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेना देवताओं को भी संभव है अतएव मनुष्य से ऊपर की योनि में ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, यह सूत्रकार का कथन है। जैसे, मानुष भोग, मनुष्येतर पशु-पक्षियों के लिये अति दुर्लभ ही नहीं अपितु अप्राप्य हैं क्योंकि उनमें मानुष भोग भोगने की सामर्थ्य नहीं है किन्तु मनुष्य योनि से ऊपर की योनि जो देवयोनि है, उसमें मानुष भोग का भोक्ता बनना संभव है क्योंकि प्रथम मानुष भोगों का अनुभव उन्हें था। वैदिक धर्म-कर्म का अनुष्ठान करके ही वे मनुष्य से देवता हुये हैं, अस्तु, पूर्वाभ्यास से वासना होने पर देवयोनि से पुण्यक्षीण-काल के पश्चात् मनुष्य होकर, उन्हें मानुष भोग भोगना संभव है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान विषयक वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! देवता लोगों को शरीरधारी मान लेने से तो यज्ञ कर्म में विरोध उत्पन्न हो जायगा, समझाने की कृपा हो क्योंकि मनुष्यवत देहाकृति होने से, वे एक देशीय हो जायेंगे जिसके कारण अनेक-अनेक देशों में अनेकानेक यज्ञकर्त्ताओं द्वारा एक ही साथ यज्ञ आहुतियाँ, उन्हें समर्पित होने पर यज्ञ भुक् देवता अपना भाग ग्रहण न कर सकेंगे ?

वेदव्यासजी : **विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥१।३।२७॥**

व्याख्या : देवताओं में एक ही साथ बहुत से विग्रह धारण करने की शक्ति स्वाभाविक होती है, वे अपनी इच्छा से अनेक शरीर धारणकर, एक ही साथ अनेकानेक याज्ञिकों की दी हुई, हवि को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते हैं। मृत्यु लोक में एक योगी जब एक ही साथ अनेक शरीर धारण कर सकता है तब देवताओं के विषय में शंका करना, अश्राद्धलु, अविश्वासी और शंकालु हृदय की ही उपज मानी जायगी। बृहदारण्यकोपनिषद (३।६।१-२) में याज्ञवल्क्यजी ने, शाकल्यजी से कहा है कि ये एक-एक देवता ही, अनेक-अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार श्रुति, देवताओं में अनेक-अनेक रूप एक साथ धारण करने की शक्ति का समर्थन करती है इसलिये कोई विरोध की संभावना ही नहीं है जैसे एक ही धव नामक वृक्ष के बहुत से स्तम्भ एक यज्ञ में लगाये गये किन्तु सब स्तम्भ धव के ही कहलाते हैं, अन्य के नहीं, ऐसे ही एक देव से बहुत से रूप बन जाते हैं, उन्हीं की महिमा से किन्तु सब उसी देव के नाम से कहे जाते हैं, जिस देवता के संकल्प से स्वयं के सदृश बहुत से रूपों का निर्माण होता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! देवताओं को शरीर धारी मानने से उन्हें अनित्य और परिणामी मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में वेदोक्त सभी देवता विनाशशील और अनित्य होंगे तब वेद को प्रमाणभूत एवं नित्य मानने में विरोध उत्पन्न होगा। अतएव इस संशय का शमन हो जाय तो बहुत अच्छा हो।

वेदव्यासजी : **शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥१।३।२८॥**

व्याख्या : उपर्युक्त शंका करने का यहाँ कोई स्थान नहीं है क्योंकि वेद में कहे गये शब्दों से ही देवताओं तथा जगत की सृष्टि होती है। इसमें प्रत्यक्ष

(वेद) और अनुमान (स्मृति) प्रमाण हैं। वेदों में बताया गया है कि इस प्रकार के रूप, गुण, शक्ति, वैभव और कार्य से सम्पन्न अमुक देवता होंगे तद्नुसार प्रथम देवताओं के वेदोक्त अर्थ का चिन्तन करके सृष्टि समय (कल्प के आदि में) उनके रूप का आविर्भाव, सृष्टि कर्ता किया करते हैं। कल्पान्त में सृष्टि लय हो जाती है और पुनः दूसरे कल्प के प्रारम्भ में उसी रूप, गुण, वैभव वाले वही देवता उत्पन्न किये जाते हैं। कल्प-कल्प में जीव भले बदल जाय पर देवों के नाम-रूपादि नहीं बदलते। प्रत्येक कल्प में वेदाज्ञानुसार एक ही रूप, गुण, शक्ति, शीलादि वैभव वाले एक ही नाम के देवता उत्पन्न होते हैं जैसे, इन्द्र, वरुण, कुबेर, पवन, अग्नि इत्यादि देव नाम प्रत्येक कल्प में रहेगा। उनकी सामर्थ्य भी वेदोक्त ही रहेगी। हाँ, जीव बदलते रहते हैं यथा अगले कल्प में बलि, इन्द्र होंगे इसलिये उक्त शंका अप्रासङ्गिक है क्योंकि अनादि काल से देवताओं का आधार व कारण वेद हैं, वेद का आधार देवता नहीं हैं अतएव देवताओं के शरीर धारण करने से वेद अनित्य व अप्रामाणिक नहीं हो सकते यथा एक कुशल कारीगर यह निश्चय करता है कि प्रत्येक मंगल की बाजार में अमुक काठ के अमुक अमुक खिलौने, अमुक-अमुक बनावट के बनाकर ले जाया करूँगा। संकल्पानुसार कारीगर का कार्य शुरू हो गया। उसकी प्रभावोत्पादक कला, जन-जन के मन को मुग्ध करने वाली सिद्ध हुई किन्तु बनाये हुये लकड़ी के खिलौने अधिक दिन नहीं ठहरते थे, यदि कोई कहे कि लकड़ी के खिलौनों के नष्ट होने से, कारीगर के मनोद्भूत खिलौनों का ज्ञान भी नष्ट हो गया होगा अतः उसके कलाकारी का कोई प्रमाण न रह जायगा, ऐसी शंका करना जैसे केवल अज्ञान मूलक है वैसे ही उपर्युक्त वार्ता के विषय में भी समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : तो क्या उक्त कथनानुसार ही वेदों की नित्यता सिद्ध होती है ?

वेदव्यासजी : **अतएव च नित्यत्वम् ।।१।३।२९।।**

व्याख्या : सृष्टि रचयिता, वेदों के शब्दों के अनुसार ही देव व देवलोकादि समस्त लोकों की रचना किया करता है, यह श्रुति-स्मृतियों का कथन स्वतः वेदों की नित्यता सिद्ध करता है ; यह कहीं प्रमाणभूत वाक्य नहीं मिलते कि प्रत्येक कल्प में परमात्मा वेदों की नवीन रचना किया करता है अतएव वेद अपौरुषेय

नित्य और जगत का कारण है जैसे जब से वाणी है तब से उसका अर्थ है अर्थात वाणी के साथ ही अर्थ प्रकट होता है वैसे ही जब से ब्रह्म है तब से ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला वेद है। ब्रह्म शब्द वेद का पर्याय है इसलिये जब से ब्रह्म है तब से वेद हैं। ब्रह्म अनादि और नित्य तथा अपरिणामी है तदनुसार वेद भी अनादि, नित्य और अपरिणामी हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! तो कल्प-कल्प में एक ही नाम रूप वाले देवता रहते हैं, कल्प भेद से उनमें नाम-रूप का भेद तो होना चाहिये। यदि भेद होता है तो वेदोक्त वाणियों की नित्यता कैसे सिद्ध होगी ?

वेदव्यासजी : **समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।।१।३।३०।।**

व्याख्या : किसी कल्प के अनन्तर दूसरे कल्प में उत्पन्न होने वाले देवताओं के नाम रूप पूर्व कल्प के समान ही होते हैं इसलिये पुनः पुनः आवृत्ति होने पर भी वेद की नित्यता में किसी प्रकार का विरोध आड़े नहीं आता। श्रुति-स्मृतियाँ ऐसा ही वर्णन करके उक्त तथ्य को सिद्ध करती हैं यथा ऋ० वेद (१०।१९०।३) में कहा गया है कि जगत स्रष्टा ने सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देवों को पूर्व कल्प की भाँति ही बनाया, इसी प्रकार स्मृतियाँ भी वर्णन करती हैं अतएव देवताओं के नाम-रूप की आवृत्ति प्रत्येक कल्प में एक समान होते रहने से, वेद की नित्यता एवं प्रामाणिकता में किसी प्रकार का विरोध नहीं उत्पन्न होता जैसे, कोई नियम प्रतिवर्ष के लिये लागू कर दिया गया कि अमुक संस्था इस नियमावली के अनुसार चलती रहेगी, चाहे वर्ष बदलता रहे किन्तु पदाधिकारियों के पद के नाम व वेष-भूषा तथा नियम वही रहेंगे। संस्थापक की बनाई नियमावली का पालन किसी व्यवस्थापक के द्वारा यदि विकरण हो रहा है तो नियमावली की असत्यता व अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, इसी प्रकार उक्त अर्थ को समझ लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! आपने देवताओं को ब्रह्मविद्या का अधिकारी बताया है, तो क्या, यह वार्ता निर्विवाद सिद्ध है ?

वेदव्यासजी : **मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।।१।३।३१।।**

व्याख्या : स्वयं सिद्ध वार्ता में भी दर्शन भेद से कुछ लोग विरोध उत्पन्न ही कर देते हैं। यथा छान्दो० उप० को आधार बनाकर जैमिनि आचार्य का

कथन है कि मधु विद्या में देवताओं का अधिकार नहीं है क्योंकि जो-जो सुख, जो-जो वस्तुएं, जो-जो लोक मनुष्यों द्वारा यज्ञादि अनुष्ठानों एवं तप, व्रत, संयम, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह से प्राप्त होते हैं, वह-वह सभी मनोऽभिलषित सुख सामग्रियाँ देवताओं को सहज प्राप्त हैं इसलिये उन्हें वेद-वर्णित मधु विद्या में अधिकार होना संभव नहीं है तदनुसार ब्रह्म-विद्या के भी वे अधिकारी नहीं जैसे संस्कार वश किसी को अमित धन राशि वसुन्धरा के उदर से प्राप्त हो जाने पर, उसे उदर पूर्ति परक शिल्पकला आदि विद्याओं का अध्ययन अनावश्यक है इस लिये वह पुरुष शिल्प कला विद्या का अनाधिकारी कहा जाता है, वैसे ही जैमिनि वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता की पुष्टि के लिये जैमिनि युक्ति कोई और भी है ?

वेदव्यासजी : **ज्योतिषि भावाच्च ॥१।३।३२॥**

व्याख्या : देवगण स्वभाव से ही दिव्य हैं तथा ज्योतिर्मय लोकों के ही अभिमानी देव हैं, अतः वहीं उनका निवास है, उन्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य जो मनुष्य लोक में दुर्लभ हैं, सहज संप्राप्त हैं अतएव उन्हें ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये किसी वैदिक विद्या के साधन में संलग्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है और न उनकी प्रवृत्ति ही होती इसलिये जिस प्रकार वेद विहित अन्य सकामीय विद्याओं में अधिकार का अभाव है, उसी प्रकार ब्रह्म विद्या में भी देव-अधिकार की संगति नहीं बैठती जैसे, साधन सिद्ध केवलीभूत योगी को, केवली भूत होने के लिये किसी योग साधना की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही मधु-प्रेमी (प्रेय-प्रेमी) देवता को मानव-दुर्लभ सर्वोच्च भौतिक सुख (स्वर्ग-सुख) सहज संप्राप्त कर लेने पर, उसके प्राप्ति के लिये कोई साधना की आवश्यकता नहीं होती तथा ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा न होने से ब्रह्म-विद्या में रुचि नहीं होती इसलिये जैमिनि जी, अनधिकार सिद्ध करते हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! यद्यपि आप श्री ब्रह्मविद्या में देवताओं का अधिकार संभव है, पूर्व में कह आये हैं तथापि श्री जैमिनि आचार्य के मत के विरोध में श्रुति प्रमाण देकर, अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।।१।३।३३।।

व्याख्या : शब्द प्रमाण शून्य (वेदों से अप्रमाणित) उपर्युक्त जैमिनि सिद्धान्त मान्य नहीं है। यज्ञादि वेद विहित कर्मों एवं ब्रह्म विद्या में देवताओं का भी अधिकार श्रुति प्रमाणों से सिद्ध होता है। सिद्धान्त वही कहलाता है जो वेद वाक्यों से ज्ञापित एवं प्रमाणित हो। तै० ब्रा० (२।१।२।८) तथा तै० सं० (२।३।३) में देवताओं के यज्ञानुष्ठान का वर्णन आता है, इससे देवताओं का कर्माधिकार जाना जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म-विद्या में देवताओं का अधिकार है। इसके प्रमाण में वृहदारण्यकोपनिषद (१।४।१०) का आदेश है, "तद यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्" अर्थात देवगणों में से जिसने उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया, वही वह ब्रह्म हो गया। छान्दोग्योपनिषद् में भी यह प्रसंग विस्तार से आता है कि इन्द्र और विरोचन ने ब्रह्माजी की सेवा में उपस्थित रहकर, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और बहुत वर्षों के पश्चात् ब्रह्म विद्या की प्राप्ति की, अतएव यह सिद्ध है, श्रुति प्रमाणों से कि वेद विहित कर्मो एवं ब्रह्म विद्या में देवताओं का भी अधिकार है जैसे, कोई विशाल आश्रम के अध्यक्ष हैं, उन्हें मन्दिरों की पूजा एवं रसोई नहीं करनी पड़ती क्योंकि वे सबके पूज्य स्वयं सिद्ध सबके नियाम्यक हैं। प्रत्येक विभाग में कई कार्यकर्त्ता हैं, सारा कार्य आश्रम का सुचारु रूप से चल रहा है किन्तु अध्यक्ष चाहे तो वे पूजा व रसोई तथा अन्य-अन्य सेवा कार्य कर सकते हैं, उनका स्वतः सबमें अधिकार है, उन्हें कोई रोक नहीं सकता क्योंकि पुजारी, रसोइया आदि कैंकर्य कर्ताओं से, वे श्रेष्ठ हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! छान्दो० उप० में वर्णन आता है कि रैक्व मुनि ने राजा जानश्रुति को शूद्र सम्बोधन देकर, ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, तो क्या शूद्र का भी ब्रह्म–विद्या में अधिकार है ?

वेदव्यासजी : शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ।।१।३।३४।।

व्याख्या : उड़ते हुये हंसों के मुख से राजा जानश्रुति ने सुना कि भले ही यह राजा अतिथिसेवी व धर्मात्मा हो किन्तु गाड़ी वाले रैक्व के समान सर्वज्ञ, यशस्वी व तेजस्वी नहीं हो सकता, इतना सुनते ही राजा अपनी तुच्छता का

अनुसंधान कर शोकाकुल हो गया और दौड़ता हुआ, खिन्न मना ब्रह्म विद्या प्राप्ति के लिये रैक्व मुनि के पास पहुंचा। आते ही रैक्व ने राजा को शूद्र कह कर अपनी सर्वज्ञता की सूचना दी क्योंकि उस समय राजा शोकाभिभूत होकर, उनके पास आया था। शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ (शुचम् आद्रवति इति शूद्रः) "जो शोक के पीछे दौड़ता है, वह शूद्र है" होता है अतएव तद् स्थिति राजा की देखकर मुनि ने शूद्र कहकर पुकारा। यद्यपि जानश्रुति क्षत्रिय थे। रैक्व ने राजा के ईर्षा भाव एवं तज्जनित दुख को दूर करने एवं श्रद्धा व समता स्थापित करने के लिये ही, उनकी मनः स्थिति के अनुसार अपनी सर्वज्ञता से शूद्र ! सम्बोधन देकर वार्ता प्रारम्भ की थी। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि ब्रह्म विद्या में शूद्र का अधिकार है क्योंकि यह कल्पना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होती। जैसे, किसी ब्राह्मण को वैश्य बृत्ति (स्वर्ण क्रय-विक्रय एवं वस्त्रादि की दुकान) के अनुसार लोग सराफजी व सेठजी कहने लगते हैं, वैसे ही उपर्युक्त अर्थ को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! राजा जानश्रुति क्षत्रिय थे, इसमें क्या प्रमाण है ?

वेदव्यासजी : क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्

॥१।३।३५॥

व्याख्या : प्रकरण में आये हुये लक्षणों से यह जाना जाता है कि राजा जानश्रुति क्षत्रिय थे। राजा को दानवीर, श्रद्धालु तथा राजोचित ऐश्वर्य से सम्पन्न बताया गया है तथा उनके यहाँ तैयार कराई गई रसोई से ही प्रतिदिन सत्कार पूर्वक अतिथि समूहों को भोजन कराया जाता था, कहा गया है और प्रसंग के अन्त में राजा की कन्या को रैक्व ने पत्नी रूप में ग्रहण किया, यह चर्चा आती है, इसके अतिरिक्त यह कथा आती है कि राजा जानश्रुति के यहाँ, शौनक ब्राह्मण तथा चैत्र नाम के क्षत्रिय आये थे। इन दोनों को जब भोजन परोसा जा रहा था, उसी सयम एक ब्रह्मचारी ने भोजन की याचना की तो इससे सिद्ध होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय थे, शूद्र होते तो ब्राह्मण व ब्रह्मचारी इत्यादि अतिथिगण, इनके यहाँ बनाई हुई रसोई ग्रहण न करते। अतः सिद्ध होता है कि शूद्र जाति का वेद में अधिकार नहीं है, जैसे देह में प्रत्येक अङ्गों का अपना-अपना अधिकार है, अपने अधिकार को त्याग कर अन्य अंग का अधिकार लेते बनेगा नहीं और अव्यवस्था हो जायेगी जिसके कारण अंगी को ही नहीं, अंगों को भी शोक की खाई में गिरना पड़ेगा।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त आप श्री से सिद्ध वार्ता की पुष्टि के लिये क्या कोई दूसरा हेतु भी हो सकता है ?

वेदव्यासजी : संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥१।३।३६॥

व्याख्या : उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म विद्या अध्ययन करने का प्रसंग प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ उपनयन संस्कार करके ही आचार्य, ब्रह्मचारी को वेद-विद्याध्ययन कराते हैं। मुण्डकोपनिषद (३।२।१०) में कहा गया है कि उन्हीं को ब्रह्म-विद्या का उपदेश देना चाहिये जिन्होंने सविधि उपनयन संस्कार कराकर, ब्रह्मचर्य- व्रत के पालन में तत्परता दिखाई है, इसी प्रकार उपनयन संस्कार की परम आवश्यकता छान्दो० उप० (४।४।५) तथा श० ब्रा० (११।५।३।१३) में भी कही गई है किन्तु शूद्रों के लिये उपनयन संस्कार का विधान ही नहीं बताया गया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शूद्रों का अधिकार वेद-विद्या में नहीं है जैसे, किसी विश्वविद्यलाय का नियम है कि इसमें माध्यमिक परीक्षा पास विद्यार्थी ही उच्चतम स्तरीय विद्या प्राप्त करने के लिये भरती किये जायंगे, इस से स्पष्ट है कि प्राथमिक परीक्षा पास विद्यार्थियों का अधिकार, विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के लिये नहीं है, वैसे ही उक्त प्रकरण की वार्ता विचारणीय है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त विषय की वार्ता को दृढ़ करने के लिये कोई अन्य हेतु भी है ?

वेदव्यासजी : तद्भावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥१।३।३७॥

व्याख्या : शिष्य को अपने पास आया जानकर, आचार्य यह जानना चाहते हैं कि यह शूद्र तो नहीं है। निश्चय कर लेने पर ही उसका उपनयन संस्कार कराकर, ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं अर्थात् वेद विद्या प्रदान करने के लिये शूद्रत्व के अभाव की आवश्यकता उन्हें होती है। छान्दो० उप० में रैक्व और जानश्रुति की कथा के पश्चात् जबाला के पुत्र सत्यकाम की कथा आती है कि ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिये सत्यकाम, गौतम ऋषि के पास जाते हैं, तब गौतम जी पूँछते हैं, तुम्हारा गोत्र क्या है ? सत्यकाम ने कहा, "मैं अपना गोत्र नहीं जानता।" माता से पूछा तो उसने भी यही कहा कि मैं गोत्र नही जानती, केवल

इतना जनती हूं कि मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। गौतम जी समझ गये कि यह शूद्र नहीं ब्राह्मण है। ब्राह्मण के अतिरिक्त सत्य सदा साथ नहीं रहता, अस्तु, उसके नाम तथा सत्य वाणी को सुनकर एवं अपने ध्यान से सत्यकाम को ब्राह्मण जानकर, सविधि उसका उपनयन संस्कार किया। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी सत्यकाम को वेद विद्या का उपदेश दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद-विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं होता जैसे अपनी ही पत्नी क्यों न हो किन्तु असंस्कृत अवस्था में रसोई घर, शय्यासन, अग्निहोत्रशाला इत्यादि विहित कर्म स्थानों में वह पति के साथ नहीं जा सकती, अकेला पति ही वहाँ जा सकता है, इसी प्रकार उपनयन संस्कारहीन ब्राह्मण पुत्र भी जैसे यज्ञ-दीक्षा नहीं ग्रहण कर सकता वैसे ही उपनयन संस्कार हीन शूद्र को भी ब्रह्म विद्याध्ययन में अधिकार नहीं कहा गया है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! वेद-विद्या में शूद्र का अनधिकार बताने वाला कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है?

वेदव्यासजी : **श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥१।३।३८॥**

व्याख्या : श्रुति वाक्यों से भी (एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रस्य समीपेनाध्येतव्यम्) जाना आता है कि जो शूद्र है वह स्मशान के सदृश अपवित्र है अतः जैसे स्मशान में वेद पढ़ना निषेध है, उसी प्रकार शूद्र के समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये, अस्तु, जब शूद्र को उक्त श्रुति प्रमाण से वेद सुनने का अधिकार नहीं है, तब अध्ययन और अर्थज्ञान का निषेध स्वतः सिद्ध है। इस विषय में पराशर स्मृति का स्पष्ट कथन है कि वेदाक्षरों का अर्थ समझने के विचार मात्र से शूद्र का पतन हो जाता है कि पुनः अध्ययानादि कर्मों से; मनुस्मृति में भी कहा है; 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' शूद्र को वेद-विद्या का ज्ञान नहीं देना चाहिये। अन्य अन्य स्मृतियों में भी स्थान-स्थान पर, उक्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वेद के न जानने से परमात्मा का ज्ञान न होगा और बिना ज्ञान के शूद्र भव-प्रवाह ही में बहते रहेंगे सो नहीं। वेद के बृहद अर्थ ही इतिहास व पुराण के रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं अतएव इतिहास व पुराणों को पढ़कर, श्रवणकर, पुरुषोत्तम भगवान को समझ लेना चाहिये। इतिहास पुराणों के श्रवण का निषेध नहीं है। फल-प्राप्ति में चारों वर्णों का बराबर अधिकार है। भगवान

की भक्ति स्त्री, शूद्र, चांडाल सब कर सकते हैं। निषेध केवल वेद का है क्योंकि वेद का उच्चारण शूद्र से सविधि एवं सुरीति से, स्वभाव जन्य दोष के कारण नहीं बन सकता और मन्त्र हानि होने से, जब ब्राह्मण के पतन होने के भी प्रमाण मिलते हैं, तब शूद्र की क्या कथा! उपनयन संस्कार के बिना जब ब्राह्मण वेद पढ़ने का अधिकारी नहीं माना गया तो जिसके उपनयन संस्कार होने की विधि ही वेदों में नहीं बताई, उसके लिये तो वेद में अनाधिकार होना स्वतः सिद्ध है जैसे, किसी महाविद्यालय में संध्योपासना न करने वाले राजकुमार भी नहीं लिये जाते, वहाँ संध्या का नाम व विधि न जानने वाले संस्कार हीन निम्न स्तर के लड़कों का प्रवेश कैसे विद्यालय में हो सकेगा।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! पूर्वोक्त अंगुष्ठ मात्र पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है, इसकी सिद्धि के लिये और कुछ कहें।

वेदव्यासजी : **कम्पनात् ॥१।३।३९॥**

व्याख्या : जिसमें सारा जगत स्थित होकर, जिसकी प्रेरणा व शक्ति से चेष्टित रहता है तथा जिसके भय से कांपते हुये सभी छोटे बड़े जीव अपना अपना कार्य करते हैं, वह पूर्व कथित अंगुष्ठ मात्र पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है। कठोपनिषद प्रथम वल्ली से तृतीय वल्ली तक अंगुष्ठ मात्र पुरुष (परब्रह्म परमात्मा) का विशद वर्णन है, लिखा है कि, उस परब्रह्म परमात्मा से निकला हुआ जो भी जगत है, वह उसी में स्थित है और उसी की शक्ति व प्रेरणा से चेष्टा करता है, उसी प्राण स्वरूप परब्रह्म में। उस उठे हुये वज्र के समान महान भयानक सर्व समर्थ अचिन्त्य शक्ति वाले पुरुषोत्तम भगवान को जो जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं अर्थात् मृत्यु से पार होकर, परमपद की प्राप्ति कर लेते हैं। इसी अंगुष्ठ मात्र पुरुष रूप परब्रह्म परमात्मा के भय से सूर्य तपता है, वायु बहती है, अग्नि जलता है, इन्द्र त्रिलोकी पर शासन करता है, मृत्यु सबका संहार करता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिसमें स्थित होकर जगत चेष्टित है व जिसके भय से सम्पूर्ण देव कम्पित बने रहते हैं और अपने-अपने कार्य को सुचारु रूप से करते हैं। वह न प्राणवायु है न इन्द्र है क्योंकि ये लोग सदा उसके आधीन और भयभीत बने रहते हैं अतएव वह अंगुष्ठमात्र पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है, इसमें किसी कुतर्क या संशय का स्थान नहीं है। भाई! जिस पुरुष के आधीन

समस्त प्रजा रहती हो, जिसके भय से प्रजा अधर्म में प्रवृत्त न होती हो और जो प्रजा का रंजन व पालन करता हो जो ऐश्वर्यशाली एवं सैन्य बल से बड़ा बलवान हो, वही तो राजा है, इसी प्रकार ब्रह्म-गुणों से जो युक्त हो, जो स्वतन्त्र स्वराट निरंकुश शासक हो, वही तो परब्रह्म परमेश्वर है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जिस प्रकार आप श्री ने प्रथम कहे हुये अंगुष्ठ मात्र पुरुष की चर्चा पुनः करके संशय हीन बनाया वैसे ही प्रथम कहे हुये, दहराकाश विषयक चर्चा करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **ज्योतिर्दर्शनात् ॥१।३।४०॥**

व्याख्या : ज्योति शब्द का प्रयोग श्रुतियों में परब्रह्म परमात्मा के अर्थ ही में किया गया है। छान्दो० उप० के अन्तर्गत दहराकाश विषयक वर्णन में जो जीवात्मा को ज्योति रूप से सम्पन्न होना कहा है, वहां ज्योति से परमात्मा का ही ग्रहण होता है क्योंकि श्रुतियों में अनेक स्थानों पर ज्योति शब्द का प्रयोग, ब्रह्म अर्थ में देखा जाता है। छान्दो० उप० (३।१३।७) में भी ज्योति शब्द परब्रह्म के लिये ही आया है। इससे श्रुतियों का बहुमत ज्योति शब्द को परब्रह्म के अर्थ में ग्रहण करने में है। जैसे, पंकज शब्द का ग्रहण बहुमत से कमल के लिये ही किया जाता है (पंक+ज) कीचड़ से उत्पन्न होने वाले धान, सिंघाड़ा, कुमुदनी के अर्थ में नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! दहराकाश के प्रसंग में आकाश शब्द का प्रयोग परब्रह्म के वाचकार्थ में निश्चय किया गया है किन्तु छान्दो० उप० (८।१४।१) में आये हुये आकाश शब्द का ग्रहण किस अर्थ में किया गया है ?

वेदव्यासजी : **आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥१।३।४१॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (८।१४।१) में बताया गया है कि 'आकाश' कहा जाने वाला प्रसिद्ध तत्व, नाम-रूप का निर्वाहक है तथा नाम रूपात्मक जगत जिसके भीतर है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है और वही आत्मा है इसलिये यहाँ आकाश शब्द भूताकाश व जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि भूताकाश स्वयं नामरूपात्मक जगत प्रपञ्च के अन्तर्गत है जिसकी स्थिति आकाश शब्द वाच्य

परब्रह्म के भीतर है तथा जीवात्मा में भी सबको धारण करने की शक्ति नहीं है इसलिये ब्रह्म, अमृत, आत्मा आदि विशेषणों से युक्त आकाश शब्द यहाँ परब्रह्म परमेश्वर के ही अर्थ में है। विशेषण से विशेष्य का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है जैसे चन्द्रमौलि कहने से श्रीशंकरजी का ही ग्रहण होता है, चन्द्राकार तिलक लगाने वाले किसी व्यक्ति का नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! मुक्तात्मा जब ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है तब उसमें ब्रह्म के लक्षण आ ही जाते हैं, अस्तु, यहाँ आकाश को जीवात्मा का वाचक मान लेनेसे कौन आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : **सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥१।३।४२॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।८।१) में वर्णन आता हैं कि जिस अवस्था में यह पुरुष सोता है गहरी नींद में, उस समय यह अपने कारण स्वरूप, सत् से संयुक्त हो जाता है, इससे स्पष्ट है कि 'पुरुष' नाम से जीवात्मा को और 'सत्' नाम से कारण भूत परब्रह्म का भेद पूर्वक वर्णन है, एवं प्रकारेण उत्क्रमण काल का भी भेद पूर्वक वर्णन किया गया है। छान्दो० उप० (८।३।४) में कहा है कि जीवात्मा शरीर से निकलकर, ज्योति स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होता है। इसमें भी 'संप्रसाद' नाम से जीवात्मा का और परम ज्योति नाम से परब्रह्म का भेद पूर्वक वर्णन किये जाने से 'आकाश' शब्द मुक्तात्मा जीव का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म के सदृश कतिपय गुणों का आविर्भाव जीवात्मा में उदय हो जाने पर भी जगत को धारण करने की शक्ति नहीं होती। वह स्वभाव से सृजन, संरक्षण और संहार करने की सामर्थ्य से सदा अछूता बना रहता है जैसे यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा स्वर्ग से संयुक्त होकर मनुष्य, देवभाव को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु इन्द्र नहीं हो जाते और न किसी के द्वारा इन्द्र नाम से पुकारे जाते, इसी प्रकार जीव, ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु साक्षात् परब्रह्म हो जाते हैं, सो नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता की सिद्धि के लिये क्या कोई दूसरा हेतु भी हो सकता है ?

व्याख्या : श्वेताश्वतरोपनिषद (६।७) में परब्रह्म परमात्मा के लिये कहा गया है कि ईश्वरों के भी ईश्वर परम परमेश्वर हैं अर्थात् जगत के त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तथा लोकपाल दिकपाल और सूर्य चन्द्रादि जो ईश्वर हैं, उन पर भी ईशन करने वाले महेश्वर हैं और समस्त देवताओं के परम देवता हैं अर्थात् सब देखे-सुने-जाने वाले देवताओं के भी जो उपास्य देव तथा सबको देवत्व प्रदान करने वाले हैं तथा समस्त पतियों के जो परम पति हैं अर्थात् सब पतियों का पतित्व जिनपर आधारित है और जो अखिल ब्रह्माण्डों के स्वामी अर्थात् समस्त भुवनों का, उद्भव, पालन और प्रलय करने वाले हैं तथा समस्त जीव समुदाय से स्तुति किये जाने योग्य हैं, ऐसे परम प्रकाश स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को हम लोग सबसे परे जानते हैं, इस प्रकार इस मन्त्र में भी देवता आदि की कोटि में जीवात्मा का ग्रहण है और परम महेश्वर, परमपति से परब्रह्म परमात्मा का, अस्तु जीवात्मा और परमात्मा में भेद है इसलिये आकाश शब्द परमात्मा के अर्थ में प्रयोग किया गया है, मुक्त हुये जीव के लिये नहीं । जैसे, मोहन शर्मा, सोहन शर्मा का पिता है, इस भेद से दोनों पृथक-पृथक हैं किन्तु यदि यह कहा जाय कि इस घर के स्वामी शर्माजी हैं तो शर्मा शब्द का प्रयोग मोहन लाल के अर्थ में ही लेना चाहिये, यही बुद्धि का कौशल्य है ।

तात्पर्यार्थ : भूमा, दहर, अक्षर, आकाश, ज्योति, प्राण आदि श्रुति शब्दों के साथ परब्रह्म परमात्मा के विशेषण जुड़े होने से, इन सबको परब्रह्म के वाचकार्थ में जानना चाहिये । परब्रह्म परमात्मा ही सबका धारक-पोषक और स्वामी है । जीवात्मा, प्रकृति व देव नहीं हैं । परब्रह्म की शक्ति व प्रेरणा से ही सारा जगत प्रपञ्च चेष्टित हो रहा है । सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि देवता, उस परमेश्वर के भय से ही सब अपना-अपना कार्य करते हैं, अस्तु, परब्रह्म परमेश्वर ही सबका उपास्य देव है, उसके आश्रय में रहकर सबको अपनी उपासना द्वारा, उस ब्रह्म की प्राप्ति करना ही परम पुरुषार्थ है । वेद के अनधिकारी भी इतिहास-पुराणादि से ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर, उस ब्रह्म की उपासना से वही परम फल प्राप्त करते हैं, जो वेदाधिकारी प्राप्त करते हैं, यही तीसरे पाद का सारांश है ।

॥ श्री वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत प्रथम अध्याय
का तृतीय पाद समाप्त ॥

श्री वेदव्यासकृत

वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! कठोपनिषद में जहाँ अव्यक्त शब्द आया है, वहाँ अव्यक्त शब्द प्रकृति के अर्थ में आया है या अन्य किसी के लिये ।

वेदव्यासजी : **आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकवि-न्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१।४।१॥**

व्याख्या : कठोपनिषद (१।३।११) में जो 'अव्यक्त' शब्द आया है वह अनुमान कल्पित या सांख्य प्रतिपादित प्रकृति के अर्थ में नहीं कहा गया है क्योंकि शरीर, विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, महान आत्मा और अव्यक्त इन सात वस्तुओं की कल्पना को क्रमश: रथ, चारा (घास), घोड़ा, लगाम, सारथी, रथी और अव्यक्त अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान की शक्ति स्वरूपा प्रकृति का रूपक देकर बताया गया है कि इन उपकरणों द्वारा परम धाम स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्तकर, यात्रा (आवागमन) समाप्त कर देना चाहिये । उक्त उपकरणों में क्रमश: पूर्व से उत्तरोत्तर बलवान बताये गये हैं, तद्नुसार महान आत्मा (जीवात्मा) से बलवान अव्यक्त (परमात्मा की शक्ति स्वरूपा प्रकृति) को कहा गया है जिसका अंश कारण शरीर है जिसकी प्रेरणा से रथ के रूपक में कहे गये शरीर, विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवात्मा साधन क्षेत्र में उतरकर, सफलता रूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं, अत: कठो० उप० के उक्त प्रकरण में भगवान के शक्ति स्वरूप प्रकृति का अंश होने के कारण शरीर को ही अव्यक्त नाम से कहा गया है, अन्य को नहीं । परमधाम की यात्रा में भगवान को प्राप्त कराने वाली, भगवत् शक्ति ही हेतु है, शक्ति-पुरुषकार के बिना पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति असंभव है इसलिये उक्त रूपक में रथ से लेकर, रथी तक सभी साधन सामग्रियों

की सुचारुता होने पर भी, भगवान की शक्ति का अवलम्बन लेकर ही यात्रा समाप्त की जा सकती है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! शरीर को अव्यक्त कहना किस हेतु से ठीक है ?

वेदव्यासजी : सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥१।४।२॥

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की शक्ति-स्वरूपा प्रकृति अनिर्वचनीय एवं अदर्शनीय है, अतः उस सूक्ष्म स्वरूपा प्रकृति का अंश कारण शरीर को 'अव्यक्त' कहना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त परमधाम की यात्रा, कारण शरीर से ही होती है, साधन स्वरूप स्थूल शरीर तो प्रकृति प्रदेश ही में रह जाता है, स्थूल शरीर रूपी रथ में चढ़कर, प्राथमिक यात्रा ही की जाती है। इसके पश्चात् आगे का मार्ग इसको छोड़कर कारण शरीर के द्वारा ही पार किया जाता है जैसे, बद्रीनारायण की यात्रा में प्राथमिक यात्रा तो रेलगाड़ी द्वारा हो जाती है किन्तु आगे की यात्रा रेल छोड़कर, अन्य वाहन से ही की जाती है और स्वर्गारोहण जाने के लिये केवल पाँव-पाँव ही यात्रा करनी पड़ती है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! जब प्रकृति अंश को 'अव्यक्त' नाम से ग्रहण हो गया, तब भूतों के कारण स्वरूप सूक्ष्म प्रधान को (सांख्य शास्त्र कथित प्रकृति को) अव्यक्त के अर्थ में लेने से कौन सी हानि होगी ?

वेदव्यासजी : तद्धीनत्वादर्थवत् ॥१।४।३॥

व्याख्या : सांख्य मतानुयायी प्रकृति को स्वतन्त्र और जगत का कारण बतलाते हैं किन्तु वेद इसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि प्रकृति परमात्मा की शक्ति है और उसी परब्रह्म परमेश्वर के आधीन रहती है, इसी शक्ति से पुरुषोत्तम भगवान, जगत के उद्भव, पालन और प्रलय की लीला करते हैं यदि परमेश्वर के आधीन यह शक्ति न हो, तो वे शक्तिमान नहीं कहे जा सकते और शक्ति मत् न होने से जगत-सृष्टि भी नहीं कर सकते, अतएव जगत के कारण भी नहीं कहे जा सकते, अस्तु, वेद, प्रकृति को परब्रह्म परमात्मा के आधीन बतलाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है कि ऋषियों ने ध्यान योग के द्वारा, परमात्मा की शक्ति का दर्शन किया जो

स्वाभाविक ज्ञान, क्रिया, बल आदि गुणों से सम्पन्न अनेकानेक प्रकारों से सुनी जा रही थी अतएव परमात्मा के आधीन रहने वाली उसी की शक्ति की सार्थकता है अतएव सांख्यमत के अनुसार स्वतन्त्र और जगत्कारण कहकर प्रकृति को बताना वेद-विरुद्ध है। प्रकृति परमेश्वर की अभिन्न शक्ति है, यही वेद को मान्य है। शक्ति, बिना शक्तिमान के तो अस्तित्वहीन हो जायगी, अस्तु, प्रकृति (शक्ति) को स्वतन्त्र कहना उपयुक्त नहीं है। परमात्मा के आधीन होने से, उसे जगत का कारण भी नहीं कह सकते जैसे, पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की आधीनता में रहने वाले नल-नीलादि वानरों ने समुद्र में सेतु बाँधा परन्तु इतिहास, पुराणों व लोकों में यही कहा जाता है, माना जाता है कि श्रीरामजी ने समुद्र में सेतु का निर्माण किया तथ्यत: सत्य भी है। श्रीरामजी की आज्ञा व सकाशता से ही सौ योजन का सेतु निर्माण किया गया। उनकी शक्ति स्वरूपणी वानरी सेना को सेतु-निर्माण का कारण नहीं माना जाता।

मुमुक्षु सुखेन : प्रभो! वेद में बताई प्रकृति को सांख्य शास्त्र में प्रधान नाम से कही हुई प्रकृति नहीं कह सकते, इसकी पुष्टि में कोई दूसरा हेतु भी है, बताने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥१।४।४॥**

व्याख्या : सांख्य का कहना कि 'गुण पुरुषान्तर ज्ञानात् कैवल्यम्' गुणमयी प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य बोध हो जाने पर, मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही पुरुष का ज्ञान तथा प्रकृति-पुरुष में भेद की प्रतीति होना सम्भव है अतएव प्रकृति को ज्ञेय मानना सांख्यानुयायियों का सिद्धान्त है किन्तु वेद में प्रकृति को ज्ञेय और उपास्य कहकर, कहीं भी वर्णन करना नहीं पाया जाता। श्रुति भगवती ने परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और उपासना करने योग्य बताया है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदोक्त प्रकृति निश्चय ही सांख्य शास्त्र में बताये हुये प्रधान तत्व से भिन्न है जैसे, एक ही नाम के दो पुरुषों की चर्चा भिन्न-भिन्न गाँव में चलती हो तो उन पुरुषों की चर्चा एवं गुण भेद से उनमें पार्थक्य (भेद) का ज्ञान प्राप्त कर लेना सहज हो जाता है, वैसे ही उक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वेद में क्या प्रकृति को ज्ञेय नहीं मानते ?

वेदव्यासजी : वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।।१।४।५।।

व्याख्या : अवश्यमेव वेद में ज्ञेय तत्व परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही बताया गया है । जहाँ-जहाँ ज्ञेय प्रकरण है, वहाँ-वहाँ परब्रह्म परमात्मा ही ज्ञेय कहा गया है । कठोपनिषद में अव्यक्त चर्चा जहाँ की गई है, वहाँ ही प्रकरण के अन्त में (१।३।१५) के मन्त्र में बताया गया है कि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से अछूता अविनाशी, नित्य, अनादि और अनन्त है तथा महत से परे ध्रुव है, उस परम तत्व के ज्ञान से, मनुष्य मृत्यु-मुख से छुटकारा पा सकते हैं । इस मन्त्र में सांख्य के 'प्रधान' नामक तत्व के कुछ लक्षण मिलने के कारण यदि प्रधान (प्रकृति को ज्ञेय मानना कोई सिद्ध करे, तो यह असंगत और अनर्गल है क्योंकि यहाँ परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप वर्णन करने का प्रकरण प्रस्तुत किया गया है और उसी का पद-पद में समर्थन है । उक्त मन्त्र के पूर्व और उत्तर के वर्णन में भी परमात्मा को ही ज्ञेय और प्राप्तव्य कहा है, साथ ही मन्त्र में जो-जो लक्षण कहे गये हैं उनकी पूर्ण संगति परब्रह्म परमेश्वर में ही बैठती है, इसलिये यही सिद्ध होता है कि जानने योग्य परमात्मा ही है और उसके जानने की फलश्रुति मोक्ष की प्राप्ति का ही, इस मन्त्र में वर्णन है, यहाँ प्रकृति का आंशिक वर्णन भी नहीं है । जहाँ गुरु के लक्षण कहे जा रहे हों, वहाँ शिष्य में शम-दमादि कुछ लक्षण मिलने पर भी, शिष्य का वर्णन नहीं समझना चाहिये, यही बुद्धिमानी है अन्यथा सिंह की खाल को सियार के शरीर में ढाँक देने का दोष उपस्थित हो जायगा ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कठोपनिषद में जैसे अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा का प्रकरण आता है तदनुसार वहाँ ही आये हुये 'अव्यक्त' शब्द के आधार पर सांख्य के 'प्रधान' नामक तत्व का वर्णन स्वीकार कर लिया जाय, तो क्या आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।।१।४।६।।

व्याख्या : कठोपनिषद में नचिकेता ने अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा के

जानने की जिज्ञासा से यमराज से तीन ही प्रश्न किये थे। १– देव ! स्वर्ग की साधन भूता अग्नि तो आप जानते हैं ? अतः मुझ जिज्ञासु को अग्नि विद्या का ज्ञान भली-भाँति कराने की कृपा हो। २– मरे हुये मनुष्य के विषय में किसी का मत है कि वह मरने पर भी रहता है तथा किसी का कथन है कि वह नहीं रहता है, अस्तु, इस तथ्य को आप भली-भाँति जानते हैं इसलिये मुझ श्रद्धालु को इस वार्ता का निर्णय आप श्री प्रदान करें। ३– जो धर्म-अधर्म से, कारण-कार्य और भूत-भविष्य और वर्तमान भेद वाले काल से सर्वथा परे और विलक्षण है ऐसे जिस तत्व का बोध आपको सम्यक् प्रकारेण सुलभ है, उसी का उपदेश मुझे प्रदान करें। इन्हीं तीनों प्रश्नों के अनुसार क्रमशः यमदेव का उत्तर भी है किन्तु 'प्रधान' के विषय में न तो नचिकेता ने प्रश्न किया और न यमराज का कोई उत्तर ही वहाँ पाया जाता, इससे यही सिद्ध होता है कि यहां (कठोपनिषद में) उक्त तीन विषयों के अतिरिक्त चौथे विषय का कोई प्रसंग ही नहीं है। किसी ने कहा कि भाई तुम बाजार जा रहे हो, हमारे लिये आम, केला और कटहल लेते आना, लाने वाला भी तीन वस्तुयें लाया, अब कोई कहे कि कोई चौथा फल भी अवश्य मंगाने के लिये, उनके मन में रहा होगा इसीलिये केला के बाद 'और' कहा है, कितनी अज्ञता है यह।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब 'प्रधान' के अर्थ को प्रकट करने वाला अव्यक्त शब्द कठोपनिषद में आया ही है, तब उसे दूसरे अर्थ में कैसे लगाया जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **महद्वच्च ।।१।४।७।।**

व्याख्या : जिस प्रकार 'महत' शब्द का प्रयोग सांख्य में महतत्व के लिये हुआ है, किन्तु कठोपनिषद में वही महत शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार 'अव्यक्त' शब्द कठोपनिषद में दूसरे अर्थ में ग्रहण किया गया है, सांख्य के प्रधान अर्थ में नहीं। 'बुद्धेरात्मा महान् परः' क० उप० (१।३।१०) बुद्धि से महान आत्मा पर है अर्थात् श्रेष्ठ है। यहाँ 'महत' को बुद्धि से परे आत्मा बताया गया है किन्तु सांख्य में बुद्धि को ही महतत्व के नाम से कहा गया है। इस प्रकार सांख्यमत के विपरीत जहाँ-तहाँ 'महत' शब्द का प्रयोग वेदों में पाया जाता है, अस्तु, अव्यक्त शब्द का अर्थ भी सांख्य से पृथक मानना अनुचित नहीं। भाई ! जैसे योग शब्द का अर्थ, योग-दर्शन में महर्षि पातञ्जलि, समाधि अर्थ में अर्थात्

चित्तनिरोधावस्था में ग्रहण करते हैं और भक्ति शास्त्रों में उसी योग शब्द को संयोग अर्थात् भगवत प्राप्ति के अर्थ लेते हैं, तदनुसार अव्यक्त शब्द का प्रयोग वेद और सांख्य में भिन्न-भिन्न अर्थ में आने से कोई हानि नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अव्यक्त शब्द का प्रधान से भिन्न अर्थ ग्रहण करने पर भी, श्वेताश्वतरोपनिषद में 'अजा' शब्द से अनादि प्रकृति का प्रसंग प्राप्त होता है। वहाँ उसे श्वेत, लाल और काला वर्ण वाली अर्थात् त्रिगुणात्मिका कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य शास्त्र कथित 'प्रधान' प्रकृति को ही, वेद में जगत का कारण बताया गया है, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : चमसवदविशेषात् ।।१।४।८।।

व्याख्या : परब्रह्म से अभिन्न स्वरूपा शक्ति को ही यहाँ 'अजा' नाम से कहा गया है। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को 'अज' कहा जाता है क्योंकि वे अजन्मा अनादि और सनातन हैं अतएव उनसे अभिन्न स्वरूपा शक्ति को 'अजा' कह देना कोई अनुचित नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद में महर्षियों ने जगत का कारण कौन है, जानने की इच्छा की, तब ध्यान योग में स्थित होकर, उस आत्म-गुणा दर्शिता परब्रह्म परमात्मा की स्वरूप भूता (ब्रह्म से अपृथक) अचिन्त्य शक्ति को ही, कारण रूप में देखा और निश्चय कर लिया कि जो परमदेव परमेश्वर अकेला ही काल, स्वभाव, कर्म और गुणों से लेकर, आत्मापर्यन्त समस्त तत्वों का अधिष्ठान है, जिसके आश्रयावलम्बन से ही गौण रूपेण सब अपने-अपने स्थान में कारण कहे जाते हैं, जैसे राजा के आश्रम में रहकर, राजकर्मचारी अपने-अपने स्थान में कारण और कर्ता कहे जाते हैं अतएव यह स्पष्ट सिद्ध है कि वेद में 'अजा' नाम से कथित परब्रह्म की स्वरूप भूता अर्थात् परमात्मा से अपृथक अचिन्त्य शक्ति ही है जो उनके अधीनस्थ है। सांख्य प्रतिपादित स्वयं को स्वतन्त्रा, तत्वावबोधिनी प्रधान (प्रकृति) नहीं है, जिस प्रकार चमस शब्द रूढ़ितया सोमपान के लिये विनिर्मित एक विशेष पात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु बृह० उप० (२।२।३) में वही चमस शब्द शिर के अर्थ में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ 'अजा' शब्द परब्रह्म की अविनाभूता, अभिन्ना, अचिन्त्य और अनादि शक्ति के अर्थ में ग्रहण किया गया है, जिससे कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। जादूगर जैसे जादूगरी के दृश्य अनेकानेक अपने ज्ञान (जादूगरी का ज्ञान) शक्ति से दिखाता है किन्तु उसकी शक्ति, उसी

के स्वरूप में उसी के अन्तर्भुक अर्थात् उसके स्वरूप के भीतर और अपने गुणों से उसी में छिपी हुई है, अस्तु, जादूगर को दृश्य का कारण (दृश्य दिखाने वाला) कहा जाता है क्योंकि उसकी शक्ति उसके आधीन है और उसकी इच्छानुसार कार्य करती है वैसे ही परब्रह्म और उनकी शक्ति के अर्थ को ग्रहण करना चाहिये। श्वेताश्वतरोपनिषद कथित 'अजा' शब्द के साथ 'प्रधान' की ओर संकेत करने वाले, कोई विशेष शब्द नहीं आये जो प्रधान के विशेषण माने जाँय, इसलिये यहाँ 'अजा' शब्द सांख्य कथित स्वतन्त्र प्रधान प्रकृति के अर्थ में नहीं लिया जा सकता।

मुमुक्षु मुखेन : जिस रूढ़ अर्थ में 'अजा' शब्द का ग्रहण होता है, उसको न लेकर, किस अर्थ में प्रयोग किया गया है ?

वेदव्यासजी : **ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।।१।४।९।।**

व्याख्या : छान्दो० उप० में परब्रह्म से उत्पन्न तेज आदि तत्वों से जगत की सृष्टि कही गई है और भी कहा है कि परब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं 'एक से बहुत हो जाऊँ' इत्यादि प्रमाणों से परब्रह्म परमात्मा स्वयं स्वतन्त्रतया अपनी शक्ति से उपादान कारण रूपतया जगत का कारण बनता है। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ वेद में प्रकृति या प्रधान शब्द आया है, वहाँ उसका अर्थ ब्रह्म की स्वरूपभूता अचिन्त्य, अनादि और अस्वतन्त्र शक्ति से ग्रहण होता है। सांख्य कथित स्वतन्त्र और कारण भूता प्रधान (प्रकृति) से नहीं। यहाँ सांख्य के प्रधान का वर्णन नहीं है क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद में जहाँ प्रधान शब्द आया है शक्ति के लिये, वहाँ स्वतन्त्र नहीं माना गया है अपितु क्षर-अक्षर अर्थात् अपरा प्रकृति और परा प्रकृति पर शासन करने वाला, परब्रह्म परमात्मा को ही बताया गया है और भी कहा गया है कि भोग्य-भोक्ता और इन दोनों के प्रेरक ईश्वर, ये तीनों रूपों में ब्रह्म ही हैं अर्थात् प्रकृति (क्षर तत्व) नामक शक्ति और अक्षर (जीवात्मा) और इन दोनों पर शासन करने वाला परमेश्वर, इन तीनों रूपों में ब्रह्म ही है या यों कहें कि तीनों का रूप ब्रह्म के अतिरिक्त और अन्य नहीं है। यदि श्वेताश्वतरोपनिषद में प्रधान (प्रकृति) का वर्णन मानते हैं तो वहाँ संगत नहीं बैठती क्योंकि उसे स्वतन्त्र न मानकर, परब्रह्म के आधीन माना गया है, तब सांख्य कथित प्रधान का ग्रहण कैसे बनेगा क्योंकि सांख्य का 'प्रधान' नामक तत्व स्वतंत्र है और कारण है, जो वेद के विपरीत है इसलिये प्रधान का पर्याय 'अजा' शब्द होने पर भी उसका

ग्रहण तेज आदि तत्वों की उत्पादिका परमेश्वर की शक्ति के अर्थ में ही होगा। जैसे, कमला शब्द है और वह विष्णु पत्नी लक्ष्मीजी के अर्थ में प्राय: लिया जाता है किन्तु कोई कहे कि कमला को आज हमने कन्दुक क्रीड़ा करते हुये अकेले देखा है, उसका स्वातन्त्र्य देखते ही बनता था। अब विचार किया जाय कि कमलाजी जो विष्णु-प्रिया हैं, वह उनके आधीन हैं, अकेले क्रीड़ा करने मृत्युलोक में कैसे आयेंगी और इस प्रकार का स्वातन्त्र उनमें होना सम्भव ही नहीं है अत: अकेले क्रीड़ा करने वाली कमला नाम की कोई संसारी स्त्री होगी, यही सिद्ध होता है। ऐसे ही 'अजा' शब्द के अर्थ को, प्रधान में न लगाकर, परमेश्वर की शक्ति में लगाना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! श्वेत, लाल, काली वर्ण की 'अजा' को कहा गया है अतएव रूपादि से रहित ब्रह्म शक्ति के अर्थ में, उसे कैसे माना जा सकता है ?

वेदव्यासजी : कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१।४।१०॥

व्याख्या : जैसे शरीर रथ न होने पर भी समझाने के लिये उसमें रथ के सभी साधन सामग्रियों की कल्पना की गई है; बृहदारण्यक में धेनु न होने पर भी बाबी को धेनु कहा गया है। छान्दो० उप० में मधु न होने पर भी सूर्य को मधु कहा गया है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति को 'अजा' नाम से कहकर, उसमें श्वेत, लाल, काले वर्ण का रूपक बाँधा गया है इसलिये कोई हानि नहीं, कहा है 'वक्ता दृष्टान्त कुशलः' जिज्ञासु को समझाने के लिये युक्ति दृष्टान्त और रूपक का सहारा लेना बुद्धिमान वक्ता की पटुता है जैसे, प्रारम्भिक पाठशाला में बच्चों को समझाने व उन्हें उल्लसित करने के लिये 'क' के रूप में अर्थात् आकार में बना माटी का खिलौना दिया जाता है और कहा जाता है कि 'क' ऐसा ही बनता है तथा 'क' माने कबूतर होता है, देखो यह कबूतर का चित्र है, वैसे ही उक्त अर्थ को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वेद कथित 'अजा' शब्द परब्रह्म परमात्मा की स्वरूप भूता अचिन्त्य शक्ति का वाचक है, सांख्योक्त त्रिगुणात्मिका शक्ति का नहीं किन्तु दूसरी श्रुति में 'पंच-पञ्च' संख्या वाचक शब्द आता है जो सांख्य के पच्चीस तत्वों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अत: अजा शब्द भी सांख्य कथित प्रधान तत्व के अर्थ

में क्यों न ले लिया जाय।

वेदव्यासजी : **न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥१।४।११॥**

व्याख्या : वेद में संख्या का ग्रहण होने पर भी वह संख्या, सांख्य के अनुसार कहे गये तत्वों की गणना नहीं कही जा सकती, क्योंकि उस संख्या से अनेक दूसरे-दूसरे भावों को ग्रहण किया जा सकता है तथा वहाँ ही पचीस से अधिक तत्वों का भी वर्णन स्पष्ट है। वृहदारण्यकोपनिषद (४।४।१७) में बताया गया है कि जिसमें पंच-पञ्च जन और आकाश भी प्रतिष्ठित है, उसी आत्मा को अमृत स्वरूप परब्रह्म मानता हूँ। विचार करिये, पंच-पञ्च का अर्थ पचीस तत्वों की संख्या मानने पर उक्त वर्णन में पचीस ही नहीं अपितु आकाश और आत्मा को लेकर सत्ताइस तत्व होते हैं इसलिये यही निश्चय होता है कि वेद में, सांख्योक्त स्वतन्त्र प्रधान (प्रकृति) का वर्णन नहीं और न पचीस तत्वों का ही, जिस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद में 'अजा' शब्द से परब्रह्म परमेश्वर की स्वरूप भूता अनादि शक्ति का वर्णन है, उसी प्रकार यहाँ 'पंच पञ्च जनः' से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की विविध शक्तियों का ग्रहण होता है। पंच-पञ्च शब्दों का अर्थ पाँच, दस पचीस और पचपन भी हो सकता है इसलिये यहां अनेक भाव के अर्थ लिये जा सकते हैं तथा पचीस के स्थान में सत्ताइस तत्वातिरेक की प्राप्ति होने से, वेद में सांख्य का ग्रहण कदापि नहीं कहा जा सकता जैसे, ठण्डी (जाड़ा) में ओढ़ने वाले 'वस्त्र' शब्द का अर्थ गर्मी में ओढ़ने वाले 'वस्त्र' की एकता करते हुये, उसके अर्थ में लगाना उचित नहीं है अर्थात् वस्तु लाओ ओढ़ने के लिये तो गर्मी का हलका वस्त्र नहीं समझना चाहिये और गर्मी में ओढ़ने का वस्तु माँगा जाय तो कम्बल के अर्थ में, वस्त्र शब्द का ग्रहण नहीं होगा। ऐसे ही वेद और सांख्य कथित अजा और 'पंच पञ्च जनाः' के अर्थ में एकता करने से अनर्थ ही होगा।

मुमुक्षु सुखेन : भगवन्! 'पंच पञ्च जनाः' किस अर्थ में वेद ग्रहण करता है? समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१।४।१२।**

व्याख्या : उपर्युक्त मन्त्र के पश्चात् (४।४।१८) में आया है कि जो उस

प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र तथा मन के मन को भली-भाँति अपने ज्ञान का विषय बना लिये हैं, वे अविनाशी पुराण पुरुष परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं। इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त मन्त्र में जो 'पंच पञ्च जनाः' पद आया है वह पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि परमेश्वर की कार्य कारिणी शक्तियों का वर्णन है क्योंकि उस परब्रह्म को ही मन्त्र में प्राण का प्राण आदि वैभव वाला तथा अपनी शक्ति व प्रेरणा से प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि को अपने-अपने कार्य में लगाने वाला बताया गया है इस-लिये पंच पञ्च संख्यक प्राणादि के रूप से, परब्रह्म की शक्तियों का ही वर्णन है, सांख्यीय तत्वों का नहीं जैसे कहा जाय कि अमुक अध्यापक के आश्रय में प्रत्येक गाँव के पांच-पांच लोग (विद्यार्थी) रहा करते हैं, इससे अध्यापक की कार्य-पटुता का एवं उसके पढ़ाने की शक्ति का ही वर्णन कहा जा सकता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! माध्यन्दिनी शाखा वाले पाठ में 'प्राणस्य प्राणम' कहकर प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्न मिलकर पांच हो जाते हैं किन्तु काण्व शाखा के मन्त्र में 'अन्नस्य अन्नम्' पाठ न होने से, यहाँ परब्रह्म की पंच प्रकार वाली शक्तियों की पूर्णता कैसे सम्भव है ?

वेदव्यासजी : **ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१।४।१३॥**

व्याख्या : काण्व शाखा के पाठ में 'अन्नस्य अन्नम्' का ग्रहण न होने से जो एक की कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति बृह० उप० (४।४।१६) के मन्त्र में कथित ज्योति के द्वारा कर लेने से चित्त समाधान को प्राप्त हो जाता है क्योंकि उस मन्त्र में ब्रह्म को ज्योति की ज्योति कहा गया है। सत्रहवें मन्त्र तो अल्पाक्षरों के द्वारा संकेत मात्र बता दिया गया है इसलिये उसमें पाँच संख्या की पूर्ति करना आवश्यक नहीं है, जैसे लोक में कहा जाता है कि अमुक पुरुष अन्न, दूध, स्त्री-पुत्र और वाहनादि से सुखी है यदि उसे कहीं केवल इतना ही किसी ने कहा कि अमुक पुरुष अन्न-दूध आदि से सुखी है तो बुद्धिमान व्यक्ति को दोनों कथनों में भेद व कमी का दर्शन नहीं करना चाहिये अपितु यह समझना चाहिये कि दूसरा कथन संकेत मात्र है, कमी कहने का अर्थ नहीं है, संकेत है कि अन्न-दूध आदि के कथन से पूर्व में सभी सुख साधन-सुविधाओं का ग्रहण मान लेना चाहिये '

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! श्रुतियों में कहीं सत् से, कहीं असत् से सृष्टि का होना

कहा गया है; साथ ही संसार के सृजन क्रम में भी अन्तर आता है। कहीं आकाश की, कहीं तेज की, कहीं प्राण की व कहीं प्राण और रवि की अर्थात् सूर्य-चन्द्र की प्रथम उत्पत्ति कही गई है। इस प्रकार उत्पत्ति क्रम में भेद होने के कारण, वेद-वाक्यों से यह निश्चित करना कैसे बनेगा कि जगत के कारण परब्रह्म परमात्मा ही हैं, और सृष्टि क्रम इस प्रकार का है।

वेदव्यासजी : कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१।४।१४॥

व्याख्या : आकाशादि जगत के कारण गौण रूप से जो-जो कहे गये हैं, उन सब को उत्पन्न करने वाला, परब्रह्म परमात्मा ही वेदों में बताया गया है इसलिये गौण कारणों के भी कारण होने से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का कारणत्व श्रुतियों से स्वतः सिद्ध है। उत्पत्ति क्रम में जो भेद पाया जाता है, वह परब्रह्म परमेश्वर के स्वातन्त्र्य और अचिन्त्य सामर्थ्य का द्योतक है। परमात्मा किसी के आधीन नहीं हैं और न किसी क्रम में बँधा है। उसकी जब जेसी इच्छा हुई, तब तैसे क्रम से सृष्टि कार्य का उपक्रम होता है क्योंकि वह अपनी कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा कर्तुं की सहज स्वरूपा शक्ति से पृथक नहीं होता। कल्प भेद से भी सृष्टि क्रम में भेद होने से कोई दोष नहीं। जैसे, किसी नगर के निर्माण में प्रथम किसी योग्य इंजीनियर को, राजा ने नियुक्त कर दिया। उसने अपने आधीन बहुत से कर्मचारी रखकर, नगर की रचना सुन्दर ढँग से की। अब विचार करें कि नगर के स्थापित होने का कारण राजा है या इंजीनियर ! प्रबुद्ध वर्ग राजा को ही नगर सुन्दर बनने का कारण कहेगा। ठीक ऐसे ही जगत के कारण परब्रह्म परमात्मा ही हैं, आकाशदि नहीं। स्वतन्त्र राजा ने किसी मकान के बनने में, किसी एक कारीगर को रखा, मकान की अल्प अवधि पूरी होने पर, दूसरे कारीगर को रखा, इसी क्रम से तीसरी, चौथी बार भी कारीगर बदलते गये तो मकान बनाने के क्रम भेद में राजा स्वतन्त्र है। इसी प्रकार सृष्टि उत्पत्ति क्रम में भेद होने से कोई दोष नहीं आता। इससे परमात्मा का महत्व ही प्रकाशित होता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपनिषदों में कहीं कहा गया कि पहले केवल 'असत्' था, कहीं कहा गया कि पहले केवल 'सत्' था, कहीं पहले अव्याकृति था, तो क्या असत् आदि ब्रह्म के वाचक रूप में ग्रहण होते हैं ? क्योंकि यह भी कहा

गया है कि पहले केवल ब्रह्म था जो जगत का कारण है, अस्तु, इस संशय को शमन करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **समाकर्षात् ।।१।४।१५।।**

व्याख्या : पूर्व और पर में कहे हुये जो वेद वाक्य हैं, उनका पूर्ण से आकर्षण अर्थ (उद्देश्यार्थ) को खींचकर, सबका समन्वय करने अर्थात् सम्बन्ध को मिलाने से असत् आदि शब्द परब्रह्म परमात्मा के ही वाचक सिद्ध होते हैं जैसे तैत्तरीय (२।७) में कहा गया है कि पूर्व में यह 'असत्' ही था इसी से 'सत्' उत्पन्न हुआ, अब विचार करें कि जिससे सत् स्वरूप जगत उत्पन्न हुआ, वही तो ब्रह्म है जिसे सत्य, ज्ञान, अनन्त कहकर श्रुति निर्देश करती है, इससे सिद्ध होता है कि यहाँ 'असत्' शब्द ब्रह्म के ही अर्थ में कहा गया है, सो कैसे ? यहाँ असत् का अर्थ अभाव व मिथ्या नहीं है। यहाँ असत् का अर्थ अप्रकट ब्रह्म है, जिससे सत् रूप अर्थात् प्रकट ब्रह्म रूप, जगत ब्रह्म हुआ इससे परब्रह्म और अपरब्रह्म का ज्ञान कराया गया है। भगवद्गीता में भगवान के श्री मुख वाणी से भी यही निकला कि मैं 'सत्' भी हूँ और 'असत्' भी हूँ अर्थात् प्रकट ब्रह्म और अप्रकट ब्रह्म दोनों मेरे ही विशेषण हैं। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद में अव्याकृति शब्द आया है, असत् के स्थान पर जो असत् का पर्याय है। जिसकी कोई आकृति न हो, वही अव्याकृत है, अस्तु, अव्याकृत का अर्थ, यहाँ वही लगाना चाहिये, जो असत् का लगाया गया है इसलिये जगत के कारण रूप में कहे गये जो भिन्न-भिन्न नाम हैं, उन्हें परब्रह्म परमात्मा का वाचक ही मानना चाहिये क्योंकि परमात्मा को सर्वनामा सनातनः कहा गया है। प्रकृति या प्रधान की सार्थकता परब्रह्म परमेश्वर की शक्ति मानने पर ही, वेद के कथानुसार सिद्ध होती है, अन्य पदार्थ व तत्व मानने पर श्रुति सिद्धान्त से उसका कोई अस्तित्व नहीं इसलिये अलग से प्रधान या प्रकृतिकार्यों को जगत के कारण रूप में कल्पना करना वेद के अनाधिकारियों की व्यर्थ चेष्टा है जैसे, लोक में कहा जाता है कि अमुक पुरुष पहले असत्, अविश्वसनीय था किन्तु वर्तमान में वह सत् और विश्वासपात्र के रूप में दृष्टि-गोचर हो रहा है। इसका अर्थ यही होगा कि इस पुरुष के सत् गुण और विश्व-स्तपन अप्रकट थे इसलिये इसे असत् और अविश्वसनीय लोग मानते थे, यही अर्थ उपर्युक्त संदेह की निवृत्ति के लिये उपयुक्त है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जगत के निमित्त तथा उपादान कारण स्वयं परब्रह्म

परमात्मा ही हैं, जड़भूता प्रकृति नहीं है। इस सिद्धान्त को और पुष्ट करने के लिये क्या कोई और प्रमाण है ?

वेदव्यासजी : **जगद्वाचित्वात् ।।१।४।१६।।**

व्याख्या : कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद में (४।२) से लेकर (४।१७) तक बालाकि ने अपने उपास्य देवों का वर्णन किया है, यथा "जो सूर्य में यह पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ" से प्रारम्भ कर अन्त में बायीं आँख में जो यह पुरुष है, उसका मैं उपासक हूँ। इस प्रकार आदि, मध्य अन्त तक में सोलह देवों का उपासक अपने को कहा है, तब अजात् शत्रु ने उसके सारे देवों को उपासना के योग्य न बताकर कहा कि, "हे बालाके ! तुम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ज्ञान से रहित हो, जो तुम्हारे बताये हुये सोलह पुरुषों का कर्ता है अर्थात् उन्हें बनाने वाला है, जिसका जड़-चेतनात्मक जगत कर्म है अर्थात् तुम्हारे जाने हुये पुरुष (चैतन्य) और उनके अधिष्ठान देह (जड़) का रचयिता है, वही जानने योग्य ब्रह्म है, इसलिये जड़-चेतनात्मक जगत का वाचक रूप कर्म का कर्ता परब्रह्म परमेश्वर है अतः जड़ प्रकृति जगत का कारण नहीं हो सकती। परब्रह्म ही जगत का कारण सब प्रकार से सिद्ध होता है जैसे, साधन सामग्रियों को जुटाकर, भोजन बनाना रूप कर्म का कर्ता भोजन बनाने वाला पुरुष ही है। अग्नि, पानी लकड़ी, अन्न और बटलोई आदि जड़ रूप साधन सामग्रियाँ नहीं हैं, वैसे ही इस जगत का कर्ता परब्रह्म है, जड़ प्रकृति नहीं।

मुमुक्ष मुखेन : प्रभो ! ज्ञेय तत्व परब्रह्म परमात्मा है। प्राण व जीव नहीं है, इस वार्ता को दृढ़ करने के लिये कुछ और कहें।

वेदव्यासजी : **जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ।।१।४।१७।।**

व्याख्या : उपर्युक्त प्रसंग में प्राण व जीव धर्म के लक्षण, श्रेय तत्व बिषयक निर्णय में पाये जाने के कारण, प्राण व जीव को ज्ञेय क्यों नहीं मानना चाहिये, इस शंका का निर्णय तो (१।१।३१) में किया जा चुका है। वहाँ यह बताया गया है कि ब्रह्म सभी धर्मों का आश्रय है इसलिये प्राण व जीव के धर्मों का उसमें

निर्देशन कराना कोई अनौचित्य का आरोपण नहीं है, यदि जीव व प्राण को भी ज्ञेय मान लेंगे तो त्रिविधि उपासना तथा तीन उपास्य देव के मानने का दोष पूर्ण प्रसंग उपस्थित हो जायगा जो वेद के विरूद्ध है जैसे, दूध में दही, घी, नमक, मीठा आदि के धर्म पाये जाते हैं किन्तु जहाँ रोग-निवृत्ति के लिये दूध-कल्प का विधान बताया गया हो, वहाँ दूध में दही, घी, मट्ठा आदि के कुछ गुण होने पर भी, रोग-निवृत्ति के लिये दही, घी, मट्ठा, नमक व मीठा का कल्प करना, महान अज्ञता का द्योतक है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में अन्य आचार्यों का क्या कथन है ?

वेदव्यासजी : अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१।४।१८॥

व्याख्या : जैमिनि आचार्य का कथन है कि उक्त प्रकरण में जो जीवात्मा का और मुख्य प्राण का वर्णन आता है, वह ब्रह्म को जगत का कारण सिद्ध करने के लिये ही है । जीवात्मा व मुख्य प्राण को कारण बताकर व्यर्थ व असिद्ध श्रम करने के लिये नहीं हैं; वहाँ यह कहा गया है कि जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म से मिलकर, अपने पने का भाव भूल जाता है । इस संकेत से यह बताया गया है कि सृष्टि के अन्त में सभी जीवों का विलय परमात्मा में सुषुप्ति अवस्था के समान हो जाता है, पुनः सृष्टि काल में सबका प्राकट्य जाग्रत अवस्था के सदृश हो जाता है, इस दृष्टान्त से परब्रह्म परमात्मा को ही जगत का कारण सिद्ध किया गया है, ठीक इसी प्रकार वृह० उप० (२।१।१७) में एक (काण्व) शाखा वाले भी जीव को 'स्वपिति' संज्ञा देकर, सुषुप्ति अवस्था के दृष्टान्त से सभी जीवों का विलय, परमात्मा में बताकर पुनः उन्हीं ब्रह्म से जाग्रत की भाँति जगत का प्रकट होना कहा हैं, इससे सर्व प्रकारेण सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही जगत का उपादान और निमित्त व सहकारी कारण है जैसे, अन्न व सर्व औषधियाँ पृथ्वी से उत्पन्न होती हैं और समय आने पर उसी में विलीन हो जाती हैं । जैसे, अपान वायु से अन्न उत्पन्न होकर, अपान वायु द्वारा ही भोक्ता के उदर में जाकर, पुनः अपान द्वारा मल रूप से अपान ही में समा जाता है । यहाँ अपान वायु का रहना शास्त्र में पृथ्वी में बताया गया है इसलिये अन्न को वायु द्वारा उत्पन्न कहा गया है । इससे अन्न उत्पत्ति अपान वायु से नहीं सिद्ध होती, पृथ्वी से ही शास्त्रों ने

बताई है, उसी प्रकार जगत की उत्पत्ति, प्राण व जीव से नहीं होती, परमात्मा से ही होती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जैमिनी जी की युक्ति कोई उक्त वार्त्ता को पुष्ट करने वाली हो, तो कहें।

वेदव्यासजी : **वाक्यान्वयात् ॥१।४।१९॥**

व्याख्या : पूर्व और पर के वाक्यों का समन्वय करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य में जीव व मुख्य प्राण का वर्णन भी परब्रह्म परमात्मा को जगत का कारण सिद्ध करने के लिये ही है। यह तथ्य कौशीतकि उप० (४।१८) तथा कौशीतकि उप० (४।२०) में दृष्टव्य है जैसे, अयोध्या का वर्णन प्रारम्भ और अन्त में किसी के द्वारा किया गया किन्तु बीच में परिक्रमा के अन्दर आने वाले स्थानों की महिमा का वर्णन भी अयोध्या के महत्वार्थ ही समझना चाहिये। उपक्रम और उपसंहार का सिद्धान्त एक होने से किसी वक्तव्य का प्रयोजन वही माना जाता है जो आदि अन्त में होता है। मध्य का कथन पूर्व-परवाक्यार्थ की पुष्टि के लिये होता है, अन्य प्रयोजन के लिये नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! उक्त वार्ता का समर्थन क्या कोई और आचार्य करते हैं ?

वेदव्यासजी : **प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः ॥१।४।२०॥**

व्याख्या : उपर्युक्त निर्णय देने में समर्थ आचार्य आश्मरथ्य का कथन है कि अजात शत्रु ने बालाकि से जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' 'तुमको ब्रह्म का स्वरूप समझाऊँगा' उस प्रतिज्ञा की सत्यता परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को जगत का कारण बताने में ही संभव है अन्यथा आचार्य वाणी में असत्यता का काला बिन्दु लग जायगा इसलिये उस प्रकरण में जीवात्मा व मुख्य प्राण का जो वर्णन है वह, परब्रह्म परमात्मा को जगत का कारण सिद्ध करने के लिये है। जैसे, कोई अध्यापक किसी प्रश्न का उत्तर यथार्थ देता है यदि यथातथ्य उत्तर न दे तो उसकी गति उपर्यचर बसु की तरह हो जाती है, अतः यह त्रिसत्य है कि अजात् शत्रु ने बालाकि को सत्य पूर्ण उत्तर देकर, ब्रह्म को जगत का कारण कहा

है, अन्यथा प्राण व जीवात्मा को कारण कहने से उनकी गति 'उपर्यंचर' की तरह हो जाती।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! उक्त विषय में अन्य किसी आचार्य का कोई मत हो तो, उसे कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥१।४।२१॥

व्याख्या : दूसरी श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता विद्वान मृत्यु के पश्चात् परमधाम में पहुँचकर, परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं जैसे, नदियाँ समुद्र में जाकर, अपने नाम रूप से रहित हो विलीन हो जाती हैं इसलिये औडुलोमि आचार्य मानते हैं कि उक्त प्रकरण में जीवात्मा और मुख्य प्राण का वर्णन, जगत की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का कारण परब्रह्म परमात्मा को बताने के लिए है। मुण्डकोपनिषद (३।२।७-८) में उक्त अर्थ की पुष्टि परक वार्ता द्रष्टव्य है जैसे, रावण का तेज पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम में समा गया। इससे सिद्ध होता है कि रावण की जीवात्मा व मुख्य प्राण कारण नहीं हैं क्योंकि कार्य ही अपने कारण में विलीन होता है अतः कारण परब्रह्म ही है

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अन्य किसी आचार्य का मत क्या और है जो उपर्युक्त वार्ता को पुष्टि कारक सिद्ध हो ?

वेदव्यासजी : अवस्थितेरिति काशकृत्स्न ॥१।४।२२॥

व्याख्या : प्रलय समय में चराचर जगत की स्थिति परब्रह्म परमात्मा में बताई गई है। प्रश्नोपनिषद (४।११) से भी यही सिद्ध होता है कि उक्त प्रकरण में प्राण और जीवात्मा को परब्रह्म में जो विलीन होना, आया है, वह परब्रह्म परमात्मा के जगत कारणत्व को समर्थन करने के लिये है, अन्यार्थ के लिये नहीं, यह आचार्य काशकृत्स्न का कथन है। जैसे, किसी वंश परम्परा में आये हुये कुछ विशेष व्यक्तियों के महत्व का वर्णन, उस वंश की महिमा का ही द्योतक माना जाता है, उसी प्रकार प्राण और जीवात्मा का ब्रह्म में लीन होने का प्रसंग, परब्रह्म परमेश्वर को जगत का कारण सिद्ध करने के लिये है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! श्वेताश्वतरोपनिषद (६।८) इत्यादि कई मन्त्रों में शक्ति, अजा, माया और प्रधानादि नामों से जिजका वर्णन किया गया है, उसी को परब्रह्म परमेश्वर की अध्यक्षता में जगत का कारण कहा गया है, जिसका समर्थन गीता आदि स्मृतियाँ स्पष्ट रूप से करती हैं, इससे यह निश्चय होता है कि जगत का निमित्त कारण या संचालक अधिष्ठाता व व्यवस्थापक अवश्य ईश्वर है परन्तु उपादान कारण प्रकृति या माया के वाच्य प्रधान को मान लें, तो इसमें कौन सा विरोध उत्पन्न होगा है ?

वेदव्यासजी : प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।।१।४।२३।।

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा को उपादान कारण मान लेने पर ही वेद-वर्णित प्रतिज्ञा वाक्यों और दृष्टान्त वाक्यों की सत्यता सिद्ध होगी अर्थात् वे बाधित होने से बच जाँयगे अन्यथा श्रुति प्रतिज्ञा के नष्ट होने से, अनर्थ की आत्यन्तिका दर्शन दिये बिना न रहेगी। छान्दो० उप० (६।१।२-३) में श्वेतकेतु के पिता ने अपने पुत्र से पूछा कि तुमने अपने गुरुदेव से पूछकर, उस तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि जिससे सुनने से सब सुना हुआ हो जाता है, और जिसके मनन करने से सब मनन किया हो जाता है। श्वेतकेतु ने कहा मैं तो यह नहीं जानता, न गुरुदेव ने बताया ही, तब पिता ने कहा, "वत्स ! जैसे मिट्टी का ज्ञान कर लेने से, मिट्टी के बने हुये खिलौनों का ज्ञान अपने आप हो जाता है, इसी प्रकार सुवर्ण का ज्ञान होने पर स्वर्ण के बने अलंकारों का ज्ञान सहज ही हो जाता हैं, वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर चराचर जगत जाना हुआ हो जाता है। यहाँ पिता का पुत्र से पूछना प्रतिज्ञा है और मिट्टी के माध्यम से ब्रह्म विषयक वार्ता समझना दृष्टान्त है। प्रधान का ज्ञान होने से प्रधानांश ही जाना जायगा, ब्रह्म नहीं इसलिये वेद-वर्णित प्रतिज्ञा वाक्य और दृष्टांत वाक्य का विघात हो जायगा, यदि प्रधान को उपादान कारण मानते है तो, अतएव ब्रह्म ही जगत का उपादान कारण है, यही श्रुति का सिद्धान्त है। जैसे, मिट्टी के खिलौने व पात्र बनते हैं, अगर कुम्भकार चक्र, व दंडे को ही खिलौनों का उपादान कारण माने, मिट्टी को स्वीकार ही न करे, तो कितनी अज्ञता है तदनुसार उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये। श्रुति वाक्य एवं भगवद्गीता आदि स्मृति वाक्यों से यही अकाट्य सिद्धान्त निकलता है कि प्रधान या प्रकृति, अजा व माया नाम से परमात्मा की स्वरूपा शक्ति को ही परब्रह्म परमात्मा की अध्यक्षता में जगत कार्य

करने को बताया गया है, इसलिये जगत का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता की सिद्धि के लिये कुछ और कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : अभिध्योपदेशाच्च ।।१।४।२४।।

व्याख्या : तै० उ० (२।६) छान्दो० उप० (६।२।३) आदि की श्रुतियों में बताया गया है कि परब्रह्म ने चिन्तन किया अर्थात् संकल्प किया कि मैं 'एक से बहुत हो जाऊँ, अर्थात् बहुत रूपों में अपने को प्रकट करूँ' इससे यह सिद्ध होता है कि जब पहले कोई न था, मात्र परब्रह्म थे, तब उन्होंने संकल्प द्वारा अपने को जगत रूप में प्रकट किया, अस्तु, जगत के उपादान, निमित्त और सहकारी कारण परब्रह्म परमेश्वर ही हैं, अन्य कोई नहीं जैसे, काठ के खिलौने बनने का उपादान कारण काठ ही है, अन्य नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त वार्ता की पुष्टि के लिये कोई और सिद्धान्तीय वार्ता कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।।१।४।२५।।

व्याख्या : साक्षात् श्रुति वचनों से यह बार-बार निष्कर्ष निकलता है कि जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमात्मा ही हैं जैसे, श्वेताश्वत-रोपनिषद (१।१।२) में महर्षि गणों ने अपने ध्यान योग से, परमात्मा की अचिन्त्य अविनाभूता शक्ति का दर्शन करके, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही जगत का उपादान और निमित्त कारण समझा। परब्रह्म परमात्मा के उपादानकारणत्व का साक्षात् कर लेने के कारण ही, इसी उप० (२-१६) तथा अन्य-अन्य उपनिषदों में परब्रह्म परमेश्वर को 'सर्व रूप' 'सर्वात्मा' 'सर्वकारण' 'सर्वान्तर्यामी आदि नामों से अभिहित किया जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म ही है। भाई ! यदि कोई सिर फिरा आदमी अपने पिता का नाम न बता सके और न ज्ञान ही रखे किन्तु यदि उसकी माँ कह दे कि

यह मेरा पुत्र है, इसके पिता ये हैं, जो सामने खड़े हैं, अस्तु, मां के उक्त वचनों से उसके पिता का ज्ञान सुधी पुरुषों को हो ही जायगा, भले बुद्धि-हीनों को न हो, उसी प्रकार ब्रह्म-शक्ति का दर्शन कर, उसके संकेत से परब्रह्म परमात्मा को जगत का कारण महर्षियों ने समझ लिया है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता के सिद्धि के लिये कोई अन्य प्रमाण और हो तो कहने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **आत्मकृतेः ।।१।४।२६।।**

व्याख्या : परब्रह्म परमेश्वर स्वयं अपने को जगत रूप में प्रकट करने का संकल्प करता है क्योंकि सृष्टि के पहले यह जगत अदृश्य था। जगत नाम की कोई वस्तु न थी। परमात्मा स्वयं अपनी संकल्प शक्ति से जगत रूप हो गया, तै० उप० (२।७) में यह स्पष्ट वर्णन मिलता है। इससे श्रुति सिद्धान्तानुसार जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर ही है जैसे, कोई सर्व समर्थ राजा कहे कि इस घनघोर जंगल में, मैं अनुपम नगर का निर्माण कर स्वयं यहाँ अपना निवास स्थान बनवाकर रहूँगा। नगर निर्माण हो जाने पर नगर बनने का कारण सप्रमाण कोई जानना चाहे तो नगर निर्माण के कारण राजा ही सिद्ध होंगे तथा इस तथ्य वार्ता के प्रमाण रूप में स्वयं राजा के वचन व संकल्प ही लिये जांयगे।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो जब परब्रह्म परमेश्वर आदि से, कर्ता के स्वरूप में स्थित हैं तो वह कर्म के रूप से कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **परिणामात् ।।१।४।।२७।।**

व्याख्या : श्रुतियों ने परब्रह्म परमात्मा को जगत रूप में प्रकट होने की वार्ता बार-बार कही है, जिससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही कर्ता है और स्वयं ही जगत रूप कर्म बना हुआ है जैसे, एक सिद्ध योगी स्वयं कर्ता है और अपने को अनेक रूपों में प्रकट कर लेना कर्म भी बन जाता है, वैसे ही महायोगेश्वर पुरुषोत्तम भगवान स्वयं कर्ता होकर, अपनी अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से जगत रूप कर्म बन जांय तो इसमें कौन आश्चर्य है ! तैत्तरीयोपनिषद (२।६) की श्रुति

में परब्रह्म परमात्मा को एक साथ कर्ता और कर्म के रूप में दर्शन देने का वर्णन दृष्टव्य है। इसलिये श्रुति सिद्धान्त से परब्रह्म परमात्मा ही जगत के उपादान कारण और निमित्त कारण हैं, जगत के कर्ता भी हैं और जगत रूप से कर्म भी हैं, युगपद विरोधी धर्मों का आश्रय एवं अचिन्त्य स्वरूपा शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर सब कुछ करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हैं इसलिये उसमें कुतर्क और शंका का स्थान नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त सिद्धान्त के समर्थन में कोई अन्य प्रमाण हो, तो उसे भी प्रकट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **योनिश्च हि गीयते ॥१।४।२८॥**

व्याख्या : वेद में परब्रह्म को 'योनि' अर्थात् उपादान कारण, आदि कारण बताया गया है जैसे, मु० उप० (३।१।३) में 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्' अर्थात् जो समस्त चराचर जगत के कर्ता एवं शासक और ब्रह्मा जी की भी योनि (प्रकट करने वाले उपादान कारण) परम पुरुष को जो देखता है; पुनः मु० उप० (१।१।६) में 'भूत योनिं परिपश्यन्ति धीराः' उस चराचरात्मक समस्त प्राणियों की योनि अर्थात् उपादान कारण, परब्रह्म परमेश्वर को धीर, ज्ञानी जन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं, पुनः मु० उप० (१।१।७) में तथा अन्यत्र भी परब्रह्म को जगत योनि (उपादान कारण) कहकर, वेदान्त वर्णन करता है इसलिये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही जगत के उपादान और निमित्त कारण हैं, अन्य कोई नहीं। ऐसा समझकर उनके पारतन्त्र्य को स्वीकार कर, सदा उनके प्रसन्नार्थ चेष्टा करनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षियों के प्रश्न का उत्तर देना अभी क्या शेष है ?

वेदव्यासजी : **एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥१।४।२९॥**

व्याख्या : उपर्युक्त सूत्रों के द्वारा अर्थात् उनके विवेचन से समस्त पूर्व पक्षियों के प्रश्न का उत्तर दे दिया गया, उत्तर दे दिया गया। प्रधान कारण वादी

नैयायिकों के मत का खण्डन, उक्त विवेचन से करके परब्रह्म परमात्मा को जगत का उपादान और निमित्त कारण मानने का स्थैर्य सिद्धान्त वेदान्त दर्शन से कर दिया गया, निस्संदेह सूत्र में दो बार (उत्तर दे दिया गया) कहने का अर्थ सिद्धान्त की सत्यता एवं परिपुष्टि के लिये है।

तात्पर्यार्थ : जड़-चेतानात्मक जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमात्मा हैं। प्राण व सांख्य कथित प्रधान (प्रकृति) तथा जीवात्मा नहीं हैं, ये सब ब्रह्म से ही स्वयं जब प्रकट होते हैं, तो ये जगत कारण कैसे हो सकते हैं।

प्रधान, माया, अजा व प्रकृति शब्द परब्रह्म की स्वरूपा अचिन्त्य शक्ति के वाचक हैं, ऐसा मानने पर ही इनकी सार्थकता है अन्यथा बिना परमात्मा की अध्यक्षता व आधीनता के साँख्य कथित 'प्रधान' की संज्ञा भी मिट जायगी। स्वयं महर्षियों ने ध्यान योग के सहारे परमात्मा की उस अचिन्त्य शक्ति का दर्शन किया जो अपने गुणों से अपने को छिपाये हुई थी। अन्त में उन लोगों ने यह प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया कि जिसमें ऐसी शक्ति संनिहित है, वही परब्रह्म परमात्मा अपनी अनन्त प्रकार की स्वरूपा शक्तियों से सम्पन्न, जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण है इसलिये ब्रह्म-प्राप्ति अर्थात् भगवत्-प्राप्ति की कामना रखने वाले, जिज्ञासुओं परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का आश्रय ग्रहण कर, उनके नाम, रूप, लीला, धाम में अनुरक्ति रखते हुये तदर्थ विहित कर्मों का अनुष्ठान कर-करके कालक्षेप करना चाहिये, यही प्रथम अध्याय के चौथे पाद का सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र के)
प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त

प्रथम अध्याय समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के

द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! सांख्य कथित प्रधान तत्व को जगत का कारण न मानने से, सांख्य स्मृति को मान्यता न देने का दोष उपस्थित हो जायगा।

वेदव्यासजी : स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् ॥२।१।१॥

व्याख्या : यदि श्री कपिल देव जी की बनाई सांख्य स्मृति को वेद में प्रमाणित नहीं किया गया तो कोई दोष नहीं क्योंकि सांख्य को मान्यता देने से भगवान श्रीकृष्ण की वाणी रूप गीता स्मृति, विष्णु-पुराण और मनुस्मृति आदि बहुत सी स्मृतियों को प्रमाणित न मानने का दोष उपस्थित हो जायगा। ये स्मृतियाँ भी महर्षियों (महापुरुषों) की बनाई हुई हैं इसलिये वेद के अनुकूल अर्थ बताने वाली स्मृतियों को ही प्रमाणित मानना औचित्य का आदर है। वेद के प्रतिकूल अर्थ का प्रचार करने वाली, अपनी मन गढ़न्त स्मृतियों को प्रमाणित मानने से वेद व्यर्थ हो जायगा और उसके विरोध से सारे वेद-विहित कर्मों का लोप हो जायगा और उसके लोप होने से जगत का कल्याण कदापि संभव नहीं इसलिये कहा गया है कि वेद-विरुद्ध भगवत-वाक्यों को भी स्वीकार नहीं करना चाहिये, न जाने वे वाक्य किस प्रयोजन से कहे गये हैं; वास्तव में स्मृतियाँ, वेदों के अर्थ रूप (अनुकूल) में ही बनाई गई हैं, उनका वेद से विरोध नहीं अपितु वेद के उपवृंहण रूप में है अतएव जहाँ श्रुति वाक्यों और स्मृति वाक्यों का विरोध उत्पन्न होता हो, वहाँ वेद वाणी को ही बलवान और प्रमाणित मानना चाहिये जैसे, पुराने आदमी से पूछा जाय कि इस तालाब का निर्माण कैसे, कब और किस तरह से हुआ, उत्तर में वह एक सौ पचीस वर्ष का बुड्ढा बतलाया कि जब हम पचीस वर्ष के थे, तब यह तालाब सिंचाई के अभाव को पूर्ण करने के लिये

अमुक संवत् में आसपास के चार ग्रामों के निवासियों से श्रमदान तथा कुछ चन्दा लेकर चार वर्ष में तैयार हुआ था। उसमें हम मुखिया थे नित्य उसकी देखभाल करना हमारा काम था। साथ में अमुक के बाबा, अमुक के चाचा, अमुक के पिता और अमुक के नाना इत्यादि काम करते थे, इतने में किसी नवयुवक ने कहा कि नहीं, नहीं हमारे बाबा गरीब थोड़े ही थे जो श्रमदान करने जाते, वे पैसा देकर एक मजदूर को भेज देते थे। अब विचार करें कि पुराने पुरुष व नवयुवक की किसी बात में भेद होने से पुराने पुरुष की बातें ही बलवान व प्रमाणित मानी जानी चाहिये कि नहीं। पुराने आदमी की देखी हुई बाते ही नवयुवक की सुनी हुई बातों से बलवान व प्रमाणित सिद्ध होंगी, यही सुधीजनों का निर्णय है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सांख्योक्त 'प्रधान' को जगत का कारण स्वीकार न करने से कोई दोष न होगा क्या ?

वेदव्यासजी : **इतरेषां चानुपलब्धे ॥२।१।२॥**

व्याख्या : मनु आदि स्मृतिकारों ने सांख्य शास्त्रोक्त 'प्रधान' को सांख्य प्रक्रिया के अनुसार जगत का कारण मानना तथा उससे सृष्टि क्रम का प्रारम्भ होना अपनी स्मृतियों में नहीं लिखा है इसलिये इस विषय में सांख्य को प्रमाणित न मानना सर्वथा उचित है जैसे, चार छः महापुरुष कहते हैं कि यह बगीचा अमुक जमीदार ले लगवाया था, इतने में एक आदमी यह कहता है कि नहीं, नहीं यह बगीचा उनके नाती ने लगवाया था। दो तरह की बातों पर निर्णय लेने वाले सुधी पुरुष यही कहेंगे कि चार छः पुरुष सयाने भी है और मत्यैक है, अस्तु, इन्हीं की वार्ता सत्य है। नाती कभी-कभी साथ में आता रहा होगा इसलिये बिना जाने समझे यह आदमी बगीचे का निर्माता नाती को बतला रहा है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जब सांख्योक्त सृष्टि प्रक्रिया को महर्षि पातञ्जलि जो योग शास्त्र प्रवर्तक हैं, मान्यता देते हैं, तब उसको मान्यता क्यों नहीं देनी चाहिये ?

वेदव्यासजी : **एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥२।१।३॥**

व्याख्या : अन्य विषयों में सांख्य और योग का मतभेद होने पर भी योग

ने दृश्य (जड़ प्रकृति) को स्वतन्त्र कारण स्वीकार किया है इसलिये सांख्य की भाँति योग शास्त्र को भी प्रत्युत्तर, उपर्युक्त सूत्र के विवेचन से दे दिया गया, समझना चाहिये। जैसे, किसी ने प्रश्न किया कि यह कपास किस खेत से उत्पन्न हुई है, उत्तर में दो आदमियों ने पृथक-पृथक कहा कि अमुक खेत में पैदा हुई है। तीसरा व्यक्ति जो कपास को जन्म देने वाले खेत को भली-भाँति जानता था, उसने उन दो उत्तर दाताओं में से एक से सप्रमाण कहा कि यह रुई अमुक खेत में पैदा हुई है, तुम्हारी जानकारी गलत है, इस प्रकार उसकी वार्ता का खण्डन हो जाने से, दूसरे व्यक्ति की तद्विषयक वार्ता भी खण्डित हो गई, समझ लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कोई-कोई कहा करते हैं कि वेद से सांख्य मत की एकता सिद्ध हो जाती है।

वेदव्यासजी : न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।।२।१।४।।

व्याख्या : हां, हां पूर्व पक्षी कहा करते हैं कि जैसा कारण होता है वैसे ही उसका कार्य होता है जैसे, सोने के अलंकार सोने जैसे ही होते हैं किन्तु परब्रह्म चेतन है और जगत रूप कार्य ब्रह्म से विलक्षण जड़ है इसलिये चेतन परब्रह्म, जड़ जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता। जगत का जड़ होना जब वेद में वर्णित है तब वेद मत और सांख्य मत की एकता स्वयं सिद्ध हो जाती है इसलिये जड़ जगत का कारण जड़ भूत प्रधान तत्व को मानना उचित है। तै०उप०(२।१) और तै० उप० (१।७) का प्रमाण देकर अपनी उक्त वार्ता को पुष्ट करते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! कोई उत्तर पक्षी पुरुष यदि यह कहे कि छान्दो० उप० में आकाश आदि तत्वों का वर्णन चेतन जैसा मिलता है तथा पुराणों में भी समुद्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन चेतन जैसा जब प्राप्त होता है तब जगत, परब्रह्म से विलक्षण जड़ सिद्ध नहीं होता इसलिये परब्रह्म को जगत का कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है, अस्तु, इस कथन के पश्चात् पूर्व पक्षियों की ओर से कौन सा तर्क उपस्थित होता है ?

वेदव्यासजी : अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।२।१।५।।

व्याख्या : पूर्व पक्षी कहा करते हैं कि जहां आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत

आदि का वर्णन चेतन जैसा आता है, वहाँ उनके अभिमानी देवताओं का वर्णन है न कि आकाश आदि का। यह वार्ता वहाँ के विशेष शब्दों के प्रयोग से सिद्ध होती है तथा अण्ड प्रवेश क्रम में वायु, अग्नि, आदि को अण्ड में प्रवेश होना कहा और उन्हें देवताओं की संज्ञा भी दी गई है, छान्दो० उप० (६।३।२) तथा ए० उप० (१।२।४)में उक्त अर्थ देख सकते हैं इसलिये परब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहना युक्ति संगत सिद्ध नहीं होता। जगत में भी ब्रह्म के चेतन धर्म से विपरीत पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश जड़ रूप में दृष्टि के विषय बन रहे हैं।

मुमुक्षु मुखेन : हे वेदात्मन् ! इस विषय में आपका क्या निर्णय है ? जानना चाहता हूँ।

वेदव्यासजी : **दृश्यते तु २।।१।६।।**

व्याख्या :–वेदों में उपादान कारण महा चेतन परब्रह्म से विलक्षण अर्थात् विपरीत वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन भी देखा जाता है। मुण्डकोपनिषद (१।१।७) में बताया गया है कि जैसे चेतन जीवों में जीते ही नख, लोम, की उत्पत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार चेतन परब्रह्म परमात्मा से जड़ जगत की उत्पत्ति होती है। भाई ! परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान तर्क से नहीं होता क्योंकि वह अतर्क्य हैं। पूर्व पक्षी बिना पक्ष के उड़कर आकाश को हठात् अपनी मुट्ठी में लाने का प्रयास करते हैं, अस्तु, उनके हाथ निराशा ही लगती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यदि निर्गुण निराकार ब्रह्म से सावयव जड़ जगत की उत्पत्ति मानते हैं तो 'असत्' अर्थात् जो वस्तु नहीं थी प्रथम, उसकी उत्पत्ति होने का दोष आ जायेगा, जो वेद विरुद्ध है। सरल अर्थ में यह है कि जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति होकर, आँख का विषय बनकर, प्रत्यक्ष दीखने का दोष उत्पन्न होगा।

वेदव्यासजी : **असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।।२।१।७।।**

व्याख्या : वेद में कारण से विलक्षण, कार्य की उत्पत्ति का अर्थात् चेतन ब्रह्म से जड़ जगत प्रकट होने का निषेध नहीं है अपितु वहाँ असत् शब्द को अभाव का वाचक माना गया है, जिसका अर्थ यह है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति

असम्भव है। वेदान्त में अभाव से भाव की उत्पत्ति अस्वीकृत है। हाँ, यह कहा गया है कि सत् स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर जो अचिन्त्य सर्व शक्तियों से समन्वित है, उसमें जड़-चेतनात्मक जगत शक्ति रूप से समाया हुआ होते हुये भी अप्रकट रहता है। वही अदर्शित जगत, सत्य संकल्प परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के संकल्प करते ही, समय पर दृष्टिगोचर होने लगता है, इसी को उत्पत्ति कहते हैं जैसे, वट बीज कितना सूक्ष्म होता है फिर भी उसमें महान वट-वृक्ष समाया रहता है, किसी को दीखता नहीं किन्तु समय पर बीज वपन कर देने से उससे वृक्ष निकलकर, सबके नेत्रों का विषय बन जाता है इसलिये परब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने से, असत् से सत् की उत्पत्ति मानना नहीं कहा जा सकता। हाँ, अविचारक बुद्धि विहीन जो कहें, उनके मुख में वस्त्र कौन रखे।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता को पूर्व पक्षी स्वीकार कर लेते हैं या कुछ शंका उपस्थित कर देते हैं ?

वेदव्यासजी : अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥२।१।८॥

व्याख्या : पूर्व पक्षी शंका उपस्थित कर कहते हैं कि यदि प्रलय काल में चराचर जगत का, परब्रह्म परमेश्वर में अप्रकट रूप से स्थित रहना माना जायगा, तब तो ब्रह्म में भी प्रकृति के जड़त्व का तथा जीवों के सुख-दुखादि भोगों के धर्म का रहना मानना पड़ेगा जो दोष परिपूर्ण है क्योंकि परब्रह्म परमात्मा को शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन, निर्विकार और असंग, श्रुतियों ने बताया है इसलिये उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! छिद्रान्तर प्रेक्षी पूर्व पक्षी की शंका का निवारण, आप श्री के द्वारा कैसे किया गया ?

वेदव्यासजी : न तु दृष्टान्तभावात् ॥२।१।९॥

व्याख्या : वेद प्रतिपाद्य सिद्धान्त में, पूर्व सूत्रानुसार पूर्व पक्षियों की शंका समीचीन नहीं है क्योंकि कार्य के धर्म अपने कारण में मिलने पर रहेंगे ही, ऐसा कोई नियम लोक-वेद में नहीं देखा सुना जाता अपितु इसके विपरीत बहुत से दृष्टान्त देखे जाते हैं कि कार्य के धर्म भी अपने कारण में मिलने पर विलीन हो

जाते हैं जैसे, कार्य रूप स्वर्ण के आभूषण अपने कारण स्वर्ण में जब मिलते हैं, तब आभूषण के धर्म अर्थात् आकार-प्रकार भी कारण में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार मिट्टी के पात्र जब अपने कारण में विलीन होते हैं, तब पात्र के धर्म भी साथ ही विलीन हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कारण किसी काल व अवस्था में अपने कार्य से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह सहज असंग, एक रस रहने वाला है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी के द्वारा कहे गये दोषों का बाहुल्य क्या उसके मत में नहीं है ? वेद मत तो सर्वथा निर्दोष है।

वेदव्यासजी : **स्वपक्षदोषाच्च ॥२॥१॥१०॥**

व्याख्या : उपर्युक्त उठाये हुये दोष, वादी के पक्ष में ही दिखाई देते हैं, वेदान्त में नहीं। जैसे, सांख्यवादी स्वयं यह कहते और मानते हैं कि जगत कारण 'प्रधान' निराकार, अव्यक्त और अग्राह्य है, अस्तु, प्रधान नामक अव्यक्त से साकार देखने, सुनने में आने वाले जगत की उत्पत्ति हुई, बताकर कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति मानने का दोष सहज स्वीकार कर लेना है। वे कहते हैं कि जगत प्राकट्य के प्रथम कार्य के शब्द,स्पर्श,आदि,दोष प्रधान में नहीं रहते,कारण से कार्य रूप जगत की उत्पत्ति के समय आ जाते हैं, ऐसी मान्यता देने से असत् से सत् की उत्पत्ति मानने का दोष ज्यों का त्यों उनके सिद्धान्त में पैर तोड़कर बैठा है, पुनः उनका कथन है कि प्रलयावस्था में जब कार्य रूप सम्पूर्ण जगत 'प्रधान' में विलीन हो जाता है तब कार्य के शब्द, स्पर्श आदि दोष प्रधान में नहीं रहते, अस्तु, ऐसा मानने पर सांख्यवादियों के मत में भी कारण में कार्य के दोष (धर्म) आ जाने की शंका स्थायी रूप से बनी ही रहेगी इसलिये वादी के उठाये हुये तीनों दोष उनके प्रधान कारण बाद में ही प्रत्यक्ष पाये जाते हैं अतएव प्रधान को जगत का कारण मानना, वेदान्त मतावलम्बियों को ही नहीं अपितु किसी को उचित नहीं है जैसे, कोई कहे कि पंकज (जलज) केवल पानी से उत्पन्न होता है इसलिये उसे जलज कहते हैं। कीचड़ (जल मिश्रित मिट्टी) से नहीं उत्पन्न होता। विचार करें कि पंकज के उत्पन्न होने का प्रधान स्थान पंक है क्योंकि उसकी जड़ पंक से ही जमती है, यह वार्ता प्रत्यक्ष देखी जाती है। जल गौण स्थानीय भले कहा जाय किन्तु मुख्य नहीं माना जा सकता। अतः जगत का मूल कारण पर-

ब्रह्म परमात्मा है, स्वतन्त्र 'प्रधान' नामक (प्रकृति) तत्व नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि वादी कहे कि तर्क में एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा तर्क आता है, अस्तु, तर्कों की झड़ी लग जाने से, सिद्धान्त संशयापन्न हो जाता है इसलिये कोई अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धान्त का निर्णय हो तो अच्छा है, तब उत्तर पक्ष से क्या उत्तर मिलेगा।

वेदव्यासजी : **तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।।२।१।११।।**

व्याख्या : तर्क के बाहुल्य एवं अनस्थैर्य का विचार कर, अनुमान के द्वारा जगत के कारण तत्त्व का निश्चय करने का विचार किया जायगा तो मोक्ष न होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा क्योंकि 'अनुमान' वेद रहित होने से वास्तविक ज्ञान कराने वाला सिद्ध नहीं होता जैसे, पर्वत पर लगे बादलों को दूर से देखकर, धुएँ का अनुमान कर लेना गलत ज्ञान ही है इस लिए अनुमान से जगत के कारण का ज्ञान न होने से, वादी का कथन ठीक नहीं है, बिना वेद वाणी (प्रमाण) के ज्ञान का साक्षात्कार नहीं हो सकता और बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिल सकता अतएव अनुमानिक निर्णय की वार्ता करना व्यर्थ है, जब हम आकाश में दृष्टिगोचर होने वाली, नक्षत्रावली का ज्ञान, अनुमान द्वारा सर्वभावेन नहीं पा सकते तब नक्षत्रों का निर्माण करने वाले अगोचर, अचिन्त्य, अनन्त, अनिर्वचनीय और मन-वाणी-बुद्धि से सर्वथा परे विलक्षण जगत के मूल कारण भूत अद्वय तत्व का पता अनुमान के द्वारा कैसे लगा सकते हैं अतः वादी का उपरोक्त कथन ऊसर भूमि में अन्न बोने के समान है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जिस प्रकार से प्रधान कारणवाद का खण्डन हो गया है, उसी प्रकार उन्हीं युक्तियों एवं दृष्टान्तों से 'अन्य वेद-विरुद्ध मतों का निराकरण हो सकता क्या ?

वेदव्यासजी : **ऐतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।।२।।१।१२।।**

व्याख्या : उपर्युक्त पांचवें सूत्र से लेकर ग्यारहवें सूत्र पर्यन्त सांख्य मतावलम्बियों द्वारा उपस्थित की हुई, शंकाओं को निराधार, वेद-विरुद्ध तर्क मात्र

बताकर जिन युक्तियों एवं दृष्टांतों द्वारा उनका निराकरण किया गया है उन्हीं युक्तियों से अन्य वेद-विरुद्ध मत-मतान्तरों का खण्डन अपने आप हो गया क्योंकि शिष्ट महापुरुषों को वेद-विरुद्ध मत मान्य नहीं है जैसे, अध्यापक एक विद्यार्थी को सम्मुख बैठाकर पाठ पढ़ाता है किन्तु उसी कक्ष में उसी पाठ के पढ़ने वाले अन्य सभी विद्यार्थी जो पास ही बैठे रहते हैं, अध्यापक के पढ़ाये हुये पाठ को हृदयंगम कर लेते हैं, उन्हें अलग से पाठ पढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार सांख्य मतावलम्बियों को उत्तर दे देने से, उन सभी मतमतान्तरों को उत्तर दे दिया गया, जो साँख्य से मिलते जुलते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रधान कारणवाद का खण्डन करके ब्रह्म कारण वाद का मण्डन हुआ, बहुत अच्छा लगा किन्तु शंका होती है कि ब्रह्म को जगत कारण मान लेने पर, स्वयं ब्रह्म को, जीव रूप में सुख- दुखादि जो कर्म विपाक के अनुरूप हैं भोगने पड़ते हैं अर्थात् ब्रह्म, सुख- दुखादि का भोक्ता है, सिद्ध हो जायगा, जिससे ईश्वर और जीव का विभाग बताना असंभव हो जायगा, इसी प्रकार जीव और जड़ वर्ग का विभाग भी नहीं रह सकेगा, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥२।१।१३॥**

व्याख्या : लोक में एक कारण से कार्यरूप में जायमान बहुत सी वस्तुओं में जैसा विभाग होना प्रत्यक्ष पाया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीवात्मा तथा जीव और जड़ वर्ग के विभागपने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं हो सकता। पिता का कार्य रूप (अंशभूत) बालक जब मां के उदर में रहता है, तब गर्भ जनित पीड़ा पिता को नहीं होती अपितु गर्भस्थ शिशु को ही होती है तथा पिता-पुत्र का पृथकत्व भी बना रहता है, साथ ही एक पिता की बहुत सी सन्तानों में परस्पर विभाग भी बना रहता है और एक-दूसरे के कर्मफल को भी नहीं भोगते, सब अपने-अपने कर्म फल के भोक्ता बने रहते हैं, इसी प्रकार पृथ्वी से उत्पन्न हुई वस्तुओं तथा उनसे उत्पन्न कार्य रूप घट-पट, पलंग आदि के नाम-रूप में भेद बना ही रहता है। तदनुसार ब्रह्म को कारण मानने से ईश्वर-जीव, जीव और जड़-वर्ग में विभाग बने रहने में कोई आपत्ति नहीं अर्थात् एक ब्रह्म से असंख्य कार्य होने पर भी उनके पारस्परिक विभाग में कोई बाधा न होगी तथा अनंत जीव

एक-दूसरे के कर्म फल के भोक्ता न होकर, अपने-अपने किये हुये कर्मों के अनुसार पृथक-पृथक सुख-दुख आदि के भोक्ता बने रहते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता के मानने पर कारण और कार्य में अनन्यता (एकता) क्या सिद्ध होगी ?

वेदव्यासजी : तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।।२।१।१४।।

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (६।१।४) में बताया गया है कि जैसे मिट्टी के एक ढेले को तत्वतः जान लेने पर, मिट्टी के बने हुये, समस्त कार्य रूप पात्र जाने हुये हो जाते हैं, पात्रों के नाम-रूप के भेद व्यवहार के लिये हैं अर्थात् व्यवहारिक वाणी से उनका कथन मात्र होता है; वास्तव में तो वे कार्य रूप पात्र मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इसी प्रकार ब्रह्म का कार्य रूप यह जगत, व्यवहार के लिये अनेक नामों व आकृतियों वाला होते हुये भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिये कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत में कोई भेद नहीं है, कारण-कार्य की अनन्यता सिद्धि के लिये कोई बाधा आड़े नहीं आती। इसी प्रकार छान्दो० उप० (६।२।१) में भी कहा गया है कि यह जगत उत्पन्न होने के पहले एक मात्र अद्वय सत स्वरूप ब्रह्म था अर्थात् भोग्य-भोक्ता के रूप में भिन्न-भिन्न नाम व आकृतियों के रूप में दीखने वाला यह चराचर जगत जो परब्रह्म की परा व अपरा शक्ति नाम से भगवान के मुख से बताया गया है। सृष्टि के प्रथम और प्रलय के अन्त में परब्रह्म में ही अप्रकट रूप से (ब्रह्म की अभिन्न स्वरूपा शक्ति रूप में) स्थित था। इससे कारण और कार्य की सहज अनन्यता सिद्ध हो जाती है। अनेकों जगह कहा गया है वेद में, कि यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म स्वयं जगत रूप होने का संकल्प करके पुनः जगत उत्पत्ति के बाद देखता है तो अपने के अतिरिक्त जगत में कुछ नहीं पाता इत्यादि श्रुति वाक्यों से अनन्यता स्वयं सिद्ध है जैसे, स्वर्ण के 'अलंकार' बनने के पहले स्वर्ण में ही शक्ति रूप में स्थिर रहते हैं और आभूषण तोड़ डालने पर भी स्वर्ण में ही स्थित रहते हैं, अस्तु, स्वर्ण अलंकार और स्वर्ण की अनन्यता में कोई आपत्ति नहीं है तदनुसार कारण और कार्य रूप ब्रह्म और जगत की अनन्यता मानने में कोई अड़चन नहीं है।

मुमुक्ष मुखेन : कार्य के नाम-रूप सब व्यवहारिक होने से यह शंका होती है

कि सत्ता केवल कारण की है क्या ? कार्य की नहीं ?

वेदव्यासजी : **भावे चोपलब्धेः ।।२।१।१५।।**

व्याख्या : जिस वस्तु की सत्ता नहीं होती उसकी उपलब्धि भी असम्भव है जैसे, कोई कहे कि खरगोश के श्रृंग और आकाश के पुष्प से हमें एक औषधि तैयार करनी है, कितने ही कीमत में मिले कोई ले आओ किन्तु जब खरगोश के सींग और आकाश में पुष्प होते ही नहीं हैं तो उसकी उपलब्धि निश्चय ही असंभव है, अस्तु, यदि कार्य रूप जगत शक्ति रूप से परब्रह्म में विद्यमान न रहता तो कैसे प्रकट होता । इसलिये कार्य रूप जड़-चेतनात्मक यह जगत अपने कारण ब्रह्म में शक्ति रूप से निर्विवाद अवश्यमेव विद्यमान है और सर्वदा अपने कारण से अभिन्न है, यही श्रुति सिद्धान्त है । गेहूँ में गेहूँ से बनने वाले सभी पदार्थ शक्ति रूप से विद्यमान हैं, तभी कार्य रूप में प्रकट होते हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! अन्य श्रुति वाक्यों से भी क्या प्रमाणित होता है कि यह जगत प्रकट होने से पहले भी सत स्वरूप से विद्यमान था ?

वेदव्यासजी : **सत्वाच्चावरस्य ।।२।१।१६।।**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।२।१) में श्रुति भगवती का निर्देश है कि 'सदैव सौम्येदमग्र आसीत' "हे सौम्य ! यह जगत प्रकट होने के पूर्व भी सत्य था ।" इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद (१।४।७) में भी श्रुति वाक्यों द्वारा सिद्धान्त की पुष्टि की गई है, इन वेद वर्णित प्रमाण वचनों से यह सिद्ध होता है कि यह जगत स्थूल रूप से प्रकट होने के पहले भी शक्ति रूप से अपने कारण में विद्यमान रहता है और वही सृष्टि काल में प्रकट होता है जैसे, वृक्ष, अदृश्य रूप से वृक्ष का विशाल रूप धारण करने के पूर्व भी बीज में विद्यमान रहता है और वही समय पर महान वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये, अस्तु, सूक्ष्म चिद्चित विशिष्ट परमेश्वर ही स्थूल चिद्चित विशिष्ट रूप में दिखाई दे रहा है अतएव दोनों को एक करके जानना ही ब्रह्म विद्या का साक्षात्कार है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! दूसरे श्रुति में प्रकट होने के पहले इस जगत को

असत् बताया है इसलिये विरोध होने के कारण शंका है।

वेदव्यासजी : असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥२।१।१७॥

व्याख्या : तैत्तरीय उपनिषद (२।७) में जो बताया गया है कि "सबसे पहले यह जगत असत् ही था" इसका अर्थ यह नहीं है कि यह जगत प्रकट होने से पूर्व था ही नहीं, क्योंकि आगे इसी मन्त्र में 'आसीत' पद से जगत का होना बताया गया है फिर उससे सत् की उत्पत्ति कही गई है पुनः बताया गया कि उसने स्वयं ही जगत रूप में अपने को प्रकट किया है अतः यहाँ धर्मान्तर की अपेक्षा से उसे असत् (अप्रकट) नाम से कहा है। यह जगत प्रकट होने के पहले अप्रकट (प्रकाश में न आने वाले) धर्म से युक्त था पुनः अप्रकाट्य धर्म से प्राकट्य धर्म को प्राप्त हुआ अर्थात् जो पहले अप्रकट था वह प्रकट हो गया। यही बात छान्दो० उप० (६।२।१) में विस्तार पूर्वक समझायी गई है। श्रुति का उद्घोष है कि यह सब पहले सत ही था। इस प्रकार यह बात मन्त्र के अन्तिम वाक्य से सिद्ध हो जाती है जैसे, समुद्र में अस्त मैनाक नामक पर्वत जो असत अर्थात् अप्रकट, अदर्शित था, वह सत् (प्रकट) होकर श्री हनुमान जी की सेवा करने के लिये सविनय समुत्सुक हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि मैनाक पहले कुछ था ही नहीं। वह समुद्र की तली में स्थित था ही, इसी प्रकार जगत, ब्रह्म की शक्ति रूप से ब्रह्म में विद्यमान था पुनः ब्रह्म के संकल्प से प्रकट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पुनः इसी तथ्य वार्ता को दृढ़ करने की कृपा की जाय।

वेदव्यासजी : **युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥२।१।१८॥**

व्याख्या : युक्तियों तथा श्रुति में आये हुये (इस वार्ता को दृढ़ करने वाले) शब्दों से उपर्युक्त सिद्धान्त की संपुष्टि हो जाती है, जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति संभव नहीं होती और जो वस्तु होती है, उस वस्तु का प्रकट होना सर्वथा संभव है। आकाश में पुष्प नहीं होते इसलिये उन्हें उतारकर इष्ट-पूजा के काम

में लाना त्रिकाल में संभव नहीं है। अप्रकट रूप से काठ में अग्नि होती है इस-लिये अरणि मंथन से अग्नि प्रकट कर यज्ञ हुआ ही करते हैं। इसी प्रकार जगत अप्रकट रूप से पहले भी था, तभी तो वह प्रकट रूप में 'यह' बनकर दिखाई दे रहा है, यदि पूर्व में न होता तो खरगोश के सींग के समान अभावमय होता। बृहदारण्यक आदि में जो जगत के लिये असत की भांति अव्याकृत आदि शब्द प्रयोग में लाये गये हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि यह जगत प्रकट होने के पहले भी सत था। शिशु जब मातृ योनि से बाहर आकर, रोना, हँसना, किलकारी आदि की क्रीड़ा करने लगा तो यही निश्चय होता है कि शिशु माता के उदर में माता की अंगशक्ति था, प्रकट होने के पहले भी अप्रकट रूप में स्थित था।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त तथ्य को दृष्टान्त द्वारा समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **पटवच्च ॥२।१।१९॥**

व्याख्या : वस्त्र शक्ति रूप से धागे (सूत) में जब तक स्थित रहता है, तब तक वह अप्रकट ही रहता है, पुनः कपड़ा बुनने वाले के द्वारा बुन लेने पर, वस्त्र रूप से प्रकट होकर सबके नेत्र का विषय बन जाता है, अस्तु, जैसे वस्त्र बुनने के पहले अप्रकट रूप से अपने कारण (सूत) में विद्यमान रहता है और वस्त्र रूप धारण कर लेने पर भी अपने कारण सूत में ही स्थित रहता है, उसी प्रकार यह जगत प्रकट होने के पूर्व शक्ति रूप से कारण ब्रह्म में विद्यमान रहता है और प्रकट होने पर भी अपने कारण रूप ब्रह्म में ही स्थित रहता है अतएव कारण-कार्य की अनन्यता होने से जगत भी ब्रह्म स्वरूप ही है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त द्वारा समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **यथा च प्राणादि ॥२।१।२०॥**

व्याख्या : जैसे जीवात्मा के शरीरोत्क्रमण समय शरीरस्थ प्राण और इन्द्रियाँ, जीवात्मा के साथ-साथ शरीर से बाहर अन्यत्र चली जाती है, तब उनकी स्थिति शरीर में नहीं पाई जाती तथापि उनकी सत्ता अवश्य बनी रहती है, इसी प्रकार प्रलयावस्था में जगत की उपलब्धि न होने पर भी उसकी सत्ता अवश्य बनी रहती

है अर्थात् यह जगत शक्ति रूप से कारण ब्रह्म में अवश्य स्थित रहता है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! कोई न कोई कुतर्क कुछ लोग किया ही करते हैं, जो आपसे अविदित नहीं हैं।

वेदव्यासजी : इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२।१।२१॥

व्याख्या : हाँ, हाँ कुतर्की लोग अपने स्वभाव से कभी पृथक नहीं होते हैं, उनका पुनः तर्क यह है कि छान्दो० उप० (६।८।७) वृह० उप० (२।५।१९) तथा छान्दो० उप० (६।३।३) श्वेता० उप० (४।३) से यह निश्चय होता है कि ब्रह्म ही जीव रूप से उत्पन्न हुआ है, अतएव सर्व समर्थ ब्रह्म में अपने हित की उपेक्षा और अनहित की अपेक्षा करने का दोष उत्पन्न हो जाता है जो उचित नहीं है क्योंकि जगत में समस्त प्राणि वर्ग अपने हित की कामना से अभिभूत देखे जाते हैं, कोई भी जीव ऐसा नहीं पाया जाता जो अपना अहित चाहता हो, अस्तु, स्वयं समर्थ ब्रह्म यदि जीव बनकर दुःख भोग रहा है, जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर अपने हित की कल्पना नहीं करता तो उसमें उक्त बहुत से दोष उपस्थित हो जायेंगे इसलिए ब्रह्म को जगत का कारण मानना उचित नहीं है इत्यादि शंका उत्पन्न करते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त शंका का निवारण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२।१।२२॥

व्याख्या : ब्रह्म, जीव नहीं अपितु जीव से सर्वभावेन अति श्रेष्ठ है क्योंकि जीवात्मा और परब्रह्म परमात्मा में भेद है अर्थात् जीवात्मा को अल्पज्ञ, परब्रह्म को सर्वज्ञ आदि कहकर श्रुतियों ने भेद का होना निश्चय किया है। वृहदारण्यकोपनिषद (४।३।४।-६-७) में जनक जी और याज्ञवल्क्यजी के संवाद में प्राकृतिक ज्योतियों और आध्यात्मिक ज्योतियों का वर्णन करके आत्म ज्योति को उक्त ज्योतियों का प्रकाशक कहा गया है, पुनः आत्म-ज्योति का स्वरूप समझने की जिज्ञासा पर विज्ञानमय जीवात्मा को ही उसका वाच्य कहा है, तदनन्तर बृ० उप० (४।३।२१) में कहा है कि यह जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में अन्त-वाह्य ज्ञानशून्य होकर परब्रह्म परमात्मा से संयुक्त होता है, पुनः बृह० उप० (४।३।३५) में बताया है

कि परब्रह्म से अधिष्ठित हुआ यह जीवात्मा एक शरीर से दूसरे में जाता है, इत्यादि उपर्युक्त वर्णन से जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। छान्दो० उप० में जो यह कहा गया है कि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' इसका अर्थ जीव रूप से ब्रह्म का प्रवेश करना नहीं है, अपितु जीव के साथ ब्रह्म का प्रवेश करना है। श्वेताश्वतर (४।६) में एक ही शरीर वृक्ष पर जीव और ब्रह्म रूप दो पक्षियों का रहना बताया गया है, इसी प्रकार कठोपनिषद में द्विवचन का प्रयोग करके, हृदय की गुफा में जीवात्मा और परमात्मा का प्रविष्ट होकर रहना कहा गया है और भी श्वेता० उप० में जीवात्मा को अल्पज्ञ व परमात्मा को सर्वज्ञ निरूपित किया गया है। साथ ही प्रकृति और जीवात्मा पर शासन करने वाला परब्रह्म परमात्मा को बताया गया है। अन्तर्यामि ब्राह्मण में जीवात्मा को परमात्मा का रूप बताया गया है। बृहदारण्यक में परमात्मा को जानने योग्य तथा ध्यान करने योग्य कहा गया है, इत्यादि प्रमाणों का बाहुल्य सिद्ध करता है कि ब्रह्म और जीव में भेद है, अस्तु, ब्रह्म जीव नहीं हो सकता और न संसार के जन्म-मृत्यु आदि भयावह दुःखों से लिप्त हो सकता। वह तो नित्य मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, असंग रूप महान आत्मा है। जहां 'तत्व मसि' अयमात्मा ब्रह्म, कहकर जीव को ब्रह्म स्वरूप कहा है। वहाँ कारण और कार्य की अनन्यता को लेकर कहा गया है अर्थात ब्रह्म कारण और जड़-चेतनात्मक जगत कार्य है, कारण-कार्य अभिन्न होते ही हैं जैसे मिट्टी और मिट्टी के बने पात्रों में अभेद है किन्तु तत्वतः भेद न होने पर भी स्वरूपतः परमात्मा और जीवात्मा में भेद सहज सिद्ध है। परब्रह्म, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न निरंकुश शासक, स्वामी, सर्व शरीरी, सर्वशेषी, सर्वभोक्ता, सर्वरक्षक, महतोमहीयान तथा कल्याण गुण गणों का आकार है और जीवात्मा, अल्पज्ञ, अल्प शक्तिवाला, परतन्त्र अर्थात् परब्रह्म के आधीन रहने वाला, सेवक, शरीर शेष, भोग्य, रक्ष्य और अणु है तथा प्रकृति दोषों से युक्त है अतएव ब्रह्म और जीव में अभेदत्व का दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता। भाई ! महदाकाश और मठाकाश में तत्वतः कोई भेद नहीं है किन्तु महदाकाश में अनन्त मठाकाश बन जाय तो भी अनन्त शेष रहेगा और मठाकाश के भीतर उसी प्रकार का मठाकाश एक भी नहीं बन सकता यदि छोटे मठाकाश एक-दो बन भी जांय तो शेष कुछ न रहेगा, यह स्वरूपतः भेद तो स्वयं सिद्ध है इसलिये ब्रह्म में जन्म-मरण के दोषों की कल्पना करना वेद के रहस्यार्थ को न जानने का प्रमाण है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त सिद्धान्त की संपुष्टि के लिये कोई अन्य युक्ति का भी प्रयोग हो सकता है ?

वेदव्यासजी : अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।।२।१।२३।।

व्याख्या : परा और अपरा प्रकृति, परमात्मा की शक्तियाँ हैं जो उन्हीं के आश्रय को ग्रहण कर जगत कार्य करने में समर्थ होती हैं, अस्तु, महाचेतन सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान जैसे अपनी अचेतन अपरा प्रकृति के कार्य, पत्थर, लोहा, काठ आदि पदार्थों से भिन्न हैं, उसी प्रकार परा प्रकृति स्वरूप जीव समुदाय से भी वे पृथक हैं जैसे, कुशल जादूगर अपनी कलाशक्ति के बल से जड़ (मुद्रा, पर्वत, वृक्ष आदि) और चेतन (पक्षी आदि) से संयुक्त जादूगरी का खेल दिखाता है और स्वयं जड़ वस्तुओं से जैसे भिन्न होता है, वैसे ही खेल की चेतनात्मक खेल सामग्रियों से भिन्न होता है इसलिये उस खेल के दुख-सुख उसे लिप्त नहीं कर सकते, ठीक इसी प्रकार परब्रह्म भी जैसे जड़ से भिन्न है, वैसे ही जीव से भी भिन्न है। आवागमनादि के दोष उस परब्रह्म पर आरोपित करना अज्ञान मूलक है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान अपने सत्य संकल्प मात्र से, बिना किसी सहायक सामग्रियों के कैसी आश्चर्यमयी सृष्टि-रचना कर देते हैं, इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।।२।१।२४।।

व्याख्या : अहो ! यदि यह कहा जाये कि लोक में घट-पट आदि बनाने के लिये उसके कर्ता को साधन सामग्रियों की आवश्यकता होती है किन्तु परब्रह्म के पास स्वयं को छोड़कर, अन्य साधन-वस्तु एक भी नहीं है इसलिये परब्रह्म परमेश्वर इस जगत का कर्ता नहीं हो सकता तो यह शंका उसी प्रकार है जैसे कोई कहे कि यह वट-बीज पृथ्वी में पड़ा हुआ बिना साधन के इतना बड़ा वृक्ष कैसे बन गया ? अरे, इस वृक्ष को तो किसी और ने अपने साधन-सामग्रियों द्वारा ठोंक पीटकर बनाया होगा, अस्तु, यह शंका सर्व समर्थ परब्रह्म परमात्मा के विषय में करना उचित नहीं है जैसे, दूध में किंचित दही का जामन दही बनाने के

लिये दे दिया जाता है तो दूध दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है वैसे ही अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न परब्रह्म परमेश्वर ने अपने को जगत रूप में बनाने के लिये जगत रूप बनने का किंचित संकल्प किया तो वह ब्रह्म, जगत रूप में दृष्टिगोचर होने लगा। जैसे, दूध का अंग भूत अभिन्न दही का जामन है वैसे ही ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म का संकल्प है, जामन देने से दूध बिना साधन के दही रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म, जगत बनने का संकल्प करते ही, बिना साधन के जगत रूप धारण कर लेता है। दही जमाने के लिये जैसे दही का जामन अपेक्षित है, वैसे ही जगत रूप बनने के लिये तद्रूप संकल्प ब्रह्म को अपेक्षित है अन्यथा बिना जामन के दूध, शुद्ध-दही नहीं बन सकता और न परब्रह्म बिना संकल्प के जगत रूप में दृष्टि का विषय बन सकता अतएव परब्रह्म श्री, यश, ज्ञान, तेज, बल और ऐश्वर्य आदि अचिन्त्य और परा,अपरा आदि अनन्त शक्तियों का आश्रय होने के कारण, करने न करने और अन्यथा करने में किसी बिना साधन के सर्व भावेन समर्थ है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! शंकालु लोग कहा करते हैं कि दूध आदि में इस प्रकार का परिणाम तो हो सकता है और होना संभव है क्योंकि दूध में संकल्प शक्ति से रचना करना नहीं पाया जाता है, ब्रह्म तो अद्वितीय अकर्ता होने के कारण साधन शून्य है, तब वह जगत का कर्ता कैसे हो सकता है, जो लोग विचार करके कुछ कार्य करना चाहते हैं, उन्हें साधन सामग्रियाँ अपेक्षित हो जाती हैं, अतः दूध का दृष्टान्त देने मात्र से यथार्थ बोध नहीं हो रहा है।

वेदव्यासजी : **देवादिवदपि लोके ॥२।१।२५**

व्याख्या : देवता तथा योगी अपने संकल्प मात्र से बिना साधन सामग्रियों के एक साथ बहुत से शरीरों का निर्माण कर लेते हैं और संकल्प से ही मन चाहे बहुत से पदार्थ उत्पन्न कर सकते हैं। बाग-बगीचों की रचना बिना उपकरण सामग्रियों के कर लेते हैं तो सर्व समर्थ अचिन्त्य शक्ति से संयुक्त महायोगेश्वर पर-ब्रह्म परमेश्वर अपने संकल्प मात्र से बिना उपकरण के विचित्र जगत को उत्पन्न कर दें या स्वयं जगत रूप में प्रकट होकर नेत्रों का विषय बन जांय तो कौन आश्चर्य है, लोक में भी देखा जाता है कि एक साधारण नट बिना साधन के कैसे-कैसे दृश्य लोगों के सामने उपस्थित कर देता है, मकड़ी स्वयं अपने उदर से तन्तु

निकालकर कैसे जाले का निर्माण कर लेती है, पुनः समेट कर उदरस्थ भी कर लेती है तो अचिन्त्य और अनन्त सामर्थ्यशाली परब्रह्म को जगत का उपादान और निमित्त कारण मानने में कौन अड़चन है, सत्य को सत्य समझने में असत्य वादी ही आड़े आते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : क्या पूर्व पक्षी पुनः अन्य शंकायें उपस्थित करते हैं या नहीं ?

वेदव्यासजी : कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२।१।२६॥

व्याख्या : अरे ! पूर्व पक्षी लोगों के मस्तिष्क में तर्काभ्यासी होने के कारण एक न एक तर्क उठते ही रहते हैं। उनका कहना है कि यदि निरवयब ब्रह्म को जगत का कारण मान लिया जायगा तो दोष उत्पन्न हो जायेंगे। एक तो यह है कि जब अवयव रहित ब्रह्म जगत रूप में परिणत हो जायगा तो फिर ब्रह्म नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी, जिससे ब्रह्म के विषय में कुछ कहने, सुनने तथा मनन, निदिध्यासन करने का कोई प्रयोजन ही नहीं सिद्ध होगा अतः सब शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे, उनकी उपयोगिता न होने से। दूसरा दोष यह है कि बेद, ब्रह्म को अमूर्त, निष्क्रिय, अकल, अगोचर, निरंजन, शान्त आदि विशेषण देकर अजन्मा और अवयव रहित बताते हैं तो उसे जगत के रूप में सावयव (साकार) बताना वेद विरुद्ध है अर्थात् श्रुतियों का कोप भाजन बनना है। साथ ही श्रुति ब्रह्म को नित्य, शाश्वत, सत्य, और सनातन बताती है, अतः यदि ब्रह्म को जगत रूप में प्रकट होना माना जायगा तो ब्रह्म की नित्यता में बाधा उपस्थित हो जायगी इस लिये ब्रह्म को जगत का उपादान और निमित्त कारण नहीं मानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२।१।२७॥

व्याख्या : इन मस्तिष्क के भूखे भिखारियों को वेद वाक्यों का अन्न समर्पण करके ही शान्त किया जा जकता है, अस्तु, श्रुति के आधार पर चलने वाला पक्ष, वेद विरुद्ध मनमुखी चलने वाले पक्ष के कुतर्कों को स्वीकार नहीं करता। श्रुति ने जिस प्रकार ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति बताकर, उसको जगत का उपादान और निमित्त कारण बताया है, उसी प्रकार निर्विकार रूप से ब्रह्म की नित्य स्थिति का

भी वर्णन किया है। "ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अर्थात् परब्रह्म पूर्ण है, ब्रह्म के उपादान कारणत्वेन यह कार्य जगत भी पूर्ण है क्योंकि वेद में पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति का होना कहा गया है, ऐसा महामहिम्न पुर्ण कारण ब्रह्म प्रलय काल में जगत रूप पूर्ण कार्य ब्रह्म को उदरी कृत्य कर लेने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद (६।१६।१९) तथा मुण्डकोपनिषद (१।१।९॥) की श्रुति वाणियों से यही सिद्धान्त निकलता है कि परब्रह्म जगत का उपादान कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से एक रस स्व स्वरूप में स्थित है तथा अवयव रहित (निराकार) होता हुआ भी जगत का अभिन्न उपादान और निमित्त कारण है। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान युगपद परस्पर विरोधी धर्मों के आश्रय हैं। सत्य-काम, सत्यसंकल्प, सर्वशक्तिमान, करने न करने और अन्यथा करने में समर्थ परब्रह्म परमात्मा के विषय में कुतर्क करना, उसको न जानने और न पाने का प्रयास करना है। श्रुति में निराकार वर्णन के साथ-साथ समस्त ब्रह्माण्ड परब्रह्म के एक पाद में स्थित है और अमृत रूप तीन पाद, परम धाम में स्थित हैं, यही बात गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कही है कि यह समस्त जगत मेरे एक अंश में स्थित है, इससे यह सिद्ध होता है कि जगत रूप बन जाने पर भी ब्रह्म पूर्ण ही शेष रहता है, अस्तु, जगत का कारण मानने में वादी के कहे हुये दोनों दोषों का स्पर्श नहीं होता।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता की पुष्टि किसी अन्य युक्ति के द्वारा भी की जा सकती है क्या ?

वेदव्यासजी : आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२।१।२८॥

व्याख्या : श्रुति प्रमाण से पूर्वोक्त संशय का शमन तो हो ही गया किन्तु युक्ति के द्वारा भी उक्त वार्ता की संपुष्टि संभव है। अवयव रहित निर्विकार जीवात्मा से स्वप्नावस्था में विचित्र-विचित्र नानाप्रकार की सृष्टि हो ही जाती है, जिसका अनुभव सभी लोग करते ही हैं, इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म से विचित्र जगत की रचना हो जाने में कौन आश्चर्य है, इसके अतिरिक्त लोक में विश्वामित्र, भरद्वाज, च्यवन, वशिष्ठ तथा कामधेनु की पुत्री नन्दिनी आदि की सृष्टि रचना अपने स्वरूप में एक रस स्थित रहते हुये, संकलपमात्र से कर लेने का वर्णन पुराणों में

आता ही है। कितने-कितने दैत्यों की मायामयी निर्माण शक्ति का भी वर्णन इतिहासों और पुराणों में पाया ही जाता है, तब अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न परम योगेश्वर परमेश्वर के विषय में क्या कहा जाय, अवयव रहित निर्विकार होते हुये जगत के उपादान और निमित्त कारण वेद में माने जांय, तो कौन आश्चर्य है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! सांख्य में वर्णित सृष्टि का स्वरूप कैसा है ?

वेदव्यासजी : **स्वपक्षदोषाच्च ॥२।१।२९॥**

व्याख्या : अहो ! निरवयव तत्व से सावयव विचित्र जगत सृष्टि सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं, अस्तु, उनके प्रधान नामक अवयव हीन तत्व से सावयव जीव समुदाय की सृष्टि होने से उनके मत में बहुत से दोष उपस्थित हो जाते हैं। वेद से प्रमाणित न होने तथा युक्ति से भी उस अवयव रहित तत्व से सावयव जगत की उत्पत्ति होने व मानने में विरोध उत्पन्न होता है क्योंकि सांख्यवादी प्रधान को असीम और अवयव रहित मानते हैं, अतः प्रधान को कारण मानने से, उनके कहे हुये दोष उन्हीं के पक्ष में आ जायेंगे; इसलिये परब्रह्म परमात्मा ही जगत का अभिन्न उपादान और निमित्त कारण है, ऐसा वादी को भी स्वीकार कर लेने में भलाई है जैसे, कोई वादी कहे कि यह बाजार हमारे पिताजी ने अपनी इच्छा से लगवाई थी किन्तु पिताजी अमन थे, इसके उत्तर में कोई दूसरा व्यक्ति कहता है, ऐ जी यह बाजार तुम्हारे पिता के पिता ने लगवाया था। हमारे पास लिखे हुये कई प्रमाण हैं, राजा से उन्हें पारितोषिक भी मिला था, अतः राजा के हाथ की सही भी लिखी हुई हमारे पास है। तुम्हारे पिता जब अमन थे तो बिना मन की कल्पना व इच्छा से कैसे बाजार लगा, अस्तु, तुम्हारी बात, तुम्हारे बयान से ही असिद्ध हो जाती है, अस्तु, हमारी बात स्वीकार करो।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! सिद्धान्त पक्ष सर्वथा निर्दोष है क्या ?

वेदव्यासजी : **सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥२।१।३०॥**

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा अपनी अचिन्त्य और अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, ऐसे बहुत से वेद वाक्यों के द्वारा प्रमाणित होने से जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमात्मा को मानने से सिद्धान्त पक्ष में कोई दोष स्पर्श

नहीं करता, श्रुति सिद्धान्त ही सिद्ध सिद्धान्त है, इसके अतिरिक्त सब असिद्ध वाद है, मस्तिष्क के रोग हैं। छान्दो० उप० (३।१४।२) में कहा है कि जगत का कारण ब्रह्म, सत्य-संकल्प, आकाश-स्वरूप, सर्व-कर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त जगत को सब ओर से आवृत्त किये रहने वाला अपरिछिन्न, वाणी रहित और अमानी है। मुण्ड० उप० (१।१।९) में स्पष्ट कहा है कि जो सर्वज्ञ, सबको जानने वाला तथा जिसका ज्ञानाकार तप अर्थात् संकल्प है, उसी परब्रह्म परमेश्वर ने यह विराट रूप जगत तथा नाम रूप और अन्न उत्पन्न किया है, और भी बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में सूर्य, चन्द्र, पंचभूत और काल आदि समस्त ब्रह्माण्ड को परमात्मा के आधीन कहा है। जगत का कारण जानने के लिये महर्षियों ने ध्यान में ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति का दर्शन करके परब्रह्म परमात्मा को ही जगत का उपादान और निमित्त कारण निश्चय किया है, इत्यादि वेद वाक्यों से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को जगत का उपादान और निमित्त कारण मानना सर्व भावेन निर्दोष है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! वादी यदि कहे कि ब्रह्म, मन-इन्द्रिय आदि कारणों के बिना जगत की रचना कैसे कर सकता है, तो इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष का क्या कथन है ?

वेदव्यासजी : विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥२।१।३१॥

व्याख्या : श्वेताश्वतर (३।१९) में कहा है कि यह परब्रह्म परमेश्वर, हाथ पैर, मन, इन्द्रिय, रहित होने पर भी, सर्व कार्य करने में समर्थ है। पूर्व सूत्र में भी यह बता दिया गया है कि परमेश्वर अचिन्त्य और अनन्त स्वरूप भूता शक्तियों से सम्पन्न हैं इसलिये सर्व समर्थ होने के कारण जगत का उपादान कारण उस ब्रह्म को मानने में कोई आपत्ति नहीं है। हाथ पैर आदि इन्द्रिय विहीन जड़ प्रकृति कार्य, जाड़ा, वर्षा और गर्मी संसार में प्रलय करते से देखे जाते हैं, तो सर्व समर्थ महा चेतन परब्रह्म परमात्मा अपनी शक्तिमत्ता से जगत रूप कार्य कर दे तो आश्चर्य ही क्या है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' ' आदि श्रुति वाक्य इस अर्थ के समर्थक हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्वपक्षी शान्त हो जाते हैं कि कुछ और तर्क उपस्थित करते हैं ?

वेदव्यासजी : **न प्रयोजनवत्त्वात् ।।२।१।३२।।**

व्याख्या : अहो ! तर्क के धनी तर्क कैसे छोड़ें, वे कहा करते हैं कि पर-ब्रह्म परमात्मा पूर्णकाम है, उसे कुछ न चाहिये अतएव उसे विचित्र-विचित्र सृष्टि रचना से क्या प्रयोजन है इसलिये परब्रह्म जगत का कारण नहीं है, अगर जीव के सुख के लिये सृष्टि करते हैं तो यह बात भी संगत नहीं है क्योंकि संसार में जीव को सुख कहाँ, यहां तो (दुःखालयम् शाश्वतम्) दुख ही दुख है, अस्तु, सृष्टि रचने का कोई प्रयोजन नहीं है । संसार में भी देखा जाता है कि बिना प्रयोजन के कोई कुछ कार्य नहीं करता । इसलिये पूर्णकाम परब्रह्म को जगत का कारण मानना उचित नहीं है ।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! वादी की शंका का निवारण कैसे किया गया है, समझाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।।२।१।३३।।**

व्याख्या : लोक में देखा जाता है कि जो आप्तकाम भगवत् प्राप्त महापुरुष हैं, जिन्हें न ग्रहण में आग्रह है और न त्याग में, न इच्छा है न अनिच्छा है । करने न करने से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, जिन्हें शम-दमादि कल्याण गुण वरण किये हुये हैं, ऐसे महापुरुष भी लोक संग्रह के लिये कुछ कर्म करते पाये गये हैं, किन्तु उनके कर्म लीला मात्र होते हैं क्योंकि उनमें कर्तापन का अभिमान, फल की कामना तथा कर्म में आसक्ति नाम मात्र की नहीं है; तदनुसार परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का जगत सृष्टि रूप कर्म से, तथा विविध प्रकार के अवतार धारणकर लोक कल्याण के लिये पावन चरित्र करने से, उन्हें अपना कोई प्रयोजन नहीं है और न कर्तृत्वाभिमान न फल की कामना और न आसक्ति ही है इसलिये जगत रचना रूप कर्म उनका लीला मात्र है इसलिये परब्रह्म परमात्मा के जन्म और कर्म दिव्य, निर्मल तथा परम पवित्र शास्त्रों में बताये गये हैं । परमात्मा को इतने अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना में कोई श्रम नहीं होता, उनके संकल्प मात्र से, उनकी शक्ति का भृकुटि विलास, जगत रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है इसलिये परब्रह्म के संकल्प से बिना प्रयोजन के जगत सृष्टि का कार्य होना उचित है और ब्रह्म के अनुरूप है । भाई ! जड़ वृक्ष आदि अपना प्रयोजन कुछ न रखते हुये,

लोक कल्याण के लिये एक पैर से खड़े हुये वर्षा-जाड़ा और गर्मी सहते हैं तथा अपने मूल, तना, शाखा, पत्र, फूल और फल से बिना स्वार्थ के लोक की सेवा करते हैं तो सर्व समर्थ परब्रह्म परमात्मा से अपने बिना प्रयोजन के सृष्टि हो जाय तो कौन आश्चर्य है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! कोई वादी का कथन है कि यदि परब्रह्म को जगत का कारण मानते हैं तो उसमें राग-द्वेष का वैषम्य और निर्दयता दिखाई देने लगेगी क्योंकि वह किसी को सुखी, किसी को दुखी बनाता है किसी को धर्म में किसी को अधर्म में प्रवृत्त करता है, इससे जाना जाता है कि वह किसी से राग करता है और किसी से द्वेष, अस्तु ब्रह्म अवश्यमेव समदर्शी नहीं अपितु वैषम्य स्थिति वाला है। किसी की भलाई बिना पुकारे ही कर देता है और किसी के छटपटाने और आर्तनाद करने पर भी नहीं सुनता, इससे निर्दयी है, इसका निराकरण करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥२।१।३४॥**

व्याख्या : वृह० उप० (३।२।१३) तथा वृह० उप० (४।४।५) में बताया गया है कि अकाट्य सिद्धान्त है कि पुण्य कर्मा जीव, पुण्य कर्म के फलस्वरूप, पुण्य योनि में जन्म लेकर पुण्यशील बनता है और पाप कर्मा जीव, पाप कर्म के फलस्वरूप, पाप योनि में जन्म लेकर, पाप कर्म में ही निरत रहता है। साधुकर्म करने वाला साधु ही होता है और पाप कर्म करने वाला जीव पापी ही होता है और तदनुसार सुख-दुख का भोक्ता बनता है। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखकर ही, उनको भली-बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं। सुख-दुख का भोग उन्हें अपने कर्मानुसार ही भोगना पड़ता है। भगवद्गीता में भी भगवान के मुख से जीवों के सुख-दुख का हेतु तथा भली-बुरी योनियों में जन्माने का कारण उनके शुभाशुभ कर्म ही हैं अतएव निष्पक्ष न्याय करने वाले राजा के अनुसार न्याय कर्ता परब्रह्म परमात्मा में विषमता और निर्दयता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। वह तो कल्याण गुण गणों का आलय है। ब्रह्म के विषय में उक्त दोषों का अनुसंधान करना तदनुरूप बनाने वाला होता है। किसी सच्चे न्यायाधीश का न्याय, वादी-प्रतिवादी के कर्मानुसार ही होता है। इस-लिये किसी को कारागार में डालने में, किसी को अदण्डी सिद्ध करके मुक्त करने

की स्थिति को देखकर, सच्चे न्यायाधीश को विषम और निर्दयी करने का साहस नहीं करना चाहिये क्योंकि वह निर्पेक्ष और दयावान हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कोई वादी कहता है कि जगत की उत्पत्ति के पूर्व जीव और उनके कर्मों का विभाग नहीं था इसलिये परब्रह्म जीवों के किये हुये कर्मों की अपेक्षा सृष्टि करते हैं, यह कहना ठीक नहीं है, अस्तु, इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।।२।१।३५।।

व्याख्या : वेद सिद्धान्त से यही सत्य है कि परमेश्वर जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखकर ही सृष्टि कार्य किया करते हैं। जीव और उनके कर्मों का विभाग अनादि है। (ऋ० वेद १०।१९०।३) में कहा गया है कि 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। परब्रह्म परमात्मा ने पूर्व कल्प के अनुसार ही सूर्य-चन्द्र आदि जगत की रचना की, इससे समस्त जड़-चेनतात्मक जगत की सत्ता अनादि सिद्ध है अर्थात् अनादि काल से जीव अपने किये हुये कर्मों के अनुसार ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेकर, सुख-दुख का अनुभव करता चला आ रहा है जैसे, लोक में देखा जाता है कि कृषक लोग जो अन्न खेत में बोते हैं, पकने पर उसी फसल को अगले दिनों में खाकर जीवन निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार पूर्व जन्म के किये हुये कर्मों के अनुसार ही वर्तमान जन्म सुखी-दुखी हो रहा है। प्रलय काल में जीव का ब्रह्म में लीन होने पर भी उसकी और उसके कर्म की सत्ता बनी रहती है। जीव परमात्मा में मिलकर अभाव संज्ञा को नहीं प्राप्त होता जैसे, चीनी जल में घुलमिल कर एक देखने पर भी, चीनी की सत्ता नहीं नष्ट होती तथा जल से पृथक चीनी के स्वाद की उपलब्धि होने के कारण, उसका सूक्ष्म विभाग बना रहना भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार जीवात्मा और उनके कर्मों के सूक्ष्म (बीज) विभाग, अव्यक्त (प्रलय काल में) दशा में भी नष्ट न होने पर उन्हीं कर्मों के बीज के अनुसार जगत की रचना करने से परमात्मा को कर्ता अर्थात् जगत का कारण मानने से कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जीव और उसके कर्म अनादि हैं, इसमें कोई युक्ति संगत हो तो बताने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।२।।१।३६।।**

व्याख्या : जीव और उसके कर्म अनादि हैं, यह वार्ता युक्तियों द्वारा भी सिद्ध होती है यदि अनादि न माना जायगा तो "प्रलयावस्था में परमात्मा को प्राप्त हुये जीव पुनः सृष्टि के समय उसी प्रकार प्रकट होते हैं जैसे, सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म से संयुक्त हुआ जीव जाग्रत अवस्था में पुनः ब्रह्म से पृथक होकर, अपने दैनिक कृत्यों में लग जाया करता है।" इत्यादि वेद-वाक्यों से पुनरागमन मानने का दोष प्राप्त होगा अथवा प्रलय काल के सब जीव अपने आप बिना कर्म-धर्म व ज्ञान के मुक्त हो जाते हैं, यह मानना पड़ेगा, इससे सम्पूर्ण वेद-शास्त्र, पुराण और इतिहास तथा उनकी प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायगी। साथ ही जीव स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके वेद-विमुखी, पापी और पाखण्डी बन जायगा। जीवात्मा नित्य सनातन है, शरीर के नाश होने से उसका नाश नहीं होता। श्रुतियाँ पुकार-पुकार कर यही बतलाती हैं। गीता में भी भगवान की वाणी है कि पुरुष (जीव) और प्रकृति अर्थात् स्वभाव जनित जिसमें जीवों के कर्म संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, ये दोनों अनादि हैं, इत्यादि प्रमाणों से जीव और उनके कर्म अनादि होने से उनमें विभाग होना स्वाभाविक है इसलिये कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि का कर्ता परमात्मा को मानने में कोई विरोध नहीं है। वृक्ष और उनके बीज, जैसे प्रत्येक कल्पों और प्रत्येक युगों से प्रकृति प्रदेश में होते चले आ रहे हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे इसी प्रकार जीवों की कहानी भी समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सिद्धान्त पक्ष क्या अविरोध सिद्ध है ?

वेदव्यासजी : **सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।।२।१।३७।।**

व्याख्या : जड़-चेतनात्मक जगत का उपादान और निमित्त कारण, परब्रह्म परमात्मा सर्व धर्मों का आश्रय है और युगपद विरोधी धर्मों का भी आश्रय है इसलिये वह कर्ता, अकर्ता, व्यक्त, अव्यक्त निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, भोक्ता, भोग्य, शेषी, शेष, रक्षक, रक्ष्य सब कुछ है। कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने से, उसे जगत का कारण मानने में कोई विरोध या दोष स्पर्श नहीं करता जैसे, पद्म-पत्र को जल लिप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्यार्थ : श्री वेद व्यासजी ने श्रुति सिद्धान्त के अनुसार अनेक वादों, कुतर्कों और शंकाओं का निराकरण करके परब्रह्म को जगत का उपादान और निमित्त कारण सिद्ध किया है। साथ ही यह भी बताया कि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान जीवों के कर्मों की अपेक्षा रख करके ही सृष्टि कार्य किया करते हैं इसलिये जीवात्मा अपने कर्म विपाक के अनुसार, जगत में सुख-दुख का अनुभव किया करता है, अस्तु, दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्तकर अपने व अपने भाग्य के निर्माता परब्रह्म परमेश्वर की शरणागति जीव को शीघ्र ग्रहण कर लेनी चाहिये और भगवदर्थ कर्मों का अनुष्ठान करके तथा अपने को कर्ता-भोक्ता न मानकर, कर्मों से असंग हो जाना चाहिये जिससे आवागमन से रहित होकर, जीव परमधाम की प्राप्ति कर ले। अन्यथा पुनरपि जननं पुनरपि मरणं बना ही रहेगा। यही द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद का सार सिद्धान्त है।

श्री वेदव्यासकृत ब्रह्म सूत्रान्तर्गत द्वितीय अध्याय
का प्रथम पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्र) के

द्वतीय अध्याय का द्वतीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! सांख्योक्त प्रधान को जगत का कारण मानने में क्या कोई युक्ति भी काम नहीं करती ?

वेदव्यासजी : रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥२।२।१॥

व्याख्या : केवल अनुमान से 'प्रधान' को जगत का कारण मानना वेद-विरुद्ध है क्योंकि ब्रह्म से उसकी पृथक सत्ता श्रुतियों द्वारा कहीं भी नहीं कही गई, अस्तु, प्रधान (प्रकृति) को जगत का कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह जड़ है यदि जड़ वस्तु स्वयं रचना कर लेती तो पत्थर अपने से ही बड़े-बड़े भवनों का निर्माण कर लेते, कुशल कारीगर की आवश्यकता न होती। इतने महान जगत की रचना के लिये विचार व ज्ञान की आवश्यकता है जो चेतन कार्य है, जड़ से यह संभव नहीं हो सकता। भौतिक वैज्ञानिक इस जगत की विचित्र रचना को देखकर दांतों तले अंगुली दबाते हैं, एक लता में कैसी-कैसी विचित्रता समाई है कि पुनः सूर्य-चन्द्र तथा आकाश में चमचमाते तारे, समय से दिन-रात का होना, स्वर्ग-पृथ्वी, पाताल के लोक, नदी, पहाड़, समुद्र, जन्म-मरण, अन्न एवं सर्व धातुओं का पृथ्वी से उत्पन्न होना, चौरासी लाख योनियों की सृष्टि, माता के उदर से पुत्र का आना तथा शरीर की रचना और भरण-पोषण आदि कैसी-कैसी घटनाओं का उदर में होना, जीवात्मा को मरते समय न देखना इत्यादि प्रकारों से जगत की रचना को देखकर, परब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति की कल्पना व अनुमान कोई कर नहीं सकता, अस्तु, जड़ 'प्रधान' के द्वारा जगत की रचना संभव नहीं है, कोई भी युक्ति व दृष्टान्त नहीं है कि जिसके द्वारा प्रधान को जगत का कारण मानने का दुःसाहस किया जाय।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! कोई अन्य युक्ति के द्वारा भी प्रधानवाद का खण्डन किया जा सकता है क्या ?

वेदव्यास जी : **प्रवृत्तेश्च ।।२।२।२।।**

व्याख्या : साम्यावस्था में जब सत, रज और तम तीनों गुण रहते हैं तब उस अवस्था की संज्ञा प्रकृति होती है जो चेतनांशहीन केवल जड़ विग्रहा होती है, अस्तु, उस प्रकृति से जगत की रचना का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता तथा सृष्टि कार्य में प्रवृत्ति का होना भी असंभव है क्योंकि चेतन की सहायता के बिना कोई भी जड़ वस्तुयें कार्य करती हुई नहीं देखी जातीं जैसे, सर्व प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रखे हैं किन्तु शत्रु पर वे स्वयं बिना चेतन की सहायता के प्रहार करते नहीं देखे जाते इसलिये 'प्रधान' इस जगत का कारण नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी दूध व जल का दृष्टान्त देकर, जड़ की कार्य-प्रवृत्ति बतलाते हैं, अस्तु, इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।।२।२।३।।**

व्याख्या : दूध अपने आप गाय के स्तन से निकलता है, जल अपने आप झरने आदि से निर्झरित होता है, इस दृष्टान्त में भी चेतन की शक्ति व प्रेरणा से ही दूध और जल में प्रवृत्ति पाई जाती है, स्वतन्त्र नहीं क्योंकि दूध व जल जड़ हैं, शास्त्र भी इस तथ्य वार्ता का समर्थक है—"योऽप्सु तिष्ठन्......अपोऽन्तरो यमयति ।" (वृह० उप० ३।७।४) अर्थात् जो जल के भीतर रहकर उसका नियमन करता है तथा और भी वृह० उप० (३।८।९) में कहा गया है कि हे गार्गि! इस अक्षर परब्रह्म परमात्मा के प्रशासन में ही पूर्व वाहिनी नदियां एवं अन्य नदियां बहती हैं। दूध भी गो-स्तन से तभी निकलता है जब चेतन बछड़ा पीने की क्रिया करके, दुग्ध प्रवाह को प्रारम्भ करता है तथा मां का वात्सल्य प्रेरणा करता है, इससे सिद्ध हुआ कि बिना चेतन की सहायता के न दूध निकलता और न जल निर्झरित होता; इसलिये किसी भी युक्ति से जड़ तत्व (प्रधान) का स्वयं किसी भी सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होना सिद्ध नहीं होता। लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि बिना चेतन की सहायता के कोई भी जड़ वस्तु स्वयं किसी कार्य

करने में प्रवृत्त नहीं होती।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! अन्य किसी प्रकारान्तर से भी प्रधान कारण वाद का खण्डन किया जा सकता है क्या ?

वेदव्यास जी : **व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात् ॥२।२।४॥**

व्याख्या : सांख्य मत में प्रधान के अतिरिक्त कोइ दूसरा उसका कारण, प्रेरक व प्रवर्तक नहीं माना गया है, पुरुष उदासीन है तथा प्रधान स्वयं किसी की अपेक्षा नही रखता, ऐसी स्थिति में वह कभी महतत्व आदि विकारों से युक्त होकर, जगत रूप में परिणत हो जाय और कभी न हों, यह वार्ता युक्ति संगत नहीं है यदि जगत को उत्पन्न करना उसका स्वभावगत कार्य है तो संसार कार्य सदा चलते रहना चाहिये अर्थात् प्रलय के कार्य में प्रधान की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये किन्तु प्रलय हो जाता है और यदि प्रधान का जगत उत्पन्न करना स्वभाव नहीं है तो जगत की उत्पत्ति में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये इसलिये अव्यवस्था के कारण प्रधान को जगत का कारण नहीं कहा जा सकता। जैसे, किसी अनपेक्ष खेत में कभी हरी-भरी अन्न की फसल दिखाई देती है और कभी समय पर अन्न का एक वृक्ष भी नही दीखता तो खेत को क्या अन्न उत्पन्न होने का कारण कहना युक्ति संगत है क्योंकि वह अनपेक्ष है, अस्तु, खेत का स्वामी ही अन्न उत्पन्न करने का कारण है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सांख्यवादी कहा करते हैं कि तृण से दूध बनने की भाँति प्रकृति से स्वभावत: जगत की उत्पत्ति होना संभव है।

वेदव्यासजी : **अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥२।२।५॥**

व्याख्या : ब्यायी हुई गाय को घास खिलाने से ही घास से दूध बनने की प्रक्रिया होती है, बैल, घोड़े के द्वारा खाई हुई घास दूध नहीं बनती और न भूमि में रखी हुई तृण राशि व कोल्हू में पेरी हुई घास दूध के रूप में परिणत होती, इससे यही सिद्ध होता है कि तृण, दूध रूप में तभी परिणत होता है जब उसे ब्यायी हुई गाय खाये अन्यत्र तृण, दूध रूप में परिणत नहीं होता इसलिये जड़ प्रकृति का बिना चेतन के जगत रूप में परिणाम होना नहीं कहा जा सकता, वह

बिना चेतन के सहयोग, कुछ नहीं कर सकती। मिट्टी से बर्तन तभी बनते हैं जब उसे कुम्भकार बनाता है, अपने आप मिट्टी बर्तन का रूप धारण करने में असमर्थ है क्योंकि वह जड़ है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! तब तो सांख्य को प्रधान कारण वाद का हठ करना व्यर्थ है।

वेदव्यासजी : अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥२।२।६॥

व्याख्या : चेतन शक्ति के बिना 'प्रधान' की जड़ होने के कारण जगत की उत्पत्ति में प्रवृत्ति होनी असंभव है तथा वेद भी प्रधान (प्रकृति) को जगत का कारण नहीं मानता तथापि सांख्यों के कथनानुसार अनुमानतया प्रधान की स्वभाव से सहज प्रवृत्ति जगत उत्पत्ति में होती है। यह मान लिया जाय तो भी इससे किसी अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि न होने से यह मान्यता व्यर्थ होगी क्योंकि सांख्य में माना गया है कि प्रधान की जगत प्रवृत्ति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिये है परन्तु सांख्य मान्यता के अनुसार पुरुष, नित्य शुद्ध-बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला तथा असंग, निष्क्रिय, उदासीन, निर्मल, निर्विकार चेतनमात्र है, अस्तु, उसके लिये प्रकृति दर्शन रूप भोग तथा उससे मुक्त होना रूप अपवर्ग की आवश्यकता ही नहीं है इसलिये सांख्य का माना हुआ सृष्टि का प्रयोजन व्यर्थ है इसलिये प्रधान की जगत रचना में स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वीकार करना निरर्थक है। जिस क्रिया से किसी फल की प्राप्ति न हो वह परिश्रम मात्र होने से व्यर्थ है जैसे, घनघोर अरण्य के फूले हुये पुष्प व्यर्थ होते हैं, अरण्य रोदन को कोई सुनने वाला न होने से वह निरर्थक होता है इसी प्रकार सांख्यीय प्रधान की लोक रचना का कोई प्रयोजन सिद्ध न होने से, वह व्यर्थ है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से प्रधान के दोष क्या हैं ?

वेदव्यासजी : पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥२।२।७॥

व्याख्या : सांख्यवादियों का कथन है कि जैसे पंगु और अंधा व्यक्ति परस्पर मिलकर पंगु, अन्धे के कन्धे में बैठकर, मार्ग शोधन करता जाता है और अन्धा

तदनुसार चलता हुआ गन्तव्य स्थान में पहुँच जाता है तथा पंगु को पहुँचा देता है, इसी प्रकार लोहे और चुम्बक के संयोग से लोहे में जैसे क्रियाशीलता देखी जाती है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति का संयोग ही जगत के उत्पन्न होने का कारण है, पुरुष की समीपता मात्र से प्रकृति स्वाभाविक सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हो जाती है किन्तु उनका यह कथन मानने पर भी, सांख्य सिद्धान्त मृत प्राय ही रहता है क्योंकि पंगु और अन्धा दोनों चेतन हैं, अस्तु, एक-दूसरे के सहारे से गन्तव्य स्थान में पहुँच जाते हैं। लोहा और चुम्बक दोनों जड़ हैं इसलिये तीसरा व्यक्ति चेतन, उनकी समीपता लाने में कारण होता है, तब कहीं लोहा क्रियाशील दिखाई पड़ता है किन्तु परस्पर सट जाने पर, उसकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। अतः सांख्यकारिका में कहे हुये ये दोनों दृष्टान्त यही सिद्ध करते हैं कि चेतन की प्रेरणा व शक्ति से ही जड़ प्रधान तत्व सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा जगत रचना केवल प्रधान से होना असंभव है, साथ ही सांख्य का पुरुष असंग व उदासीन है इसलिये वह प्रेरणा दे नहीं सकता अतएव जड़त्व घनभूता प्रकृति को जगदोत्पादिका बताना असंगत और वेद विरुद्ध है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रधान कारणवाद के विरोध में कोई दूसरी युक्ति हो, तो कहने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥२।२।८॥

व्याख्या : सांख्य में सत, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही 'प्रधान' कहते हैं, यदि साम्यावस्था को स्वाभाविक मान लिया जाय तो सृष्टि कार्य होना असंभव है अथवा गुणों की विषमता को ही स्वाभाविक माना जाय तो सदा सृष्टि चलती ही रहेगी, प्रलयावस्था आयेगी ही नहीं क्योंकि गुणों की साम्यावस्था में सृष्टि शून्य में स्थित रहती है और विषमावस्था में सृष्टि कार्य संचालित रहता है अतः साथ ही यह भी निश्चय है, गुणों की साम्यावस्था ही बने रहने पर अङ्गी-अङ्ग भाव की सिद्धि न होगी क्योंकि वृद्धि और ह्रास दोनों होने पर ही वृद्धि परक गुणों को अङ्गी और ह्रास परक गुणों को अंग कहा जाता है, यदि पुरुष को सांख्य निष्क्रिय, असंग और उदासीन मात्र स्वीकार करता है तो गुणों में क्षोभ उत्पन्न करने के लिये पुरुष की प्रेरणा नहीं हो सकती, तब प्रधान से जगत कार्य कदापि होना संभव नहीं है और यदि पुरुषोत्तम भगवान को प्रेरक,

सांख्य स्वीकार करता है तब तो ब्रह्म कारण वाद ही पूर्व पक्षियों की ओर से भी सिद्ध कर दिया गया। इसलिये सांख्य के अनुसार गुणों का अंगी-अंग भाव सिद्ध न होने के कारण, प्रधान को जगत का कारण मानना असंगत और हठवाद है जैसे, कोई बीज अंकुरित न होने अर्थात् ज्यों का त्यों बना रहने के स्वभाव वाला है तो उससे वृक्ष प्रकट होने की संभावना ही नहीं की जा सकती और यदि बीज में वृक्ष बनने की शक्ति स्वाभाविक बिना मिट्टी-पानी की सहायता से सदा एक रस बनी रहती है तो कभी वृक्ष का होना बन्द न होगा अतः अंगि-अंग भाव की असिद्धि से जैसे यह दृष्टान्त अनुमान मात्र है, वैसे ही प्रधान को जगत का कारण मानना, अनुमान की व्यर्थ कल्पना है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यदि सांख्यवादी अन्य प्रकार से गुणों में विषमता आ जाने से 'प्रधान' को जगत का कारण बतायें तो इसका उत्तर क्या होगा।

वेदव्यासजी : **अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥२।२।९॥**

व्याख्या : यदि सांख्यानुयायियों के कथनानुसार, काल आदि अन्य को निमित्त मानकर, गुणों की साम्यावस्था का भंग होना स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उनके प्रधान में ज्ञान शक्ति का अभाव तो स्थायी ही है, अस्तु, जब लोक में घट-पट आदि बिना बुद्धि के विचार द्वारा भाँति-भाँति के नहीं बनाये जा सकते तो इतने अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्त जीवों के शरीर तथा नदी, पहाड़, समुद्र, अन्न और औषधि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश की विचित्र-विचित्र रचना बिना ज्ञान के प्रधान (प्रकृति) कैसे कर सकती है अर्थात् अशक्य और असंभव है इसलिये प्रधान को जगत का कारण मानना सर्वथा असंगत है। तोते को पुरुष की सहायता एवं शिक्षा से मनुष्यवत् बोल लेना संभव है परन्तु बन में रहने वाले तोते को जब स्वयं बोलना नहीं आयेगा तब दूसरे को मनुष्य वत् बोलना सिखाना सर्वथा असंभव है क्योंकि वह ज्ञान हीन है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सांख्य दर्शन समीचीन है कि असमीचीन ?

वेदव्यासजी : **विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥२।२।१०॥**

व्याख्या : सांख्य दर्शन में परस्पर विरोधी बहुत सी बातों का वर्णन आता

है इसलिये वह समीचीन नहीं है अपितु असमीचीन अर्थात् दोषयुक्त है क्योंकि वह अपने से अपने मत का स्वयं विरोधक है जैसे, पुरुष को असंग व निष्क्रिय बताकर पुनः उसे द्रष्टा व भोक्ता कहना, प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग बताना तथा प्रकृति को पुरुष के लिये भोग और मोक्ष उपस्थित करने वाली कहना तथा प्रकृति और पुरुष के नित्य पार्थक्य ज्ञान से दुखों का अन्त होना ही मुक्ति है, ऐसा मानना इत्यदि कारणों से सांख्य दर्शन में समीचीनता के दर्शन का अभाव सा प्रतीत होता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! वैशेषिकों के परमाणुवाद का खण्डन एवं उनकी मान्यता की असिद्धि पर प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।।२।२।११।।**

व्याख्या : वैशेषिकों का कहना है कि कारण के गुण, कार्य में आ जाते हैं, जैसे, नील सूत से बनने वाले वस्त्र में नीलापन आ ही जाता है, तभी लोग कहा करते हैं कि यह वस्त्र नीला है, अस्तु, तब तो परमाणुवाद के अनुसार, परमाणु का गुण जो परिमाण्डल्य अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मपन है, वही उसके कार्यभूत द्वयणुक में भी प्रकट होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता है। वे कहते हैं कि दो परमाणुओं से ह्रस्व गुण से युक्त द्वयणुक उत्पन्न होता है और ह्रस्व द्वयणुकों से महत दीर्घ परिमाण वाले त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है इसलिये वैशेषिकों की जैसे उक्तः बातें असंगत एवं विरोधाभास उत्पन्न करने वाली हैं, वैसे ही उनकी अन्य बातें भी हैं, अस्तु, परमाणुवाद को, सिद्धान्तवाद अमाननीय सिद्ध करता हैं, जैसे, कोई कहे कि यह आम का बीज अपने ही गुणों के अनुसार वृक्ष बनकर फल देने तक रहेगा किन्तु बीज बोने पर मिट्टी, पानी, वायु और खाद के परिवर्तन से, उसके आकार-प्रकार और स्वाद में अन्तर आ जाने से बीज देने वाले की मान्यता में अन्तर और असंगतपना आ गया, अस्तु, उसकी वार्ता मान्य न होगी वैसे ही उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त प्रकरण की वार्ता को और स्पष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ।।२।२।१२।।**

व्याख्या : परमाणुवादी कहते हैं कि सृष्टि के प्रथम परमाणु अचल रहते हैं किन्तु सृष्टि काल में उनमें कर्म अर्थात् चल क्रिया होने लगती है जिससे बहुत से परमाणुओं का संयोग होता है (सब संयुक्त हो जाते हैं) और मिले हुये परमाणुओं से जगत प्रकट होता है अतः इस प्रकार परमाणुओं में कर्म संचार, बिना निमित्त के अपने आप स्वीकार करने से सृष्टि कार्य असंभव है क्योंकि जब प्रलय-काल में परमाणु निश्चल माने गये हैं तब बिना निमित्त के चल कैसे सिद्ध होंगे, यदि ऐसा मानें कि जीवों के अदृष्ट कर्म संस्कारों से परमाणु में कर्म का संचार हो जाता है, तो भी वार्ता संगत नहीं बैठती क्योंकि जीवों के अदृष्ट संस्कार जीवों में ही रहते हैं, परमाणुओं में नहीं अतएव परमाणुओं में जीवों के अदृश्य कर्म संस्कार, कर्म संचार नहीं कर सकते। इस प्रकार दोनों प्रकारों से परमाणुओं में कर्म संचार होना सिद्ध नहीं होता इसलिये परमाणुओं के संयोग से जगत की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है, वैशेषिकों का मात्र वाद और जल्पना है; यदि परमाणुवादी बिना निमित्त के परमाणुओं में कर्म संचार और उनका परस्पर संयोग मानते हैं तथा इसी क्रम से जगत की उत्पत्ति मानते हैं तो इस समय भी उसी भाँति सृष्टि कार्य व व्यवहार, बिना निमित्त के होने चाहिये, परमाणु से अपने आप बिना निमित्त के अणु बम बन जाना चाहिये, बिना स्त्री-पुरुष के संयोग रूप निमित्त के मनुष्यादि की उत्पत्ति होनी चाहिये। खेती, तालाब, मकान, वायुयान आदि वाहन और अस्त्र-शस्त्र आदि जगत की वस्तुयें, अपने आप बननी चाहिये किन्तु ऐसा होता नहीं है, अस्तु, जगत की उत्पत्ति, बिना निमित्त के होना संभव नहीं है, अगर होती तो आज भी वही क्रम नेत्र का विषय बनता इसलिये परमाणुवादी का कथन, अपने प्रमाण से स्वयं असिद्ध है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! परमाणुवाद की असिद्धि हेतु क्या कोई युक्ति, प्रमाण बताया जा सकता है?

वेदव्यासजी : समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥२।२।१३॥

व्याख्या : परमाणु वाद में समवाय सम्बन्ध को मान्यता दी गई है इसलिये भी परमाणु कारण वाद की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती क्योंकि कारण और कार्य में जैसे भिन्नता है वैसे ही समवाय और समवायी में भी भिन्नता है इसलिये उनमें अनवस्थिता दोष उत्पन्न हो जाने पर, परमाणुओं के संयोग से जगत की

उत्पत्ति सर्वभावेन असंभव है। वैशेषिकों के कथनानुसार पृथक-पृथक रहने वाली दो वस्तुओं में परस्पर संयोग सम्बन्ध होता है जिसे 'युत सिद्ध' वस्तु कहते हैं जैसे, रस्सी और घट का संयोग सम्बन्ध जल भरने के समय होता है तथा अलग-अलग न रहने वाली वस्तुओं में सदा समवाय सम्बन्ध होता है जिसे 'अयुत सिद्ध' वस्तु कहते हैं जैसे, तन्तु और वस्त्र। यद्यपि कारण और कार्य में स्वरूपतः अत्यन्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है जैसे, मिट्टी और मिट्टी के घड़े में, तो भी परमाणु वादी के मत में समवायि कारण और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध समवाय नाम से कहा जाता है, तदनुसार दो अणुओं से उत्पन्न हुआ, द्वयणुक नामक कार्य, उन अणुओं से पृथक होकर भी, समवाय सम्बन्ध के द्वारा उन अणुओं से सम्बद्ध होता है, ऐसा स्वीकार करने पर, जैसे द्वयणुक उन अणुओं से भिन्न है, ऐसे ही समवाय भी समवायी से भिन्न है, अस्तु, भेद की दृष्टि से दोनों में समानता होने से, समवाय और समवायी का सम्बद्ध होना सिद्ध होता है, इस प्रकार से अनवस्थितता का दोष उत्पन्न हो जाने के कारण परमाणुओं से जगत की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि वादी कहे कि परमाणुओं में जगत की उत्पत्ति और प्रलय-क्रिया स्वाभाविक है, तो इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **नित्यमेव च भावात् ॥२।२।१४॥**

व्याख्या : परमाणु वादी परमाणुओं को नित्य मानते हैं अतएव सृष्टि-प्रवृत्ति या सृष्टि-निवृत्ति, जैसा भी स्वभाव परमाणु का माना जाय, वह नित्य ही होगा। सृष्टि में प्रवृत्ति स्वीकार करने पर सृष्टि कार्य कभी बन्द न होगा, यदि सृष्टि निवृत्ति स्वभाव माना जाय तो सदा प्रलय ही रहेगा, सृष्टि होगी ही नहीं, यदि दोनों प्रकार के कर्मों का होना, उनमें स्वभाव सिद्ध मान लिया जाय तो इसकी संगति ठीक नहीं लगती क्योंकि एक ही वस्तु में दो परस्पर विरोधी स्वभाव का रहना असंभव है, यदि उनमें दोनों प्रकार के कर्मों का अभाव स्वीकार किया जाय तब तो सृष्टि कार्य की प्रवृत्ति व निवृत्ति के लिये कोई निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये किन्तु परमाणु वादी मत से निमित्त के द्वारा सृष्टि कार्य होना नहीं माना गया है इसलिये परमाणु कारण वाद सर्वथा असिद्ध और मनगढ़न्त तथा झूठी कल्पना का प्रदर्शनमात्र है जैसे, यदि कहा जाय कि स्त्री नित्य स्वभाव से पुत्र उत्पन्न करने वाली है, तब तो उससे नित्य पुत्रोत्पत्ति का कार्य

इति को प्राप्त न होना चाहिये यदि कहा जाय कि पुत्र न उत्पन्न करने का स्वभाव है तब तो कभी संतान होनी ही नहीं चाहिये यदि कहा जाय कि दोनों स्वभाव से युक्त है तब तो पुत्र का होना और बाँझ रहना, एक साथ परस्पर विरोधी कार्य कदापि संभव नहीं हो सकते, यदि माना जाय कि दोनों स्वभाव इसमें नहीं है किन्तु पुत्र प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अस्तु, किसी को निमित्त स्वीकार करने पर-ही अर्थात् पुरुष के वीर्य वपन करने पर ही पुत्र होते हैं, मानना पड़ेगा। इतने पर भी कोई अयुक्त बात कहे कि न, न, पति के निमित्त से लड़का होना स्वीकार नहीं करते तो उसका पागलपन है। ठीक इसी प्रकार परमाणु वादी का प्रलाप समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परमाणु नित्य हैं क्या ?

वेदव्यासजी :**रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥२।२।१५॥**

व्याख्या : वैशेषिकों के मत में परमाणुओं को नित्य की मान्यता देकर, साथ-साथ उनमें रूप और रस आदि गुणों का होना भी बताया गया है इसलिये परमाणुओं कि नित्यता के विपरीत उनकी अनित्यता सिद्ध होती है, जैसे, लोक में घट-पट आदि वस्तुओं में रूप के होने से ही, उनकी अनित्यता प्रत्यक्ष देखी जाती है यदि परमाणुओं को रूप, रस आदि गुणों से रहित माने तो उनके कार्य में रूपादि गुण नहीं होने चाहिये और साथ ही 'रूपादिमन्तो नित्याश्च' यह प्रतिज्ञा परमाणु-वादी की व्यर्थ जायगी इसलिये असंगत बातों से भरा हुआ परमाणुवाद कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। नास्ति से अस्ति की उत्पत्ति कहना असंगत है जैसे, कोई कहे कि शून्य आकाश में हमने पुष्पों का एक हरा बाग देखा तथा उसी बगीचे के चुने हुये ये पुष्प हैं, कितनी अनर्गल बात है। इसी प्रकार परमाणुओं में रूप-रस रहना बताकर, उसकी नित्यता सिद्ध करना है, अस्तु, जैसे आकाश के कुसुम झूठे हैं, ऐसे ही परमाणु वाद की नित्यता समझें।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! क्या परमाणुवाद सर्वथा सदोष है ?

वेदव्यासजी : **उभयथा च दोषात् ॥२।२।१६॥**

व्याख्या : परमाणुवादी के परमाणुओं को कम या अधिक गुणों से युक्त

माना जाय या गुण रहित माना जाय, दोनों स्थितियों में दोष उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये परमाणुवाद असिद्धता के आसन में सदा आसीन रहने वाला सिद्ध होता है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश नामक पंच भूतों में किसी में कम और किसी में अधिक गुण पाये जाते हैं इसलिये इनके आरम्भक परमाणुओं में भी, न्यूनाधिक गुणों का होना अवश्य सिद्ध होता है, ऐसी परिस्थित में यदि परमाणुओं को सभी गुणों से युक्त मानें तो उनके कार्य पंचभूतों में सभी गुण होने चाहिये किन्तु सब में समान गुण नहीं होते, जैसे, जल में गन्ध, तेज में गन्ध और रस नहीं होता, अस्तु, यह दोष उत्पन्न होता है यदि परमाणु में एक गुण का होना ही स्वीकार करें तो उनके कार्य, पंचभूतों में एक-एक ही गुण होने चाहिये पर यह भी नहीं होता। पृथ्वी में पांच, जल में चार, अग्नि में तीन, वायु में दो और आकाश में एक, अस्तु, इस तरह से भी दोष उत्पन्न होता है। यदि परमाणुओं को सर्वथा गुण रहित मान लें तो उनके कार्यों में गुणों का प्रत्यक्षीकरण, कारण के प्रतिकूल होगा तथा अधिक गुण मानने पर उनकी परमाणुता नष्ट हो जायगी इत्यादि दोषों के बाहुल्य से परमाणुवाद, किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होता जैसे, एक पुष्प की कलम जो बहुत प्रकार के फूलों को एक ही वृक्ष में खिलाने वाली कही जाती है किन्तु कथनानुसार कई प्रकार के फूल उसमें खिले न पाये जांय तो कथन में दोष प्रकट होगा यदि यह कहा जाय कि इसमें एक ही प्रकार के फूल खिलते हैं परन्तु कलम को लगाने पर उसमें कई रंग के फूल खिले देखे गये, अस्तु, दोनों प्रकार से कथन में दोष आ जाने से उस व्यक्ति का कथन अप्रमाणिक और असिद्ध ही माना जायगा, इसी प्रकार परमाणुवाद को भी समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! परमाणुवाद को ग्रहण करना उचित नहीं जान पड़ता।

वेदव्यासजी : **अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥२।२।१७॥**

व्याख्या : अवश्यमेव परमाणु कारणवाद की अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये क्योंकि शिष्ट पुरुषों के द्वारा इसका ग्रहण कभी नहीं हुआ। प्रधान कारणवाद में अंशतः सतकार्यवाद का भी वर्णन है अतः केवल उतने अंश को मनु आदि महापुरुषों ने मान्यता दी है अर्थात् ग्रहण किया है किन्तु परमाणुवाद को किसी भी शिष्ट पुरुष ने, किसी भी अंश में ग्रहण नहीं किया इसलिये वह सर्वथा उपेक्षणीय है,

जैसे, असत आचरण का समर्थन करने वाले व्यक्ति की उपेक्षा सदा से श्रुति-शास्त्र एवं संतानुमोदित पथ में चलने वाले महापुरुष करते आये हैं। नहुष, वेणु, असमंजस और रावण आदि राक्षस इस तथ्य वार्ता के प्रमाण हैं वैसे ही परमाणुवाद विषयक वार्ता को भी समझकर, उसकी उपेक्षा करना ही वेद का आदर है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! बौद्धों का क्षणिकवाद भी तो वेद-विरोधी है अतः उसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥२।२।१८॥**

व्याख्या : बौद्धमत वालों के माने हुये रूप स्कन्ध (बाह्य समुदाय) (जो परमाणु हेतुक भौतिक वर्ग के रूप में दृष्टिगोचर होता है) और विज्ञान स्कन्ध (आभ्यान्तरिक ज्ञान प्रवाह) ऐसे दो प्रकार के समुदाय को मान्यता दे देने पर भी, उस समुदाय की प्राप्ति नहीं होती जिससे जगत की रचना हुई है क्योंकि ये दोनों समुदाय अचेतन हैं। चेतन के बिना सृष्टि संभव नहीं।

किंचित मत भेद से बुद्ध के अनुयायी चार प्रकार के कहे जाते हैं। वैभाषिक सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ये उनके नाम हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक सृष्टि कार्य के बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं, भेद इतना है कि वैभाषिक प्रत्यक्ष दीखने वाली बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करता है और सौत्रान्तिक विज्ञान से सिद्ध बाह्य पदार्थों की सत्ता को मानता है। योगाचार के मत में स्वतन्त्र, मात्र विज्ञान की सत्ता है, जगत, स्वप्न-दृश्य के सदृश असत्य है। माध्यमिक सभी प्राणी, पदार्थ और परिस्थितयों को शून्य मानता है। उसके मत में विज्ञान-धारा ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रतीत हो रही है, जैसे दीप-शिखा प्रतिक्षण मिटती हुई भी, एक धारा के रूप में प्रतीति का विषय बन रही है, तेल की समाप्ति पर जैसे दीप शिखा बुझ जाती है, उसी प्राकर संस्कार के नष्ट होने पर, विज्ञान-धारा भी अभाव दशा को प्राप्त हो जायगी, अस्तु, इस प्रकार अभाव या शून्यता की स्थिति ही, माध्यमिक की मान्यता से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। इस सूत्र में वैभाषिक और सौत्रान्तिक के मत का निराकरण किया गया है, इन दोनों के मत में रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार, ये पाँच स्कन्ध हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार भूत यथा भौतिक पदार्थ, शरीर, इन्द्रिय और विषय, ये

रूप स्कन्ध कहलाते हैं। इन्हीं चार भूतों के परमाणुओं से चार भूतों तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति मानते हैं। यही परमाणु हेतुक भूत-भौतिक वर्ग रूप स्कन्ध व बाह्य स्कन्ध कहलाता है तथा आभ्यान्तरिक विज्ञान प्रवाह को विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। सुख-दुख की प्रतीति का नाम वेदना स्कन्ध है। उपलक्षण से वस्तु की प्रतीति कराने का नाम संज्ञा हैं जैसे, ध्वज से गृह की प्रतीति कराना। राग-द्वेष आदि चित्त के धर्मों को संस्कार स्कन्ध कहते हैं। रूप स्कन्ध (बाह्य स्कन्ध) और विज्ञान स्कन्ध के अतिरिक्त इनके यहाँ आत्मा व आकाश की सत्ता ही नहीं है, अस्तु, इनके क्षण विध्वंशी परमाणु पृथ्वी आदि की रचना कैसे कर सकते हैं क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार एक क्षण में जो परमाणु है, वह दूसरे क्षण में नहीं है अतः ये क्षणिक परमाणु भूत-संघात् की रचना में एकत्र होकर प्रयत्न नहीं कर सकते इसलिये जगत उत्पत्ति की कल्पना, इनके द्वारा करना असंभव, अशक्य और युक्ति विरुद्ध होने से सर्वथा व्यर्थ है अतएव वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत अमान्य है।

मुमुक्षु मुखेन : बौद्ध शास्त्र के कथनानुसार अविद्या, संस्कार और विज्ञान आदि में एक-एक, दूसरे-दूसरे के कारण होते हैं अतः इन्हीं से समुदाय की सिद्धि हो सकती है, जिससे जगत की उत्पत्ति हो सकती है, अस्तु, इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात् ॥२।२।१९

व्याख्या : बौद्धानुयायियों का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ये अविद्या संस्कार और विज्ञान आदि केवल उत्तरोत्तर की उत्पत्ति में ही निमित्त माने गये हैं, समुदाय या संघात बनाने में इन्हें निमित्त कहना अनधिकार एवं अज्ञान मूलक चेष्टा है अतः इनसे भी समुदाय का बनना असिद्ध ही रहेगा। जैसे, कोई पुरुष अपने से आगे आने वाली पीढ़ी में ही निमत्ति माना जा सकता है किन्तु अपने से पूर्व वंश परम्परा का हेतु नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अविद्या, संस्कार और विज्ञान आदि को उत्तरोत्तर की उत्पत्ति में निमित्त मानना संगत है ?

वेदव्यासजी : **उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२।२।२०॥**

व्याख्या : उत्तर (वाद) में होने वाली भावोत्पत्ति काल में, बौद्ध मत से पहले क्षण में रहने वाले कारण का विनाश हो जाता है इसलिये अविद्या, संस्कार, विज्ञान आदि उत्तरोत्तर भावों की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते। घट-पट में प्रत्यक्ष देखा जाता हैं कि कारण स्वरूप मृत्तिका और सूत्र अपने कार्य के साथ सदा रहते हैं, तभी उनमें कार्य-कारण की सिद्धि पायी जाती है, किन्तु बौद्ध मत में समस्त वस्तुओं का विनाश प्रत्येक क्षण में माना गया है इसलिये जिस क्षण में कार्य प्रकट होगा, उसी क्षण कारण का नाश हो जाने से, कारण-कार्य की सिद्धि न होगी, अस्तु, अविद्या आदि उत्तरोत्तर भावों की उत्पत्ति के कारण नहीं हो सकते, जैसे, बालू का बाँध बनाते समय जो बालू वर्तमान में छोड़ते हैं, उससे पहले भूत-काल में छोड़ी हुई बालू नदी के वेग से बह जाती है इसलिये वह बालू पुल बनाने में कारण नहीं सिद्ध की जा सकती।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी यदि कहे कि कारण के न रहने पर भी, कार्य की उपत्ति मान लें, तो क्या विरोध है ?

वेदव्यासजी : **असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२।२।२१॥**

व्याख्या : बौद्ध शास्त्र में चार कारणों से विज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, प्रथम अधिपति प्रत्यय, दूसरा सहकारि प्रत्यय, तीसरा समनन्तर प्रत्यय, चौथा आलम्बन प्रत्यय। ये क्रम से इन्द्रिय, प्रकाश, मनोयोग और विषय के पर्याय हैं, इन चारों कारणों की विद्यमानता से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह बौद्ध प्रतिज्ञा है, अतः विना कारण के ही कार्य का उत्पन्न होना मान लिया जाय तो उनकी की हुई उक्त प्रतिज्ञा भंग होगी और यदि ऐसा नहीं मानते तो कारण-कार्य दोनों की सत्ता एक काल में माननी पड़ेगी इसलिये बौद्ध मत किसी प्रकार से न तो उपादेय है और न निर्दोष है, जैसे वैश्या का पुत्र किससे और कैसे उत्पन्न हुआ, निश्चय न होने से न उपादेय है और न निर्दोष है, वैसे ही उक्त वार्ता को समझो।

मुमुक्षु मुखेन : बौद्ध शास्त्र में कहे हुये प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या

निरोध का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्**
॥२।२।२२॥

व्याख्या : प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती क्योंकि प्रवाह का विच्छेद असंभव है। बौद्ध शास्त्र में जो सहेतुक बुद्धि पूर्वक विनाश है, उसको प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं, जो पूर्णज्ञान जनित आत्यान्तिक प्रलय का वाचक है और दूसरा जो स्वभावत: बिना बुद्धि विमर्श के, बिना कारण विनाश होता है, उसे अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं, यह स्वाभाविक प्रलय का बोधक है। ये दोनों प्रकार के निरोध अर्थात् किसी वस्तु का न रहना उन्हीं के मत से सर्वथा असिद्ध है क्योंकि बौद्ध समस्त पदार्थों को, प्रतिक्षण विनाशशील भी मानते हैं और साथ ही असत् से सत् की उत्पत्ति भी प्रतिक्षण स्वीकार करते हैं, अस्तु, इस मान्यता के अनुसार एक वस्तु का विनाश और दूसरे के उत्पत्ति क्रम की परम्परा प्रतिक्षण चलती ही रहेगी, उसके बन्द होने का कोई भी कारण उनके मत में नहीं पाया जाता इसलिये दोनों प्रकारों के निरोधों की सिद्धि सर्वथा असंभव है, जैसे कोई महान राक्षस विस्तृत मुख, कान नाक वाला हो और प्रतिक्षण वह जीवों को सीधे मुख में डालता जाय और जीव नाक-कान से निकलते जाँय तो प्रतिक्षण चलने वाली इस क्रिया से जीवों का सर्वनाश संभव नहीं हो सकता, वैसे ही उक्त वार्ता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! बौद्ध मत यह मानता है कि सब पदार्थ क्षणिक और असत्य हैं किन्तु भ्रान्ति रूप अविद्या से सत्य और अक्षणिक प्रतीत हो रहे हैं, अस्तु ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव होने से, सबका अभाव हो जाता है, इस प्रकार बुद्धिज्ञान से निरोध की सिद्धि हो जाती है।

वेदव्यासजी : **उभयथा च दोषात् ॥२।२।२३॥**

व्याख्या : यदि यह मानें कि भ्रान्ति रूप से भासने वाला यह जगत, पूर्ण ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव हो जाने, पर उसी के साथ-साथ नष्ट हो जाता है, तब तो बौद्ध शास्त्र में जो अकारण अपने आप विनाश अर्थात् सब वस्तुओं का अभाव माना गया है, वह अप्रतिसंख्या निरोध अपने सम्मुख विरोध को खड़ा हुआ

देखेगा और यदि यह स्वीकार किया जाय कि भ्रान्ति से भासित होने वाला यह दृश्य, बिना पूर्णज्ञान के अपने आप नष्ट हो जायगा तब ज्ञान और उसके साधन की शिक्षा व्यर्थ माननी पड़ेगी। इस प्रकार से बौद्ध मत किसी तरह से युक्ति संगत नहीं है, अस्तु, अमान्य है क्योंकि उसमें दोनों प्रकार से दोष आता है, जैसे किसी के कहने से किसी व्यक्ति को ब्राह्मण माने तो ब्राह्मण के एक लक्षण उसमें नहीं पाये जाते; अगर ब्राह्मण न माने तो उसे ब्राह्मण मानने का जो अनुशासन है वह व्यर्थ होगा, इस प्रकार से दोनों दशायें दोषों से युक्त हैं, वैसे ही उक्त मान्यता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! बौद्ध लोग कहा करते हैं कि आकाश, आवरण का अभाव मात्र होने से, कोई पदार्थ व तत्व नहीं है, अतः इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **आकाशे चाविशेषात् ॥२।२।२४॥**

व्याख्या : जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, भाव पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार आकाश भी पांचवां भाव पदार्थ है और मानना चाहिये कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु क्रमशः गन्ध, रस, तेज और स्पर्श के आश्रय जिस प्रकार माने जाते हैं, उसी प्रकार शब्द का आश्रय आकाश है, यदि आकाश न हो, तो 'शब्द' सुनाई ही न पड़ेगा किन्तु शब्द श्रवण में सुनाई देता है इसलिये आकाश अवश्य है और भी विचार करें कि यदि आकाश न हो, तो प्रत्येक भौतिक पदार्थों का आधार और आश्रय कौन होगा ? पृथ्वी आदि चारों भूत का आधार आकाश ही है, जागतिक वन, पर्वत नदी, मकान, वाहन आदि वस्तुयें अवकाश के बिना कहाँ रखी जा सकती हैं ? अतः आकाश है और उक्त पदार्थ आकाश ही में स्थित हैं। आकाश में विचरन करने से पक्षी, खग, विहंग, खेचर आदि नाम से जाना जाता है। "आत्मन् आकाशः सम्भूतः" (तै०उप० २।१) में कहा गया है कि परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति होती है, इसलिये युक्ति तथा श्रुति वाक्यों से आकाश की सत्ता सिद्ध है और आकाश की अभाव मान्यता किसी प्रकार सिद्ध न हो सकने के कारण बौद्धों का कहना अमान्य और व्यर्थ है, जैसे पत्थर का एक ठोस घनीभूत शिलाखंड है, उसमें कोई कहे कि हमारी एक पेटी उस चट्टान के भीतर रख दो, अब सोचो, वह पेटी बिना अवकाश की

शिला में क्या रखी जा सकती है ? नहीं, अतः जब एक पेटी बिना अवकाश के नहीं स्थित की जा सकती तो पर्वत, वन समुद्र जैसे पदार्थ बिना अवकाश (आकाश) के स्थिति पा सकते हैं, किन्तु स्थित हैं इसलिये अवश्य अवकाश (आकाश) की सत्ता सनातन है, यदि आकाश न हो तो बौद्धों के आश्रम व स्वयं बौद्ध लोगों की स्थिति के लिये कोई आश्रय व आधार न होगा, अस्तु, इनका कथन भ्रममूलक है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! बौद्ध लोग आत्मा को अनित्य और क्षणिक वस्तु माँनते हैं, कृपा कर इसका निराकरण करें।

वेदव्यासजी : अनुस्मृतेश्च ॥२।२।२५॥

व्याख्या : पहले किये हुये कर्मों या अनुभवों का बार-बार स्मरण होने से अनुभव करने वाला आत्मा क्षणिक नहीं है। प्रत्येक मनुष्यों का स्वयं अनुभव है कि बालकपन से लेकर अब तक के किये हुये कर्मों व उनके भोगों का स्मरण बार-बार हुआ करता है। यदि आत्मा क्षणिक होता, तो अब तक देह में असंख्य आत्मा का होना सिद्ध होता और यह बार-बार स्मरण न करता कि मैंने बालकपन में ऐसा किया, ऐसा दुख पाया ऐसा सुख पाया क्योंकि प्रतिक्षण में जब आत्मा विनष्ट होता और दूसरे क्षण में दूसरा होता, तब दूसरा, प्रथम के किये हुये अनुभवों को अपना अनुभव मानकर कैसे स्मरण करता अर्थात् न करता परन्तु ऐसा नहीं होता यदि शरीर सौ वर्ष का है तब भी देह-सम्बन्धी सभी क्रिया-कलापों और सुख-दुखों का स्मरण बार-बार (बालकपने से लेकर अब तक का स्मरण) करता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य, अजर और अमर है इसलिये बौद्धों का क्षणिक वाद सर्वथा असंभव और अनुभवहीन तथा अविचारित है, जैसे एक कन्या ने विवाह के पश्चात् दस पुत्रों और पांच पुत्रियों को जन्म दिया। लड़कों-लड़कियों का विवाह भी उसने सविधान कर दिया, सब संतानें अपना-अपना कार्य जब संभाल लिये तब वह अपने पति के साथ भजन करने के लिये, बन चली गई फिर भी वहाँ उसे अपने विवाह से लेकर, पुत्र-पुत्रियों की गाथायें बार-बार याद आती हैं, अगर आत्मा बदल गया होता तो देह भी बदल जाती और पूर्व कृत्यों को अपना कृत्य मानकर वह स्त्री स्मरण न करती, इससे सिद्ध है कि आत्मा नित्य और अविनाशी है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! बौद्धों का कथन है कि अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है, जैसे, बोया हुआ बीज स्वयं नष्ट होकर ही अंकुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कारण स्वयं को मिटाकर ही कार्य की उत्पत्ति करता है अतएव उनके इस मान्यना का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२।२।२६॥

व्याख्या : असत से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे दृष्ट प्रमाण की प्राप्ति नही पायी जाती। 'नहीं' से 'है' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे, खरगोश के सींग से शृंग भस्म नहीं बन सकता, आकाश के पुष्पों से इत्र नहीं बनाया जा सकता, बन्ध्या का पुत्र किसी को मार नहीं सकता क्योंकि ये सब असत् हैं। इनके विपरीत जो मिट्टी, रुई, सोना आदि सत् पदार्थ हैं, उनसे घट-पट और अलंकार रूप कार्यों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, इससे सिद्ध है कि जो बिना हुये वाणी मात्र से कहा जाता है तथा जिसकी स्थिति बिना हुये आकाश नीलिमा की तरह भ्रान्ति रूप दिखाई दे रही है, उस असत से कार्य की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव और अशक्य है। बीजादि का दृष्टान्त उनके अनुकूल नहीं है क्योंकि बीज और दूध का अभाव नहीं होता अपितु रूपान्तर परिणाम होता है इसलिये जगत का कारण सत है, जिसका अभाव कभी नहीं होता, वह सर्वथा सत्य है, अस्तु, बौद्धों की मान्यता असंगत और अनर्गल है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! बौद्धों की जो यह मान्यता है कि बिना चेतन की प्रेरणा व शक्ति से, क्षणिक पदार्थों से अपने आप कार्य की उत्पत्ति होती है, उसका निराकरण किसी युक्ति से करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२।२।२७॥

व्याख्या : यदि किसी नित्य चेतन की शक्ति व प्रेरणा के बिना क्षणिक पदार्थों के समुदाय से, अपने आप कार्य की उत्पत्ति रूप सिद्धि दृष्टगोचर होने लगती है, तब तो उदासीन पुरुषों के कार्य, बिना उनकी चेष्टा व कार्य-सिद्धि की बिना इच्छा से, पदार्थीय शक्ति के द्वारा अपने आप सिद्ध हो जाने चाहिये किन्तु लोक में ऐसा कार्य किसी से कभी देखा नहीं गया इसलिये यही सिद्ध होता है कि बौद्धों की यह मान्यता सीमीचीन (निर्दोष) नहीं है, मनमानी फिरे सिर की उपज

है। बौद्धों की यह मान्यता सिद्ध होती तो अपने आप पदार्थ परमाणुओं के एकत्री-करण से ही मनुष्य उत्पन्न हो जाते, अन्न, वस्त्र, मकान, वाहन, पलंग तैयार हो जाते, चावल, दाल, रोटी, हलुआ, पूड़ी, पकौड़ी, मालपुआ तस्मई के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बिना किसी के बनाये ही बन जाते। खेती, चाकरी वाणिज, भिक्षा आदि बिना किये सब ठीक रहता तथा उदासीन और आलसियों को तो अधिक ही आनन्द आता किन्तु ऐसा नहीं होता। न जाने बौद्ध भाईयों ने यह वार्ता किस खोपड़ी से निकाली है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! वैभाषिक बौद्ध तथा सौत्रान्तिक बौद्ध का क्षणिक वाद तो निरस्त हो गया किन्तु तीसरे विज्ञानवादी (योगाचार) बौद्ध का जो यह कथन है कि प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला पदार्थ वास्तव में कुछ नहीं हैं, स्वप्नवत बुद्धि की कल्पना मात्र हैं, अतः इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **नाभाव उपलब्धेः ॥२।२।२८॥**

व्याख्या : प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनने वाले वाह्य पदार्थ मिथ्या नहीं हैं। वे कारण और कार्य रूप में (दोनों स्थितियों में) सर्वदा सिद्ध हैं इसलिये उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि सबको होती है यदि वे प्रत्यक्ष पदार्थ स्वप्नगत् पदार्थों की भाँति तथा आकाश में दिखाई देने वाली नीलिमा आदि के समान सर्वथा असत्य होते तो उनकी उपलब्धि, उसी प्रकार न होती जैसे स्वप्न के दृश्य पदार्थों की, इसलिये योगाचार-बौद्धों की उक्त मान्यता मनमानी है, वेद-विहीन होने से स्वतन्त्र स्त्री के समान है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! विज्ञान वादी बौद्धों का कथन है कि उपलब्धि मात्र से दृश्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती जैसे स्वप्न के व जादूगर के पदार्थों की उपलब्धि तो होती है किन्तु वे सत्ताहीन मिथ्या होते हैं।

वेदव्यासजी : **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२।२।२९॥**

व्याख्या : स्वप्न में दीखने वाली वस्तुयें वही होती हैं जो पहले की प्रत्यक्ष देखी और सुनी तथा व्यवहार में लाई हुई होती हैं, स्वप्नान्त में उनकी उपलब्धि नहीं होती किन्तु एक का देखा हुआ स्वप्न-दृश्य, दूसरे को नहीं दिखाई देता। बाजीगर के खेल में भी दृश्य वस्तुयें अल्प समय के बाद उपलब्ध नहीं होतीं, इसी

प्रकार मरु भूमि में जल, सीप में रजत का आभास होता है परन्तु उनकी उपलब्धि नहीं होती। इसके विपरीत जाग्रत समय में एक दो दिखाई देने वाली वस्तुयें सभी आँख वालों को एक ही साथ दिखाई देती हैं। यह उपलब्धि जाग्रत जीवन का निर्वाह करने वाली तथा सबको अपना सत्य अनुभव कराने वाली होती है, कालान्तर में भी उसकी उपलब्धि होती है, एक आकार नष्ट हो जाने पर भी, दूसरे आकार में उसकी सत्ता बनी रहती है जैसे, स्वर्णालङ्कार है, उसे तोड़ देने पर भी स्वर्ण की सत्ता स्थित रहेगी, रूप में चाहे कितने भी परिणाम होते जांय, इस प्रकार स्वप्नगत पदार्थों एवं भ्रांति से प्रतीत होने वाले पदार्थों के धर्मों में तथा जाग्रत अवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले सत पदार्थों के धर्मों में अन्धकार और प्रकाश के समान बहुत अन्तर है इसलिये स्वप्नादि दृष्टान्त के व्यर्थ बल पर विज्ञान वादी का यह कहना असंगत है कि उपलब्धि मात्र से पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं होती जैसे, कोई राजा जो सर्वभावेन राज्योचित धन, बल, मित्र, मन्त्री आदि वैभवों से युक्त है तथा प्रजा का रंजन करता हुआ सब प्रकार से सुखी है अगर स्वप्न में वह अपने को राज्यहीन, भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करने वाला तथा जगत पद-दलित देखे तो क्या जाग्रत और स्वप्नावस्था के कार्यों व धर्म में दोष नहीं है, अवश्यमेव है, इसलिये जाग्रत अवस्था में उपलब्ध होने वाले पदार्थ, स्वप्नावस्था के दृश्य पदार्थों की तरह मिथ्या नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! विज्ञान वादी का कथन है कि बाह्य वस्तुयें न होने पर भी, पूर्व संस्कार के कारण बुद्धि के शीशे पर, उन विचित्र-विचित्र वस्तुओं के प्रतिबिम्ब की झलक उपलब्ध होना संभव है।

वेदव्यासजी : **न भावोऽनुपलब्धे ॥२।२।३०॥**

व्याख्या : जिस वस्तु का साक्षात् दर्शन, स्पर्श, श्रवण और अनुभव पहले उपलब्ध हो चुका है, उसी के संस्कार चित्त के कोष में जमा होते हैं और वे ही समय-समय पर वासना रूप से स्फुरित होते हैं, जैसे सिनेमा की रील में जो चित्र चित्रित होते हैं वे ही दृष्टा के सामने दृश्य रूप में प्रत्यक्ष होते हैं अतएव पदार्थों की सत्ता स्वीकार न करने पर, उनकी उपलब्धि असंभव है और पदार्थ की उपलब्धि सिद्ध हुये बिना, पूर्व अनुभव के अनुसार वासना की सत्ता सिद्ध नहीं होगी इसलिये विज्ञान वादियों की उक्त मान्यता मानने योग्य नहीं है। बाह्य पदार्थों को

सत्य समझना ही न्याय और युक्ति संगत है जैसे, जड़ भरत जी के पास मृग साक्षात् और सत्य था जिसे वे लाड़-प्यार से रखे थे। आसक्ति के कारण उनके चित्त में मृग समाया हुआ था, अस्तु, मरने के पश्चात् उसी मृग-वासना के कारण साक्षात् और सत्य मृग उन्हें होना पड़ा। पहले मृग सत्य था अगर मृग नाम का कोई पदार्थ न होता तो उसकी उपलब्धि न होती और बिना उपलब्धि के पूर्व अनुभव के अनुसार वासना की सिद्धि न होती इसलिये बाह्य पदार्थों की सत्ता, सत्य मानना ही युक्ति संगत है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से बिना पदार्थ की सत्ता सिद्धि के वासना का न होना, सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यसाजी : **क्षणिकत्वाच्च ॥२।२।३१॥**

व्याख्या : वासना के आधार भूत चित्त को भी विज्ञान वादी क्षणिक मानते हैं तथा विचार विमर्श देने वाली बुद्धि को क्षणिक स्वीकार करते हैं इसलिये वासना के आधार की सत्ता ही जब अस्थिर है तब निराधार वासना का अस्तित्व किसी प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता जैसे, मालपुआ खाने की वासना चित्त में समायी है, यह वार्ता तभी ठीक है जब चित्त की सत्ता स्वीकार करेंगे, अगर चित्त की सत्ता नहीं मानते तो वासना रहेगी कहाँ, अतः वासना की सत्ता स्वयं असिद्ध हो जायगी इसलिये बौद्ध मत भ्रान्ति पूर्ण, स्वयं और पर को भी धोखा देने वाला है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! तो क्या बौद्ध मत सर्वथा अमान्य है ?

वेदव्यासजो : **सर्वथानुपपत्तेश्च ।२॥२।३२॥**

व्याख्या : हाँ, हाँ, चारों प्रकार के बौद्धमतानुयायियों की मान्यताओं पर जितना-जितना गहराई से विचार किया जाता है, उतना-उतना ही दोषों का बाहुल्य सामने आता जाता है। उनकी प्रत्येक मान्यतायें युक्तियों से खडित हो जाती हैं इसलिये बौद्धमत उपादेय हीन निरर्थक है। जिन युक्तियों से क्षणिक वाद और विज्ञान वाद का खण्डन किया गया है, उन्ही युक्तियों से माध्यमिक बौद्ध मतावलम्बियों का शून्यवाद भी खण्डित हुआ समझना चाहिये जैसे, किसी वृक्ष के ठूंठ को देखकर कोई अनुमानवादी उसे भूत कहता है, कोई मनुष्य कहता है, कोई

वस्त्र लपेटा स्तम्भ कहता है, कोई कहता है कुछ नहीं है केवल दृक भ्रम है किन्तु ठूँठ के प्रत्यक्ष द्रष्टा ने कहा कि तुम चारों की बात झूँठी है, यह आम के वृक्ष का तना खड़ा है जिसकी ऊपरी छाल निकाली हुई है, हम अपनी आँखों से देखी हुई बात कहते हैं, अस्तु, द्रष्टा के सत्य संश्लिष्ट उत्तर से चारों की बातें निरस्त हो गईं, एक-एक की वार्ता का खंडन करके उन्हें समझाने की आवश्यकता नहीं हुई, वैसे ही उक्त सूत्र के विषय को जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जैनी लोग सप्तभंगी न्याय के अनुसार एक ही पदार्थ की सत्ता भी मानते है और असत्ता भी । अत: उनकी इस असंगत वार्ता का निराकरण करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **नैकस्मिन्नसम्भवात् ।।२।२।३३।।**

व्याख्या : जो एक सत्य पदार्थ है, उसमें प्रकार भेद हो तो सकते हैं किन्तु परस्पर विरोधी धर्म नहीं हो सकते जैसे, आम एक सत्य पदार्थ है उसमें दशहरी, लंगड़ा, माल्दहा आदि नामों व आकारों तथा खट्टे, मीठे, छोटे-बड़े आदि से प्रकार भेद तो हो सकता है किन्तु "संभव है आम होता है और संभव है नहीं भी होता" इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्म का होना सर्वथा असंभव है । अत: जैनियों का, प्रत्येक वस्तु को परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त बताना, युक्ति संगत नहीं है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैनी लोग बताते हैं कि आत्मा की माप शरीर के बराबर है, इस विषय में प्रकाश डालने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ।।२।२।३४।।**

व्याख्या : जिस प्रकार एक सत्य पदार्थ में विरोधी धर्म मानना असंगत है, उसी प्रकार शरीर के बराबर माप वाला कहकर आत्मा को अपूर्ण एक देशीय बताना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि यदि कोई मनुष्य मरने के बाद कर्म वश कीड़े-मकोड़े-चीटी आदि का शरीर पाया तो मनुष्य शरीर के बराबर माप वाली आत्मा उक्त जीवों में कैसे आ सकेगी । इसी भाँति कर्मवश उसे हाथी का बड़ा शरीर मिला तो वह मनुष्य, आत्मा, हाथी के बराबर कैसे हो जायगी, मनुष्य का शरीर भी पहले छोटा होता है फिर क्रमश: बड़ा होता है तो आत्मा किस काल के शरीर

के माप वाला होता है यह प्रश्न उठता है, कभी-कभी किसी के हाथ-पांव कट जाते हैं तो क्या उतनी आत्मा भी छोटी हो जाती है; इस प्रकार ऊहा पूह करने पर आत्मा को शरीर के बराबर माप वाला मानना सर्वथा दोष पूर्ण प्रतीत होने से जैन मत भी असंगत होने के कारण अमान्य और उपादेय न होने से त्याज्य है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि जैनी यह कहें कि आत्मा जब जैसे छोटे-बड़े शरीर में जाता है तब तैसे आकार का हो जाता है अतः हमारी मान्यता निर्दोष है, तो इसका निराकरण कैसे किया जायगा।

वेदव्यासजी : **न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥२।२।३५॥**

व्याख्या : यदि आत्मा को शरीर के अनुसार घटने-बढ़ने वाला मान लिया जाय तो भी आत्मा निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि घटने-बढ़ने से निर्विकार आत्मा में विकार का आरोप हो जायगा, जो पदार्थ घटता-बढ़ता है, वह अवयव युक्त अनित्य तथा विकारी होता हैं किन्तु आत्मा अवयवहीन, नित्य और निर्विकार माना गया है; इस प्रकार छोटा-बड़ा होने से आत्मा में बहुत से दोष आरोपित हो जाते हैं अतः जैनियों की उपर्युक्त मान्यता युक्ति संगत न होने से अमान्य है जैसे, सूर्य छोटे-बड़े समस्त जलाशयों में एक समान परिभासित होता है, वह छोटे में छोटा व बड़ों में बड़ा नहीं होता वैसे ही आत्मा सर्व शरीरों में समान स्थित है किन्तु उस आत्मा को छोटा-बड़ा शरीर के अनुसार बताना सर्वथा अयुक्त है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से उपर्युक्त वार्ता को पुनः समझायें।

वेदव्यासजी : **अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥२।२।३६॥**

व्याख्या : जैनी लोग अपने जैन शास्त्र के अनुसार यह मानते हैं कि मोक्ष दशा में जो जीव का परिमाण होता है, उसकी स्थिति नित्य होती है वह छोटा बड़ा नहीं होता अतः आदि और मध्य के माप को भी नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि यदि पहले का माप अनित्य है तो अन्त का माप भी पहले के समान ही अनित्य होना चाहिये अर्थात् जो अनित्य है, वह सदा अनित्य रहेगा और जो नित्य है, वह सदा एक-सा रहेगा, उसमें घटने बढ़ने का विकार न होगा इसलिये उसे आदि

वा मध्य में जो शरीर मिले, उसमें जीव की बराबर माप मानना पड़ेगा, अस्तु, किसी प्रकार की विशेषता को स्वीकार करना असंगत मानकर तथा पूर्वापर की मान्यता में विरोध की उत्पत्ति समझकर आत्मा को प्रत्येक शरीर के प्रमाण का मानना सर्व भावेन असंगत है अतएव जैनमत, सुनने, जानने और मानने के योग्य नहीं है जैसे, कोई कहे कि गंगाजी का पुल अब भी वही है जो आदि में बना था किन्तु पहले यह पुल बड़े विस्तार का लगता था, बीच में भी कई बार छोटा-बड़ा दिखाई दिया, अब अन्त में कई वर्षों से एक-सा दिखाई दे रहा है; विचार करें इस वार्ता की संगति क्या बैठती है। अरे भाई ! जब पुल वही है जो प्रथम बना था तो बीच में छोटा-बड़ा कैसे हुआ ? जो सेतु अन्त में जैसा है, वह आदि और मध्य में भी वैसा ही रहा होगा या जो आदि में जैसा रहेगा वह पुल अन्त में भी वैसे ही माप वाला रहेगा इसलिये कहने वाले की उक्त वार्ता पूर्वापर विरोध के कारण अमान्य ठहरेगी तदनुसार जैनियों के सिद्धान्त को भी समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अनीश्वर वादियों के मत का तो खण्डन हो गया किन्तु पाशुपत मत के विषय में आपने कुछ नहीं कहा इसलिए उसकी मान्यता पर प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यास जी : **पत्युरसामञ्जस्यात् ॥२।२।३७॥**

व्याख्या : पाशुपत सिद्धान्त की मोक्ष साधन-सामग्रियां बड़ी भयानक, बीभत्स और विचित्र हैं। जैसे, कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत (सूत्र का नहीं) इन छह मुद्राओं के धारण करने मात्र से पुनरागमन की निवृत्ति (मुक्ति) हो जाती है। यम, नियम, ध्यान, धारणा व इष्ट-सेवा की आवश्यकता नहीं है। हाथ में रुद्राक्ष का कंकण, मस्तक पर जटा, मुर्दे की खोपड़ी का करवा, और भस्म आदि लगाने मात्र से पशुपति-मत वाले मोक्ष मानते हैं तथा महेश्वर को निमित्त कारण और प्रधान (प्रकृति) को उपादान कारण मानते हैं। अतः पाशुपत में तत्वों की कल्पना वेद-विरुद्ध, मुक्ति के साधन वेद-विरुद्ध तथा जगत की उत्पत्ति भी वेद विरुद्ध है इसलिये युक्ति संगत न होने तथा विरोधी होने से, यह मत मान्यता देने के योग्य नहीं है जैसे कोई उत्तम ब्राह्मण कुल का एक आदमी ब्रह्म कर्म व धर्म को त्यागकर, मांस, मदिरा, मैथुन में रत हो जाय, ब्रह्म वेष का अनादर कर भूतों जैसा वेष बना ले और अपनी इन्हीं कुवृत्तियों

को मोक्ष का साधन मानने लग जाय तथा अपने जैसा अन्य लोगों को बनाने के लिये पुस्तक लिखे, व्याख्यान दे तो उसकी वार्ता शिष्ट पुरुषों को अमान्य होगी वैसे ही पशुपति मत को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! पाशुपतों के निमित्त कारण वाद का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यास जी : **सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥२।२।३८॥**

व्याख्या : पाशुपतों की मान्यता के अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है और प्रधान, जगत का उपादान कारण है। अब विचार करें कि कुंभकार मिट्टी के बर्तन बनाने में निमित्त कारण है, अस्तु, बर्तन के उपादान कारण के साथ अपना संयोग सम्बन्ध स्थापित करता है, तब बर्तन बन पाते हैं किन्तु ईश्वर अवयव रहित निराकार है अतः सावयव कुंभकार की भाँति प्रधान (जड़ प्रकृति) से अपना संयोग सम्बन्ध नहीं कर सकता इसलिये उससे जगत की रचना भी नहीं हो सकेगी जैसे, लंगड़े हाथ, पैर विहीन, मूक तथा अन्धा कुंभकार मिट्टी से अपना न संयोग सम्बन्ध स्थापित कर सकता और न बिना संयोग बर्तन बना सकता; तदनुसार पाशुपतों की वार्ता न वेद से सिद्ध होती और न तर्क से, अतः यह मत सर्वथा अमान्य है।

मुमुक्षु मुखेन : क्या पाशुपत में कोई अन्य अनुपपत्ति भी है ?

वेदव्यासजी : **अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥२।२।३९**

व्याख्या : पाशुपतों की मान्यता के अनुसार निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण 'प्रधान' है अतएव जैसे कुंभकार मिट्टी का अधिष्ठाता होकर, घट आदि का निर्माण करता है, उसी प्रकार ईश्वर को भी प्रधान का अधिष्ठाता बनकर जगत कार्य करना चाहिये किन्तु ईश्वर कुंभकार की भाँति अवयव युक्त नहीं है इसलिये निराकार ईश्वर अधिष्ठान कैसे हो सकता है तथा प्रधान भी मिट्टी की तरह साकार नहीं है अतः वह भी ईश्वर का अधिष्ठेय कैसे हो सकता है इसलिये ईश्वर को निमित्त कारण मानने वाला वेद-विरुद्ध पाशुपत मत असंगत और अमान्य है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि पशुपति मत वाले ईश्वर को देह और इन्द्रियों से युक्त मान लें, तब उनकी मान्यता ठीक रहेगी क्या ?

वेदव्यासजी : करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥२।२।४०॥

व्याख्या : यदि कुंभकार की तरह जगत कार्य करने के लिये सर्वकरणों से युक्त कलेवर धारण कर लेना, ईश्वर को भी स्वीकार कर लिया जाय तो भी असंगत है क्योंकि शरीरधारी होने के कारण संसारी जीवों की भाँति, उसे भी कर्म-फलों के भोगने का प्रसंग वा दोष उपस्थित हो जायगा, जिससे ईश्वर की ईश्वरता भी सिद्ध नहीं होगी इसलिए वेद वाक्यों के अनुसार बिना उपादान कारण स्वीकार किए केवल निमित्त कारण ईश्वर को मानना युक्ति संगत नहीं है जैसे, राजा किसी कार्य सिद्धि के लिये भिखारी का वेष बनाकर 'भिक्षां देहि' घर-घर जाकर कहने लगे तो निश्चय है कि उसे भी साधारण भिखारियों की भाँति भोजन व मान-अपमान भोगने पड़ेंगे तथा उस समय वह राजा भी नहीं कहा जा सकता; ठीक ईश्वर के विषय में कही हुई उपर्युक्ति इसी दृष्टान्त की भाँति समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! ईश्वर को सावयवी मानने पर पाशुपत में क्या अन्य दोषों के आने की भी संभावना हैं ?

वेदव्यासजी : अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥२।२।४१॥

व्याख्या : पाशुपत की मान्यतानुसार ईश्वर अनन्त और सर्वज्ञ है तथा प्रकृति और जीव, दोनों ये भी अनन्त हैं, अस्तु, उनके प्रतिपक्ष में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि पाशुपत का माना हुआ ईश्वर, जीवों की संख्या तथा वे किस-किस प्रकार के हैं तथा प्रधान का स्वरूप क्या है, कैसा होता है ? इसके उत्तर में वे यदि यह कहते हैं कि हमारा ईश्वर सब कुछ जानने वाला है, तब तो संख्या में आ जाने वाले प्राणी व पदार्थों को, अनन्त मानना व कहना युक्त न होगा, यदि वे यह कहें कि यह सब ईश्वर नहीं जानता तो उनका ईश्वर सर्वज्ञ न माना जायगा इसलिये ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति को सान्त मानना उपयुक्त होगा, या तो ईश्वर को अल्पज्ञ स्वीकार करना पड़ेगा; इस प्रकार पाशुपत सिद्धान्त दोष युक्त एवं श्रुति विरोधक होने के कारण अमान्य है । एक व्यक्ति से किसी ने पूछा कि तुम्हारे गाँव में जितने आदमी हैं, उन सबको जानते हो क्या ? प्रश्नकर्ता की बात को सुनकर उसने कहा, अरे भाई ! हम अपने गाँव के मनुष्य क्या, पशुओं

को भी जानते हैं, तब पूछने वाले व्यक्ति ने कहा कि बताओ अमुक-अमुक को जानते हो ? उन लोगों के घर किधर हैं ? गाँव के तथा उनकी उम्र व वेषभूषा कैसी है । तब वह उत्तर न दे सका । अतः सर्वज्ञ सिद्ध न होकर वह अल्पज्ञ सिद्ध हुआ । इसी प्रकार किसी वस्तु को असंख्य कह कर अँगुलियों से गिनकर, उनकी संख्या बताये तो वह वस्तु असंख्य सिद्ध न होगी । यही दृष्टान्त उक्त सूत्र के अर्थ को प्रकट करता है ।

विशेष : जो व्यक्ति श्रुति सिद्धान्त के अनुयायी हैं, उनको कोई वेद वाक्य व तत् सम्बन्धी प्रश्न, युक्तियों व दृष्टान्तों तथा तर्कों से सिद्ध करने की आवश्यता नहीं पड़ती क्योंकि वे वेद वाणी को साक्षात् अनुभवीय प्रमाण मानते हैं, वे लोग ईश्वर को सर्व समर्थ अर्थात् अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न जानकर, जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर को स्वीकार करने में कोई तर्क मन में उत्पन्न नहीं करते । वेद वाणी को निर्भ्रान्ति सत्य मानने से उन्हें कोई भी युक्ति मूल्यवान नहीं प्रतीत होती किन्तु वेद-विरोधी जितने भी मत हैं, वे सब उनके बौद्धिक तर्क की नींव पर ही स्थित हैं इसलिये ये सब अपनी बात तर्क से सिद्ध किया करते हैं, परन्तु तर्क की कोई प्रतिष्ठा न होने से तार्किकों को प्रापणीय वस्तु का पाना कौन कहे, ज्ञान भी नहीं हो पाता, असत्य से सत्य हाथ में नहीं लगता तथा सत्य की आँच से असत्य का सर्वनाश हो जाता है अतः उपर्युक्त जितने वाद हैं न वेद से सिद्ध होते न तर्क से, इसलिये सर्वथा अमान्य तथा उपादेय न होने से त्याज्य हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी तर्क करते हैं कि भागवत व पाञ्चरात्र में जगत उत्पत्ति की प्रक्रिया के अनुसार परम कारण परब्रह्म परमात्मा स्वरूप 'वासुदेव' से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति हुई, जीव से प्रद्युम्न स्वरूप मन होता है और प्रद्युम्न रूपी मन से अनिरूद्ध नामक अहंकार होता है, क्या वे इस प्रकार का तर्क उठा कर निरुत्तर नहीं होते ?

वेदव्यासजी : **उत्पत्त्यसम्भवात् ।।२।२।४२।।**

व्याख्या : छिद्रान्वेषी का काम छिद्र ढूंढ़ना, तार्किकों का काम तर्क करना हैं अतः वे चुप कैसे रहें । पूर्व पक्षी का कहना है कि परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम

भगवान वासुदेव ही जगत के निमित्त व उपादान कारण हैं, यह वार्ता वेद वाणी के अनुसार ठीक है किन्तु वासुदेव से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति हुई, यह कथन वेद विरुद्ध मालुम होता है क्योंकि कठोपनिषद (१।२।१८) में जीव को जन्म-मरण से रहित नित्य और अविनाशी कहा है, जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह अवश्य ही मृतभाव को प्राप्त होती है अतः जीव की उत्पत्ति न मानना ही उचित है; यदि जीव का जन्म-मरण मान लिया जाय तो वेद वर्णित जीव की बद्ध मुक्त अवस्था तथा आवागमन से रहित होकर, ब्रह्म-प्राप्ति के साधन व्यर्थ हो जायँगे इसलिये जीव की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी क्या और शंका करते हैं ?

वेदव्यासजी : न च कर्तुः करणम् ॥२।२।४३॥

व्याख्या : उनकी दूसरी विरोध वार्ता यह है कि वासुदेव से जैसे संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति असंभव है वैसे ही प्रद्युम्न नामक, मनस्तत्व की उत्पत्ति, संकर्षण कहे जाने वाले चेतन जीवात्मा से संभव नहीं हो सकती तथा उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार तत्व की उत्पत्ति असंभव है क्योंकि जीवात्मा चेतन कर्ता है और मन करण है अतएव कर्ता से करण की उत्पत्ति सर्वथा असंभव है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! दो सूत्रों में कही गई विरोध वार्ताओं का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥२।२।४४॥

व्याख्या : पाञ्चरात्र शास्त्र व भागवत पुराण में जीव की उत्पत्ति व कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं कही गई है। संकर्षण को जीव तत्व का अधिष्ठाता तथा प्रद्युम्न को मनस्तत्व का, अनिरुद्ध को अहंकार तत्व का अधिष्ठाता बताया गया है, ये सब वासुदेव भगवान के अङ्ग रूप में कहे गये हैं जैसे संकर्षण को भगवान का प्राण, प्रद्युम्न को मन और अनिरुद्ध को अहंकार बताया गया है, जो वासुदेव से पृथक सिद्ध नहीं किये जा सकते अतः जहाँ उनके उत्पत्ति का कथन है, वहाँ उनके अंशों का वर्णन है जैसे, परब्रह्म परमात्मा भक्तों के लिये अवतार लेते

हैं, वैसे ही उनके अंश, कला आदि का भी अवतार होना, आगम, इतिहास और पुराणों में आता ही है, श्रुति के भी प्रमाण एक नहीं बहुत मिलते हैं। 'अजायमानो बहुधा विजायते' यजु० (३१/१६) श्रीराम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, वाराह, मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों के प्रमाण भी वेद में पाये जाते हैं। संकर्षण आदि अंशावतारों में भी श्री, यश, ज्ञान, वैराग्य, तेज, बल ये वासुदेव भगवान के समान ही पाये जाते हैं अतः सकर्षणादि सब भगवान वासुदेव से भिन्न नहीं हैं, इसलिये भगवान वासुदेव का व्यूहों के रूप में प्रकट होना वेद-विरुद्ध नहीं है। भक्तों की भावना के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होना भगवान के अचिन्त्य शक्ति के वैभव का द्योतक है। भगवान सगुण रूप से चतुर्व्यूहादि विग्रह तथा धराधाम में विभवादि अवतार न लें तो सारी श्रुति मर्यादायें लुप्त सी हो जायेंगी इसलिये परब्रह्म परमात्मा का अवतार, जब-तब वेद धर्म की स्थिति के लिये, दुष्टों तथा तार्किकों के दमन के लिये और वेदानुगामी अपने अनुयायियों को सुख देने के लिये होता रहता है, अस्तु, पूर्व पक्षियों की वार्ता का खण्डन उसी प्रकार हो जाता है जैसे, जगत में सत्य और प्रत्यक्ष वस्तु का अभाव कोई कहे तो उस हठधर्मी का असत्य कथन कितनी देर टिक सकता है। सत्य सनातन है, सदा रहेगा।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पाञ्चरात्र आगम, सर्वथा श्रुति सिद्धान्त के अनुकूल है, किसी अंश में वेद-विरुद्ध नहीं है, इस तथ्य को दृढ़ करने के लिये कुछ और कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **विप्रतिषेधाच्च ॥२।२।४५॥**

व्याख्या : पाञ्चरात्र में जीवात्मा के जन्म-मरण का निषेध तथा उसे चेतन, अमल, अविनाशी, अनादि और नित्य कहा गया है, इसलिये यह सिद्ध है कि उक्त शास्त्र का वैदिक सिद्धान्त से कोई विरोध नाम मात्र नहीं है। इस शास्त्र में जो यह प्रसंग आता है कि, "शाण्डिल्य ऋषि ने चारों वेदों का अध्ययन उनके अङ्गों सहित किया किन्तु अपनी निष्ठा उनमें न पाकर, इस भक्ति शास्त्र का अध्ययन किया" इस कथन से वेदों को हेय बताना, उनका प्रयोजन नहीं है; अपितु भक्ति सुधा के प्यासे हृदय, वे वेद-सिन्धु को मथकर भक्ति-सुधा निकालने में महान परिश्रम का अनुभव किये तदनन्तर वेद-सिन्धु से अन्य द्वारा निकाला हुआ पाञ्चरात्र की कनक-कलशी में स्थित, भक्ति-सुधा का पान कर के शाण्डिल्य जी का हृदय

तृप्त हो गया। बताया गया है, जिससे वेद-सिन्धु से निकली हुई भक्ति-सरिता तथा भक्ति-शास्त्र और भक्ति के उद्गम वेद की महिमा का वर्णन सिद्ध होता है। छान्दो० उप० (७।१।२-३) में नारदजी विषयक ऐसी ही वार्ता पाई जाती है। श्रीनारद जी ने सनत्कुमार जी से कहा है कि, "मैंने समस्त वेद-वेदाङ्ग पढ़े, इतिहास, पुराण पढ़े तो मुझे आत्मतत्व का अनुभव नहीं हुआ।" यह कथन समस्त श्रुति-शास्त्रों को हेय बताने के लिये नहीं है अपितु आत्मज्ञान की महत्ता निरूपित करने के लिये हैं। इसी प्रकार पाञ्चरात्र में शाण्डिल्य मुनि के बचन, भक्ति-शास्त्र की महत्ता प्रकट करने के लिये हैं, वेदों को हेय बताने के लिये नहीं अतः यह शास्त्र सर्वभावेन दोष रहित एवं वेदानुकूल है।

तात्पर्यार्थ : इस पाद में वेद विरुद्ध सांख्य के प्रधान पाद, परमाणुवाद, बौद्धवाद, जैनवाद इत्यादि वादों का खण्डन करके वैदिक सिद्धान्त की नित्यता, सत्यता स्थापित कर जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को सिद्ध किया गया है। तत्पश्चात् पाञ्चरात्र शास्त्र को सर्वथा वेद के अनुकूल बताकर, भक्ति-शास्त्र की महत्ता स्थापित की गई है, जिसे पढ़कर शाण्डिल्य ऋषि को भक्ति की महिमा का वर्णन करने को बाध्य होना पड़ा। साथ ही इस अध्याय में परब्रह्म परमात्मा वासुदेव से उनके अङ्ग भूत सगुण साकार संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध का प्रकट होना कहा गया है, जिससे पुरुषोत्तम भगवान के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इत्यादि सभी रूपों का होना सूचित होता है इसलिये वेदानुयायियों को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्रेमा-भक्ति प्राप्त करना ही प्रयोजन होना चाहिये। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम में भाव भरे रत रहना, वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद का सार-सिद्धान्त है।

।।श्री वेदव्यासकृत ब्रह्म सूत्रान्तर्गत द्वितीय अध्याय
का द्वितीय पाद समाप्त।।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

द्वितीय अध्याय का तृतीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुतियों में जो जगत उत्पत्ति क्रम है, उसमें कहीं प्रथम आकाश की और कहीं तेज की उत्पत्ति कही गई है अतः इसका निराकरण करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **न वियदश्रुतेः ॥२।३।१॥**

व्याख्या : हाँ, हाँ, शंका वादियों का कथन है कि छान्दोग्योपनिषद में (६।२।१) से लेकर (६।३।४) तक जहां जगत की उत्पत्ति बताई गई है, वहां आकाश की उत्पत्ति का नाम नहीं आया अपितु आकाश को विभु (व्यापक) कहा गया गया है, वहाँ तो प्रथम-प्रथम तेज की उत्पत्ति कही गई है फिर तेज, जल और अन्न के संयोग से जगत की रचना बताई गई है इसलिये आकाश नित्य होने के कारण उत्पन्न नहीं होता, यही इस प्रसंग से सिद्ध होता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **अस्ति तु ॥२।३।२॥**

व्याख्या : तैत्तरीयोपनिषद (२।१।१) में ब्रह्म अनन्त, ज्ञान स्वरूप और सत्य है । इस प्रकार ब्रह्म लक्षणाधिगत करा के उसी परब्रह्म परमेश्वर से आकाश का उत्पन्न होना कहा गया है, अस्तु, यह कहना उचित नहीं है कि वेद में आकाशोत्पत्ति की चर्चा नहीं है । कोई कहे कि हमने साहित्य शास्त्र का अवलोकन तो किया किन्तु उसमें क,ख,ग,घ,ङ आदि वर्गों को उसमें लिखा हुआ नहीं पाया इसलिये ये अक्षर गिरा मुख से निकले हुये नहीं कहे जा सकते । अरे भाई! साहित्य

शास्त्र वर्णमाला के अक्षरों से ही लिखा है, तुमने मस्तिष्क को जगाकर देखा नहीं है, ठीक ऐसा ही कथन उपर्युक्त है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! इस पर पूर्व पक्षी का क्या कथन है ?

वेदव्यासजी : **गौण्यसम्भवात ।।२।३।३।।**

व्याख्या : अवयवहीन और व्यापक होने के कारण आकाश की उत्पत्ति होना किसी प्रकार संभव नहीं है इसलिये तै० उप० में कही गई आकाश की उत्पत्ति गौण है। इसके कहने का अभिप्राय कुछ अन्य ही होगा; इस प्रकार पूर्व पक्षी पुनः शंका उठाते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिये कुछ और कहते हैं क्या ?

वेदव्यासजी : **शब्दाच्च ।।२।३।४।।**

व्याख्या : बृह० उप० (२।३।३) में 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' वायु और अन्तरिक्ष अमृत बताये गये हैं, अस्तु, अमृत की उत्पत्ति संभव नहीं है। जन्म तो मृत का होता है। तै०उप० (१।६।२) में यह भी बताया गया है कि (आकाश शरीरे ब्रह्म) जिस प्रकार आकाश अनन्त है, उसी प्रकार आत्मा को अनन्त समझना चाहिये, आकाश ब्रह्म का शरीर है इत्यादि वेद-वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार तार्किकों के हृदय में तर्कों की परम्परा चालू रहा करती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त श्रुति में जैसे आकाश की उत्पत्ति बताने वाले सूत्र हैं, उसी प्रकार वायु, अग्नि की उत्पत्ति बताने वाले मन्त्र वाक्य हैं तो पूर्व पक्षी आकाश की उत्पत्ति को गौण और वायु आदि की उत्पत्ति को मुख्य किस आधार पर मानते हैं ?

वेदव्यासजी : **स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।।२।३।५।।**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (१।१।८) के एक ही प्रकरण में पहले यह कहा

गया है कि ब्रह्म, विज्ञानमय तप से परिवृद्धि को प्राप्त होता है। उससे अन्न उत्पन्न होता है। तदनन्तर मुण्ड०उप० (१।१।८) में कहा हैं कि जो सर्वज्ञ है, सबका ज्ञान रखने वाला है, जिसका ज्ञान मय तप है, उससे यह ब्रह्म और नाम रूप तथा अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकरण में जैसे प्रथम ब्रह्म शब्द मुख्य अर्थ में कहा गया है और पीछे वही ब्रह्म शब्द, गौण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वैसे ही किसी एक शाखा में आकाश की उत्पत्ति गौण रूप से बतायी जा सकती है। इस प्रकार पूर्व पक्ष को समझने से सिद्धान्त पक्ष में अधिकतम दृढ़ता लाई जा सकती है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! पूर्व पक्षी की शंकाओं का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य ।।२।३।६।।**

व्याख्या : जिस एक (ब्रह्म) के जानने से सम्पूर्ण जगत जाना हुआ हो जाता है, ऐसी प्रतिज्ञा उपनिषदों में की गई है तथा उस प्रकरण में जो कारण-कार्य के दृष्टान्त दिये गये हैं, उन सबका सिद्ध होना तभी बन सकता है जब आकाश को ब्रह्म के कार्य से पृथक न मानेंगे अन्यथा असम्भव है क्योंकि मिट्टी और सुवर्ण के दृष्टान्त से, एक कारण के ज्ञान से उसके सभी कार्यों का ज्ञान हो जाना, वहाँ बताया गया है, अस्तु, आकाश को यदि ब्रम्ह का कार्य स्वीकार न कर, आकाश की सत्ता पृथक सिद्ध करेंगे तो कारण स्वरूप ब्रह्म को जान लेने पर भी आकाश जाना हुआ नहीं हो सकता, इससे की हुई प्रतिज्ञा की हानि होगी। मुण्डकोपनिषद तथा छान्दोग्योपनिषद में वाक्य आते हैं कि, 'यह सब ब्रह्म ही है' 'यह सब ब्रह्म का स्वरूप है' 'यह सब संदेह रहित ब्रह्म ही है' क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसी में होते है, इत्यादि वेद वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि आकाश ब्रह्म का ही कार्य है। जैसे यह कहा गया कि ये सब फल इसी बगीचे के हैं किन्तु कई प्रकार के रखे फलों में चार-छः का नाम लेकर, दो-एक का नाम न लिया गया तो भी उन फलों को अन्य बगीचे का नहीं समझना चाहिये, अन्य का समझेंगे तो अपनी अविचारता और प्रथम कहे हुए (इसी बगीचे के सब फल हैं) सत्य वाक्यों में असत्यता के आरोप का दोष लगेगा। साथ ही उस बगीचे को अच्छी तरह जान लेने पर भी, बगीचे से पृथक माने हुये तथा नाम में न आये हुये फल

जाने हुये नहीं होंगे कि ये कहाँ के फल हैं और इनका क्या नाम है, इसी प्रकार उक्त सूत्रार्थ को समझें।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त सिद्धान्त को किसी अन्य युक्ति से परिपुष्ट करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ।।२।३।७।।

व्याख्या : प्रतीति में आने वाले लौकिक व्यवहार की तरह समस्त विकारात्मक जगत परब्रह्म परमेश्वर का ही कार्य है जैसे मिट्टी के बहुत से खिलौने रंग-बिरंगे बनाये गये, किसी विक्रेता ने खरीदने वाले व्यक्ति के पूँछने पर बताया कि ये सब मिट्टी के बने खिलौने हैं, पीछे चार-छः खिलौनों को क्रमशः उठा-उठाकर बताया कि यह भी मिट्टी का है, यह भी मिट्टी का है। कुछ दो-एक खिलौनों को नहीं उठाया फिर भी प्रथम कही हुई वार्ता या प्रतिज्ञा के अनुसार उन शेष खिलौनों को भी मिट्टी के ही समझना चाहिये। इसी प्रकार जगत को सम्पूर्णतया ब्रह्म का कार्य जब बता दिया गया तो आकाशादि को उसी के भीतर समझ लेना चाहिये। कहीं अन्यत्र उत्पत्ति वर्णन प्रकरण में तेज आदि का नाम लेते समय आकाश का नाम नहीं आया तो भी आकाश को ब्रह्म का ही कार्य समझना सुलझे बुद्धि वालों के बुद्धि का वैशद्य है, जहां वायु और अन्तरिक्ष को अमृत कहा गया है, वहाँ देवताओं को अमर कहने की भाँति अन्य की अपेक्षा (अन्य तत्वों की अपेक्षा) दीर्घकाल तक स्थित रहने के विचार से कहा गया है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वायु भी आकाश की भांति ब्रह्म कार्य है ?

वेदव्यासजी : एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।।२।३।८।।

व्याख्या : जिन श्रुति वाक्यों एवं अन्य युक्तियों से ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति सिद्ध की गई है। उन्हीं युक्तियों तथा प्रमाणों व दृष्टान्तों से वायु की उत्पत्ति परब्रह्म से होना सिद्ध समझना चाहिये, उसके विषय में अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कुछ अन्य मत वाले कतिपय तत्त्वों को नित्य बतला-

कर, उनकी उत्पत्ति शीलता नहीं स्वीकार करते। इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।।२।३।९।।

व्याख्या : वेद प्रमाण को स्वीकार न करने वाले जो चाहें सो कहें, उनके मुख हाथ कौन रखे, जिस जड़-चेतनात्मक जगत के उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को श्रुतियों ने स्थान-स्थान पर 'सत्' नाम से वर्णन किया है। प्रलय काल में एक वही ब्रह्म (सत) शेष रहता है, अन्य सब तत्वों की स्थिति अप्रकट रूप से ब्रह्म में ही रहा करती है पुनः उसी एक ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति होती है। बुद्धि, अहंकार, काल, कर्म, गुण, स्वभाव और परमाणु आदि सभी तत्व, उसी परब्रह्म परमात्मा से प्रकट होते हैं, अस्तु, ब्रह्म को छोड़कर कोई तत्व व वस्तु ऐसी नहीं है जो उत्पन्नशील न हो, इसलिये युक्ति व प्रमाण द्वारा कोई प्राणी व पदार्थ की उत्पन्नशीलता असिद्ध नहीं होती जैसे, कुम्भकार द्वारा मिट्टी के बर्तन बनाने की प्रक्रिया के सभी सहकारी साधन कुलाल से ही बनाये जाते हैं, उसी प्रकार जगत निर्माण के गौण उपकरण तत्व भी ब्रह्म से ही प्रकट होते हैं, स्वयं व अन्य से नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! छान्दोग्योपनिषद में वर्णन है कि ब्रह्म ने तेज को रचा और तैत्तरीयोपनिषद में कहा गया है कि सर्वात्मा परब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से तेज की उत्पत्ति हुई अतः तेज को ब्रह्म से उत्पन्न माना जाय या वायु से ?

वेदव्यासजी : तेजोऽतस्तथा ह्याह ।।२।३।१०।।

व्याख्या : तेज तत्व वायु से ही उत्पन्न हुआ है क्योंकि इस तथ्य की पुष्टि अन्य स्थान पर वेद वाणी के द्वारा की गई है। रचयिता एक मात्र ब्रह्म है, उसने आकाश और आकाश से वायु को प्रथम रचा पुन. वायु से तेज को बनाया, ऐसा मानने पर दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं उत्पन्न होता जैसे, किसी पाक वेत्ता ने प्रथम आटा बनाया फिर उस आटे से गोला बनाया पुनः उस गोले से रोटी बनायी। विचार करें कि इस दृष्टान्त में यह भी कहा जा सकता है कि रसोइये ने पहले रोटी बनायी पुनः अन्य रसोई और यह भी कहा जा सकता है कि रसोई

बनाने वाले ने प्रथम आटा बनाया फिर आटे से गोला बनाया पुन: गोले से रोटी तयार की, इन दो तरह की बातों में झगड़ा क्या है ? इसी प्रकार सृष्टि क्रम की वार्ता को जानो।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जल किससे उत्पन्न हुआ है ?

वेदव्यासजी : आप: ॥२।३।११॥

व्याख्या : उपर्युक्त दोनों श्रुतियों की एकता करने से यही सिद्ध होता है कि उक्त तेज से जल की उत्पत्ति होती है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसी रचना क्रम के प्रकरण में यह आया है कि जल से अन्न की उत्पत्ति हुई अत: यह शंका है कि गेहूँ, जौ, धान, आदि अन्न पृथ्वी से होते हैं या जल से ?

वेदव्यासजी : पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य: ॥२।३।१२॥

व्याख्या : पांचों तत्वों की क्रमश: उत्पत्ति प्रकरण में, अन्न नाम से पृथ्वी ही कही गई है। प्रकरण में बताया हुआ काला रूप पृथ्वी का ही है, अन्न का नहीं तथा दूसरे स्थान पर श्रुति का कथन है कि जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है और तैत्तरीय उपनिषद में जहाँ जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गई है, वहाँ ही पृथ्वी से औषधि और औषधि से अन्न का उत्पन्न होना कहा गया है। छान्दो० उप० में जो यह वाक्य मिलते हैं कि, 'जहाँ-जहाँ जल अधिक वर्षता है, वहाँ-वहाँ अन्न अधिक उत्पन्न होता है, इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि जल से अन्न प्रकट हुआ, इसका भी सिद्ध अर्थ यही है कि जहाँ-जहाँ पृथ्वी में जल वर्षता है, वहाँ-वहाँ अन्न अधिक उत्पन्न होता है। यदि यह अर्थ न होता तो पहाड़ (पत्थर) नदी और समुद्र में खूब अन्न उत्पन्न होना चाहिये, अस्तु, जिस अर्थ से पूर्वापर विरोध न हो, वही अर्थ मान्य होना चाहिये। जैसे, किसी ने कहा कि ईख से रस और रस से शक्कर तैयार होती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि रस से सीधे शकर बनती है अपितु यहाँ शक्कर शब्द से गुड़ का ग्रहण होना चाहिये क्योंकि पहले गुड़ तयार होता है, तब गुड़ से शक्कर बनती है या यह समझना चाहिये कि रस से शक्कर कहने से गुड़ का अभिधान हो गया, बहुत से स्थानों में गुप्ता-

लंकार के द्वारा मुख्य वस्तु का ग्रहण हो जाता है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उत्पत्ति प्रकरण में ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति कही गई है पुनः क्रमशः चार भूतों का उत्पन्न होना बताया गया है। शंका यह है कि शेष चार, भूतों की रचना ब्रह्म स्वयं करता है कि आकाशादि से अपने आप, एक दूसरे से क्रमशः उत्पत्ति हो जाती है ?

वेदव्यासजी : **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥२।३।१३॥**

व्याख्या : इस प्रकरण में जगत रचना रूप कार्य के चिन्तन की बातें बार-बार आती है अतः चिन्तन करना, चेतन परमात्मा का कर्म है। जड़ तत्वों में चिन्तन करना असम्भव है इसलिये सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ने ही एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे इत्यादि पँच भूतों की रचना की है, आकाश से वायु बनने, वायु से तेज बनने, तेज से जल बनने और जल से पृथ्वी बनने तथा पृथ्वी से अन्न उत्पन्न होने की प्रक्रिया, परब्रह्म परमेश्वर की शक्ति व प्रेरणा से ही संभव है, स्वतन्त्र रूप से भूतों के द्वारा यह उत्पत्ति क्रम नहीं सिद्ध हो सकता। आज कल के वैज्ञानिक लोग भी जब भूतों की समिश्रण प्रक्रिया स्वयं करते हैं तब अन्य वस्तु तैयार होती है। भूत स्वयं कुछ नहीं करते, इन सब युक्तियों व श्रुति प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि क्रमशः पञ्च भूतों का उत्पादक स्वयं ब्रह्म है। कृषक बार-बार कृषि-कार्य का चिन्तन वर्षा के प्रारम्भ में स्वयं करता है, किस खेत में कौन अन्न बोया जायगा, बैल कमजोर हैं, एक तो नवीन लेना ही पड़ेगा, हलवाहा तो है किन्तु वह ठीक काम नहीं करता अतः बदलना पड़ेगा, मजदूरी देने के लिये खर्च की कमी पड़ेगी, मजदूर भी कम मिलते हैं अतः यह सब प्रबन्ध करना होगा। अब विचार करें कि कृषि उत्पन्न करने वाला खेत, बैल, मजदूर आदि का मालिक कृषक है कि अन्य लोग या अन्य साधन सामग्रियाँ; तदनुसार सृष्टि कार्य अर्थात् पंच भूतों को उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, भूत नहीं ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जगत की उत्पत्ति का कारण परब्रह्म परमात्मा स्वयं सिद्ध है किन्तु प्रलय क्रम से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥२।३।१४॥**

व्याख्या : वेदोपनिषदों में ब्रह्म से जगत की रचना का जो क्रम (आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी) बताया गया है, इसके ठीक विपरीत क्रम प्रलय का कहा गया है अर्थात् पृथ्वी का जल में लय होना, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में और आकाश का परब्रह्म परमात्मा में लीन होना बताया गया है। विवेक एवं युक्ति के द्वारा यही क्रम उपयुक्त भी है, सभी कार्य अपने उपादान कारण में ही लय होते देखे जाते हैं जैसे, बर्फ जल से उत्पन्न होकर जल ही में लय होता है, मिट्टी से मिट्टी के बर्तन बने पुन: टूटने पर मिट्टी ही में लय होते हैं। स्मृतियों में भी इस प्रमाण की प्राप्ति होती है।(विष्णु पुराण अंश छ: अध्याय चार श्लोक चौदा से अड़तीस तक इसी प्रकरण का वर्णन है।)

मुमुक्षु मुखेन : मुने! मन, बुद्धि और इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से होती है या परब्रह्म परमात्मा से ? यदि ब्रह्म से होती है आकाशादि भूतों से पूर्व होती है या पश्चात् ? समाधान करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥२।३।१५॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद में यह कहा गया है कि परमेश्वर से नाना नाम और रूपों वाले प्राणी-पदार्थ उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे प्रज्वलित अग्नि से हजारों-हजारों चिनगारियां निकलती हैं पुन: पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा के सहज स्वरूप का वर्णन करके बताया गया है कि उसी परमेश्वर से यह प्राण, मन, इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, ज्योति, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई हैं। इस कथन से यह कहा जा सकता है कि प्रथम प्राण, मन और इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है, पीछे आकाश आदि पंच भूतों की अर्थात् ब्रह्म और आकाश के बीच में प्राण, मन और इन्द्रियों का प्रकट होना निश्चय किया गया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस पूरे प्रकरण को देखने से यही निश्चय होता है कि यहाँ जगत की उत्पत्ति क्रम का वर्णन नहीं है अपितु जगत के सम्पूर्ण तत्त्व, सभी प्राणी और पदार्थ परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान से उत्पन्न होते हैं अर्थात् जगत का उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म को बताना मात्र प्रयोजन है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि प्राण, मन और इन्द्रियाँ ब्रह्म और आकाश के बीच की स्थिति

में उत्पन्न हुये हैं क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में भिन्न-भिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न प्रकार या क्रम से जगत की उत्पत्ति बतायी गई है इसलिये किसी एक क्रम को निश्चित करना शास्त्रज्ञों का सिद्धान्त नहीं है। परब्रह्म परमात्मा स्वतन्त्र है, वह किसी एक नियम में नहीं बँधा है जैसे, खेती करने वाला कृषक कभी स्वयं खेती के सब साधन रखकर खेती करता है, कभी अन्य किसी पुरुष की साधन सामग्रियाँ किराये से लेकर खेती करता है, कभी बैल से कभी यन्त्र से कभी कुदाल से खेत अन्न बोने के योग्य बनाता है, कभी ज्यादा वर्षा देखकर ज्यादा पानी में होने वाले अन्न बोता है, कभी कम पानी की वर्षा देखकर, अधिक पानी न चाहने वाले अन्न बोता है और-और भेद से कभी किसी क्रम से कभी किसी क्रम से कृषि कार्य करता है : तदनुसार परब्रह्म परमात्मा के सृष्टि कार्य में भी एक नियम नहीं कहा गया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! परब्रह्म परमेश्वर जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण वेद प्रतिपाद्य है, इससे जीव की उत्पत्ति भी सिद्ध होती है, अतः यह शंका उठती है कि जीवात्मा, परब्रह्म परमात्मा का अविनाशी अंश है, नित्य है, जन्म-मरण से मुक्त है तो फिर कैसे उसकी उत्पत्ति संभव हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।।२।३।१६।।**

व्याख्या : जीवात्मा तत्वतः परब्रह्म परमात्मा का अंश है, अंश अपने अंशी के गुणों और स्वभाव वाला होता है इसलिये इसका सहज स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक है। जन्म-मरण से रहित विज्ञान स्वरूप और नित्य है किन्तु यह जीव अनादि परम्परा-गत अपने कर्मों में आसक्त तथा कर्तापन के अभिमान से युक्त फल भोगने की कामना के कारण, चराचर अर्थात् देव, मनुष्य, नाग, पशु-पक्षी, वृक्ष-पत्थर, नदी इत्यादि शरीरों के आश्रय को ग्रहण किये रहता है, अस्तु, देहाभिमान से युक्त रहता है, वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण यह नहीं समझता कि मैं शरीर नहीं हूं तथा इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे, किसी भवन में रहने वाला मनुष्य यह सहज ज्ञान रखता है कि मैं मकान नहीं हूं, इससे सर्वथा भिन्न हूं इसलिये मकान के जल जाने से अपने को जला नहीं समझता इसलिये अपने जलने का दुःख उसे स्पर्श नहीं करता परन्तु मायाबद्ध होने के कारण, देहाभिमानी जीव का कर्मानुसार शरीरों के साथ रहने से, और उन शरीरों के जन्म-मरण को अपना जन्म-मरण मानने से गौण रूपेण जीवात्मा का उत्पन्न होना श्रुतियों में कहा

गया है इसलिये कोई विरोध नहीं है। कल्प के प्रारम्भ में इस जड़-चेतनात्मक अनादि सिद्ध जगत का परब्रह्म से प्रकट हो जाना ही, परमात्मा से इसका उत्पन्न होना कहा गया है और कल्प के अन्त में पुरुषोत्तम भगवान में लीन हो जाना ही इसका लय बताया गया है। श्री भगवत्गीता तथा श्रुतियों में स्थान-स्थान पर यह कहा गया है कि स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों के आश्रित जीवात्मा का परमात्मा से उत्पन्न होना और उसी ब्रह्म में लीन होना समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! जीवों की गौण उत्पत्ति न मानकर मुख्यतया स्वीकार कर ली जाय तो क्या आपत्ति है ;

वेदव्यासजी : नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥२।३।१७॥

व्याख्या : श्रुतियों में जीवात्मा की उत्पत्ति का वर्णन कहीं भी नहीं है अपितु उसके नित्यता का कथन सर्वत्र प्राप्त होता है। पूर्व सूत्र के अनुसार शरीरानुगमन के कारण गौण रूप से उत्पत्ति जीव की बताना शरीराभिमान त्याग कर सहज स्वरूप में स्थित होने के लिये है न कि अप्रमाणिक जीव की उत्पत्ति निरूपण करने के लिये जेसे, लोक में किसी नवयुवक के कारागार की सजा पाने पर उसकी वात्सल्य भाव से भरी माता आसक्ति वश रोज लड़के के समीप जेल जाया करे तो गाँव के लोग यही कहा करेंगे कि यह माता नित्य जेल में जाती है वैसे ही जीव की उत्पत्ति विषयक वार्ता वेदों की समझना चाहिये। छान्दों० उप० (६।११।३) कठो० उप० (१।२।१८) में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मृत्यु भाव को प्राप्त होता है, जीवात्मा नहीं मरता। विज्ञान स्वरूप जीवात्मा न तो जन्म लेता और न मरता ही है, यह अजन्मा, अविनाशी, नित्य और पुराण है, शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता। गीता में कहे हुये भगवत् वाक्य भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं इसलिये जीवात्मा नित्य, अजन्मा और अविनाशी होने के कारण जन्म-मरण से रहित है, यह कथन निर्विवाद श्रुतियों का सिद्धान्त है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जीवात्मा की नित्यता दृढ़ाने के लिये कुछ और कहने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : ज्ञोऽत एव ॥२।३।१८।

व्याख्या : जीवात्मा विज्ञान स्वरूप, नित्य, चेतन, अमल तथा सच्चिदानन्दात्मक है। भगवान का अंश है इसलिये इसका ज्ञाता होना सहज सिद्ध है। कोई भी सिद्ध योगी अपने जन्म-जन्मान्तरों की बात जान लेता है, बहुत से सिद्ध पुरुष ध्यानस्थ होकर, दूसरे के मन की बात तथा अन्य विषयक बातें जान जाते हैं। परब्रह्म और प्रकृति तथा जीव का ज्ञान हस्तामलक करके बहुत से महापुरुष जीवनमुक्त हो जाते हैं तथा बिना पढ़े-लिखे बिना बताये अज्ञ प्राणी भी पूर्व अभ्यास के कारण, अभ्यास में आये हुये विषयों का ज्ञान रखते हैं जैसे, पूर्व शरीर को त्यागकर नवीन शरीर में आते ही माँ के स्तन-पान का ज्ञान बच्चे को अपने आप हो जाता है जिससे स्वयं वह प्रवृत्त हो जाता है; इसी प्रकार पशु-पक्षियों को भी प्रजोत्पादन क्रिया का ज्ञान पूर्व अभ्यास से, बिना बताये ही हो जाता है तथा बालक पन से लेकर पूरी अवस्था की क्रियात्मक घटनाओं का ज्ञान सबको बना रहता है इसलिये यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है, नित्य है, अजन्मा और अविनाशी है, अतः उसकी उत्पत्ति विषयक चर्चा असंगत है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जीव नित्य है, शरीर के बदलने से वह नहीं बदलता, प्रकारान्तर से इस तथ्य को समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥२।३।१९॥

व्याख्या : श्रुतियों में यह बताया गया है कि जीव शरीर से उत्क्रमण करके परलोक जाता है और पुनः लौटकर मृत्यु लोक में आता है, इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है। प्रश्नोपनिषद (५।४) में बताया गया है कि जो ओंकार की दो मात्राओं (अ+उ) अर्थात् भूः भुवः का लक्ष्य करके उपासना करता है, उस पुरुष को यजुर्वेद की श्रुतियाँ, अन्तरिक्षवर्ती चन्द्रलोक में ऊर्ध्व की ओर ले जाती हैं, वहाँ वह स्वर्गलोक में नाना प्रकार के सुखों को भोगकर पुनः मृत्युलोक लौट आता है, इसी प्रकार पुनरावर्तन प्रक्रिया का वर्णन अन्यान्य श्रुतियों में किया गया है, इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता क्योंकि वह नित्य और अपरिणामी है जैसे, एक भारत का आदमी, अमेरिका जाकर पचीस वर्ष में पुनः लौटकर भारत आता है तो लोग उसके स्वरूपतः नाम रूप में मगन होकर उत्सव मनाते हैं, यह शंका नहीं करते कि संभव दूसरा आदमी हो, इसी प्रकार देह त्याग के बाद जीवात्मा परलोक जाकर मृत्युलोक पुनः लौट

आता है, इन श्रुति प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है, वह कहीं भी आने-जाने में एक रस बना रहता है, शरीर बदलने से स्वयं नहीं बदलता जैसे पेड़ के कट जाने से उसमें रहने वाले पक्षी नहीं कटते व जैसे के तैसे बने रह कर दूसरे वृक्ष में बसेरा लेते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पुनः जीवात्मा का नित्यत्व सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २।३।२०॥

व्याख्या : जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण के पश्चात् परलोक जाना और पुनः मृत्यु लोक लौट कर आना श्रुति में कहा गया है, अस्तु, इन दोनों क्रियाओं की सिद्धि अपने स्वरूप से ही संभव है क्योंकि जिसे जाना कहा जाता हैं, उसी को लौट कर आना कहा जाता है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा अविनाशी और नित्य है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी की ओर से यदि यह कहा जाय कि गमनागमन शील होने के कारण जीवात्मा को एक देशीय मानना पड़ेगा, उसे विभु नहीं कह सकते तथा उसका नित्यत्व भी गौण होगा तो इसका निराकरण आगे किया जायगा। अभी तो पूर्व पक्ष वाद प्रारम्भ हो रहा है।

व्यासेन-पूर्वपक्षी : नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२।३।२१॥

व्याख्या : अहो ! जीवात्मा को यदि यह कहो कि वह अणु नहीं है, उसे श्रुति में महान और व्यापक कहा गया है। बृह० उप० (४।४।२२) के अनुसार, "जो यह विज्ञानमय आत्मा प्राणों में है, वही यह अजन्मा और महान आत्मा है" वाक्य प्रमाण में प्रस्तुत है तो यह कहना सर्वथा अयुक्त है क्योंकि जिस श्रुति का प्रमाण दे रहे हो, वह श्रुति परमात्मा के प्रकरण की है अतः वहां आया हुआ आत्मा शब्द, परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसलिये जीवात्मा को अणु न कह कर महान और व्यापक कहना अज्ञान मूलक है जैसे, 'राई' को कोई छोटी न बताकर पर्वत मान तद्विषयक वार्ता करे, वैसे ही जीव को अणु न कह कर व्यापक और महान कहना है।

मुमुक्षु मुखेन : अहो ! श्रुति में जीवात्मा को अणु बताया गया है क्या ?

व्यासेन–पूर्वपक्षी **स्वशब्दानुमानाभ्यां च ॥२।३।२२॥**

व्याख्या : श्रुति में जीव को 'अणु 'स्पष्ट रूप से कहा गया है, देखिये मुण्ड० उप० (३।१।६) 'ऐषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यह अणु परिमाणिक आत्मा, चित्त से जानने योग्य है एवं श्वेता० उप० (५/६) में (बालग्रशतभागस्य **) अर्थात् बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जांय, पुनः उस एक टुकड़े के सौ टुकड़े करने पर जो एक टुकड़ा होगा उसके माप के बराबर (अत्यन्त सूक्ष्माति सूक्ष्म) जीव की कल्पना की गई है, इससे स्पष्ट है कि जीव को श्रुति में अणु कहा गया है तथा उक्त उपमा देकर भी श्रुति, जीव को 'अणु' ही कह रही है यदि जीव अणु न होता तो सूक्ष्माति सूक्ष्म शरीर में कैसे प्रवेश करता, इस युक्ति से भी जीव अणु ही सिद्ध होता है, महान और व्यापक नहीं जैसे, एक भवन है और भवन के भीतर एक पेटी है, पेटी के भीतर एक डिब्बी है और डिब्बी के भीतर नेत्रों से न दीखने वाली, हीरे की एक रज-कनी रखी है तो सभी विचारक भवन को महान और रज-कण को अणु कहेंगे इसी प्रकार परमात्मा महान और व्यापक है तथा जीव अणु है ।

मुमुक्षु मुखेन : अहो ! जीवात्मा को जब हृदय की गुफा में (एक देश में) रहने वाला उपनिषदों ने कहा है, तब उसे सम्पूर्ण शरीर में होने वाले सुख-दुःखादि का ज्ञान होना कैसे संभव हो सकता है ?

व्यासेन–पूर्वपक्षी : **अविरोधश्चन्दनवत् ॥२।३।२३॥**

व्याख्या : जैसे शरीर के एक देश में लगाया हुआ चन्दन व इत्र व भवन के स्थान में रखा होने पर भी, अपने गंध-गुण से सब ओर फैल जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा, हृदय-गुफा में रहता हुआ भी, अपने विज्ञान रूप गुण के द्वारा शरीर के किसी अंग के सुख-दुःखादि का ज्ञान कर लेता है अतः हृदयस्थ जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर-भागों का ज्ञान नहीं रख सकता, ऐसी विरोधी और अमान्य शंका नहीं उठाना चाहिये, बुद्धिमान को ।

मुमुक्षु मुखेन : अहो! चन्दन की उपमा उपयुक्त नहीं है क्योंकि चन्दन एक देश

में प्रत्यक्ष है किन्तु जीवात्मा को हृदयस्थ कैसे मान लिया जाय।

व्यासेन–पूर्वपक्षी : **अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमाद्धृदि हि ॥२।३।२४॥**

व्याख्या : वेद ने आत्मा को हृदयस्थ बताकर, उसको एक देशीय स्पष्ट कहा है जैसे 'हृद्येश आत्मा' प्रश्नो० उप० (३।६) में कहा गया है, ऐसे ही बृहदा० उप० (४।३।७) में आता है कि 'प्राणों में हृदय के भीतर जो यह विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है' इत्यादि श्रुति वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा हृदय की गुफा में स्थित है इसलिये उपर्युक्त शंका निर्मूल और असंगत है जैसे राजा अपनी राजधानी में रहता हुआ भी, अपने राजोचित कार्य-व्यवहारों से सम्पूर्ण राज्य की प्रजा के सुख-दुख का ज्ञान रखता है, वैसे ही शरीर-पुर के हृदय की राजधानी में स्थित जीवात्मा, विज्ञान शक्ति से शरीर के सभी अङ्गों के सुख-दुख का अनुभव कर ले तो कौन आश्चर्य है।

मुमुक्षु मुखेन : अहो ! प्रकारान्तर से आप उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करने की कृपा करें।

व्यासेन–पूर्वपक्षी : **गुणाद्वा लोकवत् ॥२।३।२५॥**

व्याख्या : प्रकारान्तर से उक्त सिद्धान्त को लोक में प्रत्यक्ष देखे हुये दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये जैसे, घर के एक देश में रखा हुआ दीपक अपने प्रकाश गुण से समस्त घर को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही हृदयस्थ (एक देशीय) जीवात्मा अपनी चैतन्यता रूप गुण से समस्त शरीर को चेतनता से युक्त कर देता है अतः उक्त श्रुति सिद्धान्त निर्विरोध सिद्ध है।

मुमुक्षु मुखेन : अहो ! कहते हैं कि गुण अपने गुणी का संग नहीं छोड़ता अतः इस विषय पर प्रकाश डाला जाय।

व्यासेन–पूर्वपक्षी : **व्यतिरेको गन्धवत् ।२।३।२६॥**

व्याख्या : जैसे पुष्पों की गन्ध, पुष्प का साथ न छोड़कर भी (पुष्पों में गन्ध

जैसे की तैसी बनी रहते हुये भी) चारों ओर फैल जाती है, जिससे समीपवर्ती प्रान्त प्रभावित हो जाता है, वैसे ही हृदयस्थ जीवात्मा में चेतना ज्यों की त्यों रहते हुये भी उसका चेतनता गुण समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है, इस प्रकार गन्ध का पुष्प से पृथक होने में जैसे कोई विरोध नहीं होता वैसे ही हृदय में स्थित, जीवात्मा का चेतन-गुण शरीर में व्याप्त हो जाने में कोई विरोध नहीं होता जैसे, सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतएव उनका प्रकाश समस्त जगत में व्याप्त हो जाता है किन्तु सूर्य का प्रकाश कम या न रह जाता हो, सो बात नहीं। सूर्य प्रकाश, सूर्य के समीप भी पूर्व स्थिति के अनुसार बना रहता है इसलिये गुणी का साथ गुण न छोड़कर अन्यत्र भी अपने अद्भुत प्रभाव से अपने वैभव का विस्तार कर सकता है इसलिये उपर्युक्त शंका उपयुक्त नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : अहो ! उक्त सिद्धान्त की पुष्टि केवल युक्ति से ही होती है अथवा श्रुति प्रमाणों से भी ?

व्यासेन–पूर्वपक्षी : **तथा च दर्शयति ॥२।३।२७॥**

व्याख्या : उक्त सिद्धान्त की पुष्टि केवल युक्तियों से ही नहीं होती अपितु श्रुतियाँ भी इस तथ्य वार्ता को प्रमाणित करती हैं। बृह० उप० (१।४।७) तथा छान्दो० उप० (८।८।१) में आत्मा का एक देश में स्थित रहकर, अपने चेतन गुण-द्वारा समस्त शरीर में नख से शिख तक चेतनता से व्याप्त होना बताया है अत: यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा अणु है तथा एक देश में रहते हुये भी अपने चेतन रूप-गुण के द्वारा समस्त शरीर में चेतन रूप से व्याप्त रहता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी के अणुवाद का निराकरण करके आत्मा के विभुत्व की सिद्धि स्थापित करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **पृथगुपदेशात् ॥२।३।२८॥**

व्याख्या : पूर्व पक्ष की ओर से जो जीवात्मा को, अणु बताने के लिये जिस श्रुति के प्रमाण दिये गये हैं, उसी श्रुति में स्पष्टाक्षरों में जीवात्मा को विभु बताया गया है किन्तु वादी की दृष्टि उधर नहीं गई। भाई ! जहां जीवात्मा का स्वरूप

बालाग्र के दस हजारवें भाग के समान सूक्ष्म कहा गया है, वहाँ उसी मन्त्र में श्रुति का निर्देश है—'स चानन्त्याय: कल्पते' । अत: यह श्रुति वाक्य सिद्ध करता है कि जीवात्मा अनन्त अर्थात् विभु है । श्वेताश्वतरोपनिषद (५।९)तथा कठोपनिषद में जीवात्मा का विशेषण 'महान' स्पष्ट आया है और भी गीता में जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये स्वयं भगवान कृष्ण ने बताया है कि आत्मा नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है । आकाश की तरह सूक्ष्म होने से शरीर में स्थित हुआ भी, यह आत्मा लिप्त नहीं होता । जिससे समस्त जड़ वर्ग व्याप्त है, उस आत्मा को, हे अर्जुन ! अविनाशी समझो । गीता के तेरहवें व दूसरे अध्याय में उक्त भगवत् वाक्यों का अर्थ स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा विभु है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! यह जिज्ञासा है कि श्रुति में स्पष्ट शब्दों के द्वारा जीवात्मा को अणु और अंगुष्ठ मात्र बताया गया है तो उसकी संगति कैसे बैठेगी, आत्मा को विभु बताने से ।

वेदव्यास जी : तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।२९॥

व्याख्या : श्वेता० उप० (५।८) में जीवात्मा को अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला सूर्योपम सहज प्रकाशवान, संकल्प और अहंकार से युक्त और अपनी बुद्धि तथा स्वशरीर के गुणों से ही आरे की नोक जैसे सूक्ष्म आकार वाला बताया गया है, ऐसा परमात्मा से भिन्न जीवात्मा का स्वरूप नि:संदेह ज्ञानी महापुरुषों द्वारा देखा गया है । जीवात्मा के गत्यागति का श्रुतियों द्वारा विवेचन देह के सम्बन्ध से है, आत्मबुद्धया नही, कौ० उप० (३।६) प्रश्नोपनिषद (३।९।१०) अत: उपर्युक्त वेद वाक्यों से यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा को जहाँ भी श्रुति शब्दों के द्वारा एक देशीय, अंगुष्ठ मात्र और अणु बताया गया है, वह कथन बुद्धि और शरीर के गुणों को लेकर ही है, जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा को जीवात्मा के हृदय में स्थित तथा अंगुष्ठ मात्र स्थान-स्थान में उपनिषद बतलाते है, कठोपनिषद (१।३।१) प्रश्नोपनिषद (६।२) मुण्डकोपनिषद (२।१।१०) श्वेता० उप० (३।२०) में देखा जा सकता है । उसी प्रकार स्थानापेक्षा से जीवात्मा को भी अंगुष्ठ मात्र व अणु कहा गया है, वास्तव में जीवात्मा विभु ही है, अणु नहीं जैसे महान और विभु, आकाश को घट के सम्बन्ध से घटाकाश कहा जाता है, वैसे

ही वेद और बुद्धि के गुणों के सम्बन्ध से जीवात्मा को विभु होते हुए भी, अंगुष्ठ मात्र और अणु कहा गया है। पूर्व पक्षी ने जो यह बात कही है कि जीवात्मा अपने चेतनत्व गुण से शरीर के सर्व देश में चैतन्य की व्याप्ति कर देता है, यह सर्वथा असंगत है क्योंकि श्रुतियों में जीवात्मा को चैतन्य गुण विशिष्ट नहीं माना गया है अपितु परब्रह्म परमेश्वर के समान सत् चित और आनन्द जीवात्मा का सहज स्वरूप बताया गया है इसलिये जीवात्मा को स्वरूपतः अणु मानना शास्त्र संगत नहीं है, वह विभु है। श्रुति में अणु कहने का तात्पर्य जीव की सूक्ष्मता का बोध करने के लिए है तथा अंगुष्ठ मात्र बताने का अर्थ मनुष्य के हृदय में रहने से हृदय के माप का बताया है। छोटे आकार का कहने का अर्थ अंतःकरण की संकीर्णता के सम्बन्ध से है।

मुमुक्षु मुखेन : बुद्धि और शरीर के गुणों को लेकर जीवात्मा को यदि अणु कहा गया है तब तो शरीर त्यागने के बाद सभी जीवों के मुक्ति का प्रसंग आ जायगा, यदि मुक्त जीवों की पुनः उत्पत्ति मानी जाय तो फिर मुक्ति की चर्चा व साधन सब व्यर्थ हो जायेंगे अतः इसका निराकरण करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥२।३।३०॥

व्याख्या : श्रुति प्रश्नोपनिषद (३।९।१०) में यह बात स्पष्ट बताई गई है कि जीवात्मा का एक शरीर से उत्क्रमण कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय भी सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध बना रहता है तथा प्र०उ० (४।२।५)में परलोक यात्रा तथा सुषुप्ति और स्वप्नावस्था में भी जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध बना रहता है, एवं प्रकारेण प्रलय कालीन दशा में भी कर्म और संस्कारों से युक्त कारण शरीर से जीवात्मा का सम्बन्ध बना रहता है क्योंकि प्र०उ०(४।११) की श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि, "प्रलय काल में यह विज्ञानात्मा (जीवात्मा) समस्त सूक्ष्म इन्द्रियों के सहित परब्रह्म में स्थित होता है इसलिये प्रलय काल में समस्त जीवों के मुक्ति प्रसंग का तथा मुक्त जीवों के पुनर्जन्म आदि के दोष उपर्युक्त शंका के अनुसार कभी किसी प्रकार से नहीं आ सकते। जैसे धन का लोभी मनुष्य किसी अन्य नगर में जाकर बहुत दिन धनोपार्जन क्रिया को करता रहा, पुनः धन प्राप्त कर, अपनी जन्म-भूमि में लौट आया तब भी उस नगर के दृष्य तथा सुगमता से धन प्राप्त करने की क्रिया व धन के लोभ के संस्कार उसके चित्त पर बने ही रहे, अस्तु,

पुनः धन के अभाव से वह उसी नगर को आता जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा के गति और आगति के होने पर भी शरीर व कर्म संस्कारों का साथ बना रहता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रलय काल में समस्त जगत का परमात्मा में विलीनीकरण होने पर, बुद्धि आदि की पृथक सत्ता भी नहीं रहती, मात्र एक ब्रह्म शेष रहता है तो जीव के कर्म संस्कार रूप कारण शरीर की स्थिति का रहना असंभव है, ये यदि नहीं रहते तो इनके बिना सृष्टि कैसे हो सकती है अतः इस जिज्ञासा-ज्वर को शान्त करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३१॥**

व्याख्या : प्रलयावस्था में बुद्धि आदि तत्व यद्यपि अपने कारण रूप परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं तथापि पुरुषोत्तम भगवान की अचिन्त्य शक्ति रूप में वे सब कार्य अव्यक्त रूप से परमात्मा में विद्यमान रहते हैं और इसी प्रकार सब जीव अपने कर्म संस्कार रूप कारण शरीर के साथ, अव्यक्त रूप से परमेश्वर में विलीन रहते हैं। प्रश्नोपनिषद (४।११) में स्पष्ट देखा जा सकता है, अतः कारण शरीर और जीवात्मा के सम्बन्ध का सर्वथा विनाश नहीं होता और सृष्टि काल में, सर्व समर्थ परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के संकल्प से वे सबके सब सूक्ष्म और स्थूल रूप में वैसे ही प्रकट हो जाते हैं जैसे बीज रूप में पूर्व से ही स्थित पुरुषत्व बाल्यकाल में प्रकट नहीं होता किन्तु युवावस्था आने पर शक्ति के संयोग से प्रकट हो जाता है। यही वार्ता बीज-वृक्ष के दृष्टान्त से भी समझी जा सकती है। चौदहवें अध्याय गीता में भगवान वासुदेव ने स्वयं इस पर प्रकाश डाला है इसलिये उपर्युक्त शंका का समाधान सहज ही हो जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : जीवात्मा जब स्वयं प्रकाश स्वरूप है, विज्ञानात्मा कहा गया है, तब मन-बुद्धि के सम्बन्ध से ज्ञान होना क्यों कहा गया है ?

वेदव्यासजी : **नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-
नियमोवान्यथा॥२।३।३२॥**

व्याख्या-यदि जीवात्मा को अन्तः करण के सम्बन्ध से दृश्यों का दर्शन होना

(विषय ज्ञान) नहीं स्वीकार करते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि जीवात्मा एक रस सदा सहज रूप से विषय ज्ञान करता ही रहता है जैसे, सूर्य को अस्ताचल जाना न माने तो एक रस प्रकाश बना रहना मानना पड़ेगा या ऐसा मानना सर्वथा संभव होगा कि जीवात्मा, विज्ञानात्मा होने से सर्वदा स्वरूप में स्थित रहता है, वह विषय अनुभव (दृश्य ज्ञान) के स्वभाव वाला नहीं है जैसे, उलूक सूर्य-दर्शन के स्वभाव वाला न होने से कभी भी सूर्य को नहीं देखता किन्तु इसके विपरीत जगत में जो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जीवात्मा कभी किसी विषय का अनुभव करता है, कभी किसी विषय का और कभी किसी विषय का नहीं करता, उसकी सिद्धि कैसे संभव होगी ? कभी न होगी या इसकी सिद्धि के लिये कल्पना करनी पड़ेगी कि किसी निमित्त से जीवात्मा की ग्राहक शक्ति का प्रतिबन्ध होता है या यह स्वीकार करना आवश्यक होगा कि विषय की ग्राह्य शक्ति में किसी कारण से प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाता है इसलिये प्रतिबन्ध के न रहने पर विषय की उपलब्धि होती है और प्रतिबन्ध के आ जाने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती जैसे, चश्मा में दोष न रहने से दृश्य-दर्शन होता है और उसमें दोष आ जाने से दृश्य-दर्शन नहीं होता या जैसे परदा आ जाने से पर्दे के भीतर के दृश्य नहीं दीख पड़ते और परदा हट जाने से दीखते हैं परन्तु इन काल्पनिक विचारों को लाकर मस्तिष्क में बोझ क्यों लादें, इससे सर्वथा सुखकर श्रुति सिद्धान्त को स्वीकार कर, सिर हल्का कर लेना अच्छा है। बृह० उप० (१।५।३) में कहा है, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' यह जीव मन से देखता है मन से सुनता है अर्थात् अन्तःकरण से सम्बन्ध रखकर ही जीव दृश्य का अनुभव करता है।

मुमुक्षु मुखेन : शरीर में हृदयस्थ परमात्मा और जीवात्मा में कर्ता कौन है, जिसके किये हुये कर्मों के अनुसार, शरीरी को सुख-दुख भोगने के लिये बाध्य होना पड़ता है. प्रकृति प्रसूत देहादि जड़ होने के कारण बिना चेतन के कुछ भी कार्य करने में असमर्थ है इसलिये मात्र प्रकृति को कर्ता कहना सर्वथा असंगत है।

वेदव्यासजी : **कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥२।३।३३**

व्याख्या : वेद, पुराण, इतिहास और स्मृत्यादि शास्त्र, विधि-निषेध से भरे हैं अर्थात् विधि-निषेध का विवेचन करके जीव का कल्याण करना ही शास्त्रों का प्रयोजन है। अगर भले-बुरे कर्मों के अनुसार, सुख-दुख भोगनेवाला जीव (चेतन)

को न माने तो शास्त्र वार्ता ही व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि महाचेतन परमात्मा साक्षी मात्र जीवात्मा के साथ हृदय गुफा में स्थित है, कर्म-फलों का भोक्ता वह नहीं है, ऐसा श्रुति-सिद्धान्त है, अतः साक्षी मात्र होने से, उसे कर्ता नहीं कह सकते। प्रकृति मात्र जड़ होने से कर्ता हो ही नहीं सकती इसलिये 'कर्ता' जीवात्मा ही है जो अपने किये हुये कर्मों के अनुसार प्रत्यक्ष सुख-दुख का भोक्ता है। श्रुति भी जीवात्मा को ही कर्ता बतलाती है। प्रश्नोपनिषद (४।६)में स्पष्ट देखा जा सकता है। हां, यह स्मरण रहना चाहिये कि अनादि काल से कारण शरीर के साथ सम्बन्ध होने से ही, जीवात्मा को कर्ता कहा गया है, वेद प्रमाण से सहज स्वरूप में स्थित होने पर, वह वैसे ही न कर्ता है न भोक्ता है जैसे, परमात्मा। भाई! दृश्य से सम्बन्ध रहने से ही द्रष्टापन सिद्ध होता है, दृश्य से सम्बन्ध नहीं तो द्रष्टा शब्द ही समाप्त हो जायगा।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! जीवात्मा के कर्ता होने में कोई अन्य हेतु भी है?

वेदव्यासजी : विहारोपदेशात् ॥२।३।३४॥

व्याख्या : स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा बिना शरीर के स्वेच्छाचारी बनकर नदी, समुद्र, बन, पर्वत, नगर, गांव, लोक, परलोक, यमपुरी, इन्द्रपुरी आदि स्थलों के दृश्यों को देखना तथा उसमें बिहार करना और मरे हुये तथा जीवित सम्बन्धियों से भेंट, वार्तालाप करना इत्यादि कर्म करता है। बृहदारण्यकोपनिषद (४।३।१३) तथा (२।१।१८) में ऐसा वर्णन किया गया है इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा कर्ता है क्योंकि उसके पूर्व के किये हुये, देखे हुये, सुने हुये कर्मों के संस्कार ही चित्त में जमा रहने से, उसे स्वप्न में कर्तापन-भोक्तापन के चमत्कार पूर्ण दृश्य का दर्शन कराते हैं जैसे, विद्यार्थी अवस्था के पढ़ाई के संस्कार ही अध्यापक होने पर, पढ़ाने का कार्य कराते हैं, वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! जीवात्मा के कर्ता होने में क्या कोई और कारण भी है?

वेदव्यासजी : उपादानात् ॥२।३।३५॥

व्याख्या : इन्द्रियों को ग्रहण करके विचरण करने का वर्णन श्रुति में जीवात्मा के विषय में संप्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से जीवात्मा कर्ता है। बृहदा० उप० (२।१।१८) में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी पुर का महाराजा अपने परिकरों को लेकर, अपने देश में यथा काम भ्रमण करता है, वैसे ही जीवात्मा स्वप्नकाल में प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों को ग्रहण करके, इस शरीर रूपी पुर में इच्छानुसार विचरण करता है। यही बात गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित है कि प्रकृति एवं इन्द्रियाँ स्वयं कर्ता नहीं हैं अपितु इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा ही कर्ता है। सूत्र में आये हुये 'उपादान शब्द' को उपादान कारण के अर्थ में नहीं लेना चाहिये क्योंकि सूत्रकार ने उसका प्रयोग, ग्रहण रूप क्रिया के बोधक अर्थ में किया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से जीव के कर्तापन को सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥२।३।३६॥**

व्याख्या : श्रुति में किसी क्रिया की सिद्धि के लिये जीवात्मा को ही कर्ता कहा गया है इसलिये श्रुति सिद्धान्त से जीवात्मा का कर्तापन सिद्ध होता है यदि जीवात्मा कर्ता न होता तो श्रुति का संकेत जीवात्मा के कर्तृत्व भाव के असिद्धि के लिये होता। तै० उप० (२।५) में बताया गया है कि यह जीवात्मा यज्ञ का विस्तार करता है और तदर्थ कर्मों का विस्तार करता है इसलिये इन्द्रिय सम्बन्ध से जीवात्मा को ही कर्ता मानना सिद्ध होता है। लोक में भी जैसे किसी ने किसी को तलवार से मार डाला है तो यह नहीं कहा जाता कि अमुक आदमी की तलवार ने इसे मारा है और न यह कहा जाता कि इस व्यक्ति की बुद्धि ने या मन ने या चित्त ने या देह ने इसे मारा है, अपितु यही कहा जाता है कि इस नाम के व्यक्ति ने इसको मारा है अतः इन्द्रिय सम्बन्ध से कर्ता जीवात्मा ही है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि जीवात्मा स्वंय स्वतन्त्र कर्ता है तो उसे अपने हित-कार्यों में प्रवृत्ति और अनिष्ट कार्यों में निवृत्ति होनी चाहिये किन्तु ऐसा लोक में नहीं देखा जाता है, इसका क्या कारण है ?

वेदव्यासजी : **उपलब्धिवदनियम : ॥२।३।३७॥**

व्याख्या : जिस प्रकार जीवात्मा को कभी सुखमय, कभी दुखमय भोगों की प्राप्ति में कोई नियम नहीं है, उसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट कर्मों के करने न करने में नियम नहीं है। जीवात्मा अनादि काल से कर्म के संस्कारों के अनुसार फल भोगने में जैसे स्वतन्त्र नहीं है, जब जैसे कर्मों का विपाक आया तब तैसे भोगों के भोगने में बाध्य होना पड़ता है, वैसे ही जब जैसे कर्म-भोग आये तब तैसे कर्मों में प्रवृत्ति, निवृत्ति, परमात्मा के विधान से जीव के कर्म संस्कारों के अनुसार हुआ करती है जैसे किसी को पूर्व संस्कार के अनुसार कारागार भोगने का काल आ गया तो उसे बिना निमित्त के कोई जेल में तो डालेगा नहीं इसलिये पूर्व विधान से उसकी चोरी-कर्म में प्रवृत्ति हो गई, तब उस निमित्त को लेकर, उसे कारागार में बन्द कर दिया गया, ऐसे ही सुख भोगने का समय, उसके कर्म संस्कारों को लेकर आया तो उसकी ईश्वर प्रेरणा से किसी शुभ कार्य में प्रवृत्ति होगी जैसे किसी भिखारी के लड़के को अमीरी के सुख भोगने का काल जब आया तो उसकी प्रवृत्ति विद्या प्राप्त करने में हो गई, फलतः विद्वान होकर राज-सम्मान पाने का अधिकारी हो गया और चारों ओर से सुख-सुविधायें उसे घेर कर खड़ी हो गई इसलिये जीवात्मा अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार इष्टानिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होता है। हितकार्य में ही प्रवृत्त हो ऐसा नियम नहीं है अतः कोई विरोध नहीं है। हाँ, यह सर्वथा सत्य है कि यदि जीवात्मा, पुरुषोत्तम भगवान के शरण में रहकर सर्वथा मैं और मेरे का समर्पण उन्हीं प्रभु के चरणों में कर दे तथा भागवद्धर्म को स्वीकार कर, भगवदर्थ चेष्टा करता रहे तो प्रभु-कृपा का अधिकारी बनकर, अपने सहज स्वरूप की प्राप्ति करके, कर्म-संस्कारों से मुक्त हो सकता है।

मुमुक्षु मुखेन : उक्त वार्ता की संपुष्टि के लिये कुछ और बताने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : शक्ति विपर्ययात् ॥२।३।३८॥

व्याख्या : जीवात्मा के सहज स्वरूप की स्थिति में कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान तथा देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान नहीं हैं, यहाँ तक कि अभिमान न होने का भी अभिमान नहीं है, उस स्थिति में जीवात्मा, परमात्मा के परतन्त्र तथा उनका सहज शेष, भोग्य और रक्ष्य बन कर, अहंकारहीन, दास पद में उसी प्रकार प्रतिष्ठित रहता है, जैसे अंग, अंगी के

साथ। उसी समय जैसे अङ्गों में अङ्गी की ही शक्ति का संचरण होता है, वैसे ही उसमें परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की पूर्ण शक्ति का प्रवाह संचरित रहता है किन्तु यह जीवात्मा उक्त शक्ति का विपर्यय अर्थात् अनादर करके (विवेक खोकर) स्वयं को प्रकृति के आधीनता से, जब इन्द्रियों से सम्बन्धित कर दिया तब उसे कर्त्ताभोक्ता का पाठ पढ़ना पड़ा इसलिये भी उससे सदैव हित कारक कर्म करने का नियम नहीं हो सकता जैसे, कोई राजपुत्र, मायावी स्त्री के संग से राजगृह छोड़कर, जहाँ-तहाँ भ्रमण करे तो उससे राज पुत्रोचित कर्म तो होंगे ही नहीं अपितु कभी शुभ कभी अशुभ-कर्म, उस धर्म हीन स्त्री के संग से होने लगेंगे जो सुख-दुख के कारण सिद्ध होंगे।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! यदि जीवात्मा में कर्तापन स्वरूपतः स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें कौन आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : **समाध्यभावाच्च ॥२।३।३९॥**

व्याख्या : जीव जब स्वरूप में स्थित रहता है तब उससे कर्म का होना सर्वथा असंभव है, प्रत्यक्ष देखा जाता है कि समाधि स्थित पुरुष कोई कर्म नहीं कर सकता इसलिये स्वरूप से उसमें कर्तापन का न होना ही सिद्ध होता है यदि जीव में कर्तापन स्वाभाविक स्वीकार करते हैं तो स्वरूप स्थिति उसी प्रकार न सिद्ध होगी जैसे कर्म की परम्परा चलते रहने से समाधि अवस्था की सिद्धि नहीं होती। जीव में जैसे चेतनत्व धर्म स्वरूपतः है, वैसे ही यदि कर्म भी हो तो वह निष्क्रिय कभी नहीं हो सकता परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है, श्रुति जीवात्मा को स्वरूपतः निष्क्रिय प्रतिपादित करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद (६/१२),अस्तु, अनादि अन्तः करण आदि के सम्बन्ध से ही उसमें कर्तापन है, स्वरूप से नहीं जैसे, कोई पवित्र पंच वर्षीय ब्राह्मण-पुत्र को संयोग से गर्दभ पालने वालों के गृह पलना पड़े और गदही का दुग्ध पान करना पड़े तथा गदहे में भार रखकर जहाँ-तहाँ जीविका चलाने के लिये जाना पड़े तो यह कर्म उसका स्वाभाविक नहीं है न वह इस कर्म का कर्ता है किन्तु गदहे पालने वाले के सम्बन्ध से यह कर्म करने वाला उसे कहा जा सकता है, ऐसे ही उक्त तथ्य को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कुछ और कहने

की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : यथा च तक्षोभयथा ॥२।३।४०॥

व्याख्या : जैसे कुशल कारीगर अपनी हथियार साधन-सामग्रियों को लेकर गाड़ी, पालकी, चौकठ, पल्ले, चौकी आदि को बनाना रूप कर्म का कर्ता बनता है और जब हथियार रखकर चुपचाप विश्राम करता है तब वह हथियार से सम्बन्ध न होने के कारण कर्म नहीं करता, इसी प्रकार जीवात्मा में स्वरूपतः कर्तापन नहीं है, जब वह शरीर एवं इन्द्रियों से सम्बन्धित होता है अर्थात् उनका अधिष्ठाता बनता है तब वह उससे किये जाने वाले कर्मों का कर्ता बनता है । श्री गीता में स्थान-स्थान पर भगवान के मुख से जीवात्मा के कर्तापन का खंडन किया गया है, इससे यही सिद्ध होता है कि जीव के शुद्ध स्वरूप में कर्तृ भाव नहीं है, अपितु उसमें अन्तः करण के सम्बन्ध से अज्ञान जनित आरोपित कर्तापन का भाव है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अनादि अन्तः करण के सम्बन्ध से जीवात्मा में जो अस्वाभाविक कर्तापन है, वह स्वतन्त्र है कि किसी अन्य के अधीन है, बतलाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : परात्तु तुच्छ्रुतेः ॥२।३।४१॥

व्याख्या : जीवात्मा, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की शक्ति व प्रेरणा से ही कुछ कार्य करने में समर्थ होता है इसलिये इसका कर्तापन परमात्मा के आधीन है । जीवात्मा से परमात्मा को जैसी चेष्टा करानी होती है, वैसी ही चेष्टा कराने का संकल्प, परमेश्वर अपने हृदय में करता है, उसको कर्तृत्व विचार कहते हैं, पुनः वैसी ही चेष्टा करने की इच्छा, जीवात्मा के हृदय में उत्पन्न करता है, जिसे कारयतृत्व भाव कहते है, पुनः अनुमति प्रदान करता है बुद्धि में स्थित होकर जिसे अनुमन्तृत्व भाव कहते हैं किन्तु परमात्मा उस कर्म से उदासीन रहता है, जिसे उदासीनत्व भाव कहते हैं परन्तु परमात्मा जीव का साथ कभी नहीं छोड़ता, जीव की चेष्टा चाहे जैसी हो, जिसे सहकारित्व भाव कहते हैं । उक्त सब क्रियायें जीवात्मा के कर्म के अनुसार परमेश्वर की प्रेरणा से होती हैं, जिसे फल प्रदत्व भाव कहते हैं, इस प्रकार से जीवात्मा का कर्तापन स्वतन्त्र नहीं है अपितु पर-

मात्मा के आधीन है। बृह० उप० (३।७।२२) तथा छान्दो० उप० ६।३।२) तथा केनोपनिषद की यक्ष-आख्यायिका से स्वयं सिद्ध होता है कि यक्ष रूपधारी ब्रह्म ने जब अपनी शक्ति को अग्नि और वायु से खींच ली, तब सब संसार को भस्म के रूप में बदल देने वाले अग्नि देव तथा संसार को उड़ाकर अधर में स्थित करने वाले वायु देव, यक्ष के दिये हुये सूखे तृण के छोटे टुकड़े को न जला सके और न उड़ा सके, हतप्रभ होकर लौट गये, भाव यह कि बड़े-बड़े देवता भी, परब्रह्म की शक्ति व प्रेरणा पाकर ही अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं, स्वतन्त्रता से नहीं। भगवान वासुदेव कृष्ण ने भी गीता (१८।६१) में 'ईश्वर : सर्व भूतानां ....' श्लोक के द्वारा जीव का कर्तापन, ईश्वर के आधीन बताया है। विष्णु पुराण (१।१७।२६) में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है किन्तु जीवात्मा 'अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' अज्ञानवश स्वयं को स्वतन्त्र कर्ता मानकर संसार चक्र में फँस जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जब जीव का कर्तापन ईश्वराधीन है, तब ईश्वर को उससे शुभाशुभ कर्म करवाकर, तदनुसार फल भोग करवाने से, विषमता और निर्दयता के दोष से कैसे बचाया जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा—वैयर्थ्यादिभ्यः ॥२।३।४२॥**

व्याख्या : जीवात्मा के किये हुये अनन्त जन्मों के संचित-कर्म-संस्कारों की अपेक्षा रखकर ही परमात्मा, जीव को तदनुसार कर्म में प्रवृत्त कराता है तथा क्रियमाण कर्म की साधन-सामग्रियों का संयोग कराता है, इसलिये उस पर विषमता या निर्दयता का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त परमेश्वर ने शास्त्रों द्वारा यह समझा दिया है कि, "हे जीव, तुम्हें ईश्वर ने विवेक दिया है, जिस विवेक के द्वारा तुम अपने सहज स्वरूप में स्थित हो सकते हो, अमुक कार्य करने से तुम्हें लोक-परलोक में आनन्द की प्राप्ति होगी और अमुक कर्म करने से तुम्हें नरक में अपना निवास बनाना पड़ेगा, चौरासी का चक्कर लगा ही रहेगा। निष्काम कर्म का फल ब्रह्म-प्राप्ति और सकाम कर्म का फल संसार की ही प्राप्ति है। परब्रह्म में मन लगाने का फल परम पद की प्राप्ति तथा अन्य ब्रह्मेतर में मन लगाने का फल बन्धन की ही प्राप्ति है।" इस प्रकार शास्त्रों

द्वारा जीव को सजग कर देने से, परब्रह्म में विषमता और निर्दयता का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि विधि-निषेध की आज्ञा का अनादर करने से, जीवात्मा स्वयं अपने से अपना विनाश करने वाला सिद्ध होता है तथा परब्रह्म के प्राप्ति हेतु जो साधन-सामग्रियाँ उसे परमात्मा की अहैतुकी कृपा से प्राप्त हुई हैं, उसका दुरुपयोग करने से स्वयं अपराधी है वह, ईश्वर पर किसी प्रकार से कोई दोष लगाया नहीं जा सकता जैसे, किसी अनुकरण लीला के नायक ने किसी व्यक्ति को उसकी योग्यता की अपेक्षा से कोई पाठ, रंगमंच में करने को दिया और स्वय परदे की ओट से शुद्ध पाठ करने के लिये उसे प्रेरित करता रहा किन्तु पाठक ने नायक की इच्छानुसार पाठ न करके विपरीत पाठ किया, इससे उसकी उन्नति रुक गई तो लीला-नायक का इसमें कौन सा दोष है या भिखारी का सही पाठ करने वाला व्यक्ति, लीला-समाप्ति पर भी सदा के लिये ही आवेशित चित्त होकर भिक्षा-वृत्ति से अपनी जीविका चलाने लगे तो लीला-नायक का क्या दोष? इसी प्रकार जगल्लीला का पाठ करने वाले जीव-समूह और लीला नायक परब्रह्म परमात्मा के विषय में समझना चाहिये। जीव को चाहिये कि मायापति, उर-प्रेरक परम प्रभु की शरणागति सर्वं भावेन ग्रहण कर ले और अपने समेत अपने से सम्बन्धित, मेरे नाम के सभी स्वत्वों को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के चरणों में समर्पित कर दे तो हृदयस्थ हृषीकेश, इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद कराके परम शान्ति प्रदान करेंगे।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा में भेद है, श्रुतियों में भी जहाँ-तहाँ भेद का ही प्रतिपादन किया गया है जैसे, श्वेता० उप० (४।६।७) में इस तथ्य को पुष्ट किया गया है किन्तु किसी-किसी स्थान में अभेदता का भी दर्शन कराया गया है जैसा कि बृहदा० उप० (४।४।५) में कहा गया है तथा कारण और कार्य का विचार करने पर भी अभेदता सिद्ध होती है जैसे, मिट्टी के बर्तन, मिट्टी ही होते हैं, अतः इसका निरा-करण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकित--**
वादित्वमधीयत एके ॥२।३।४३॥

व्याख्या : श्रुतियाँ जीव को बहु संख्यक और उनमें भी परस्पर पृथकता

सिद्ध करती हैं इसलिये तथा प्रकारान्तर से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा, परमात्मा का अंश है क्योंकि एक शाखा वाले परब्रह्म को ब्रह्म सूक्त में इस प्रकार कहते हैं कि 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवा:' अर्थात् "ये केवट ब्रह्म हैं, दास ब्रह्म हैं तथा ये जुआरी भी ब्रह्म ही हैं।" इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीव बहुत हैं और ब्रह्मरूपता भी उनमें स्थित है, अत: जीव ईश्वर का अंश है। श्वेता० उप० (६।१२।१३) में भी जीवों के नानात्व का वर्णन करके, उन्हें नित्य और चेतन बताया गया है, साथ ही परमेश्वर को अनन्त, नित्य चेतन जीवों के कर्म-फल भोगों का विधायक तथा जगत का कारण कहा गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा, परब्रह्म परमेश्वर का अंश है। श्री भगवान कृष्ण के वाक्य गीता (१४।३-४) में स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा का उसी प्रकार सम्बन्ध है जैसे, पिता-पुत्र का अर्थात् अंशी परमेश्वर है और उनका अंश जीव है यदि जीवात्मा को सर्वथा परमात्मा से भिन्न तत्व माना जाय तो एक परब्रह्म को जगत का उपादान कारण बताने वाले तथा दाश, दास और कितवों को ब्रह्म बताने वाले श्रुति वाक्यों की अप्रमाणता से अनर्थ की प्राप्ति होगी इसलिये जीव को, परब्रह्म का अंश मानना ही सर्वोत्तम यथार्थ सिद्धि है जैसे, महदाकाश और घटाकाश की स्थिति है, उसी प्रकार कारण-कार्य भाव से ब्रह्म और जीव में भी अंशी-अंश भाव निरुपाधिक और नित्य है, जो श्रुतियाँ जीव व ब्रह्म में अभेद सिद्ध करती हैं, वह कारण-कार्य व अंशी-अंश की एकता को लेकर ही है, जैसे पिता की आत्मा ही वीर्य रूप से, पत्नी के गर्भ में स्थित होकर, पुत्र का रूप धारण करती है इसलिये कारण कार्य को लेकर पिता-पुत्र में अभेद सिद्ध किया गया है, इसी प्रकार महदाकाश ही तो घटाकाश में स्थित है, जानकर कारण-कार्य की एकता से दोनों में भेद नहीं माना गया।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से जीव के अंशतत्व की सिद्धि की जाय।

वेदव्यासजी : **मन्त्रवर्णाच्च ॥२।३।४४॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (३।१२।६) मन्त्र में बताया गया है कि पहले जो परमात्म विषयक वर्णन हो चुका है, वह तो केवल परमेश्वर के महिमा का द्योतक मात्र है, वह तो उक्त महनीय चर्चा से बहुत अधिक है। समस्त जीव समुदाय परब्रह्म

का एक पाद (अंश) है और इसके तीन पाद अमृतमय, दिव्य अर्थात् सच्चिदानन्दात्मक स्वस्वरूप भूत परमधाम में है जैसें किसी महाराजा के महत्वपूर्ण वैभव, शक्ति, सेना, मन्त्री, प्रजा वात्सल्यादि गुणों के वर्णन से राजा, सर्वथा अधिक होता है क्योंकि वह उक्त धर्मों का आश्रय है अत: धर्म से, धर्मी की विशेषता सर्वमान्य हैं, इसी प्रकार उक्त ब्रह्म विषयक वार्ता को समझना चाहिये। विष्णु पुराण के मन्त्र (६।४।३६) में स्पष्ट जीव को, परमात्मा का अंश कहा है, इत्यादि मन्त्र वाक्यों से यह सर्वथा सिद्ध होता है कि, समस्त जीव समुदाय परमात्मा का अंश है।

मुमुक्षु मुखेन : अन्य स्थानीय प्रमाण भी हो सकते हैं, मुने ?

वेदव्यासजी : **अपि च स्मर्यते ।।२।३।४५।।**

व्याख्या : जीवात्मा परमात्मा का 'अंश है' यह तथ्य सिद्धान्त केवल वेद मन्त्रों से ही जाना जाता हो, सो बात नहीं अपितु गीता में (१५।७) स्वयं भगवान कृष्ण ने कहा है "ममैवांशो जीव लोके जीव भूत सनातन:" इसी प्रकार अपने अंश भूत मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन करके दशमें अध्याय के बयालिसवें श्लोक में कहा है कि, "हे अर्जुन ! तुम्हें बहुत जानने से क्या प्रयोजन, तुम केवल इतना समझ लो कि मैं अपनी शक्ति के अल्प अंश से, इस सम्पूर्ण जगत को भली-भाँति धारण करके, स्वरूप में स्थित हूँ।" अन्य स्थान में भी यह कहा गया है कि "हे मैत्रेय ! एक पुरुष जो यह जीवात्मा है, नित्य:शुद्ध, सर्वव्यापी और अविनाशी है, वह भी सर्वभूत-मय विज्ञानानन्द घन परब्रह्म परमात्मा का अंश ही है। इस प्रकार स्मृतियों के द्वारा सिद्ध जीवात्मा, परमात्मा का नि:सन्देह अंश है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! परब्रह्म के अंश होने के सम्बन्ध से जीव के किये हुये शुभाशुभ कर्मों और उनके फल स्वरूप सुख-दु:खादि द्वन्दों से परमेश्वर का भी सम्बन्ध होता है क्या ?

वेदव्यासजी : **प्रकाशादिवन्नैवं पर: ।।२।३।४६।।**

व्याख्या : नेत्र के देवता सूर्य देव हैं तथा नेत्र में जो प्रकाश है वह सूर्य का ही अंश है किन्तु सूर्य देव अपने अंश भूत नेत्रों के समस्त दोषों से सदा अलिप्त रहते हैं तथा आकाश भी अपने अंश भूत इन्द्रियों के दोषों से जैसे अलिप्त रहता

है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा अपने अंश भूत, सम्पूर्ण जीवों के शुभाशुभ कर्मों तथा सुख-दुःखादि कर्म फलों से सदा अलिप्त रहता है। कठ० उप० (२।२।११) की श्रुति भी उक्त अर्थ का प्रतिपादन करती है, यथा लोक-चक्षु सूर्य, जैसे अपने अंश भूत चक्षु के दोषों से लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार सर्व भूतान्तरात्मा परब्रह्म परमेश्वर, लोकों के दुख-सुख से अलग रहते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने इसमें क्या स्मृति प्रमाण भी है ?

वेदव्यासजी : **स्मरन्ति च ।।२।३।४७।।**

व्याख्या : यही बात स्मृतिकार भी कहते हैं और इसी सिद्धान्त की पुष्टि श्रुति, इतिहास और पुराण भी करते हैं यथा गीता (१३।३१) में भगवद्वाक्य हैं कि 'हे अर्जुन ! यह अविनाशी परमात्मा, अनादि और निर्गुण होने के कारण, शरीर में स्थित होते हुये भी, न कुछ करता है और न शरीर के सम्बन्ध से होने वाले कर्मों के सुख-दु खादि फलों से लिप्त होता जैसे, कमल पत्र पानी में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही नित्य निर्गुण परमात्मा के विषय में समझना चाहिये। महाभारत शान्ति पर्व (३५१।१४–१५) तथा मुण्ड० उप० (३।१।१) में भी यही सिद्ध किया गया है कि परमात्मा, किसी प्रकार के दोषों से लिप्त नहीं होता।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! समस्त जीव जब परमात्मा के अंश हैं, तब एक जीव के लिये जो अनुष्ठान करने का विधान शास्त्रों में बताया जाता है, वह दूसरे के लिये निषेध कहा जाता है, ऐसी विषमता क्यों ? समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।।२।३।४८।**

व्याख्या : जैसे श्मशान की अग्नि त्याज्य है, उसे हवन करने, भोजन बनाने या अन्य किसी काम में नहीं लाना चाहिये और गृह की हवनीय या रसोई घर की अग्नि उपादेय है, ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों के साथ जीवात्माओं का सम्बन्ध होने से शास्त्र में कहा गया विधि-निषेध अनुचित नहीं है यथा शूद्रों का जीविका के लिये, सेवावृत्ति रूप धर्म का निर्वाह हो लोक-परलोक में सुख देने

वाला शास्त्रों में बताया गया है और ब्राह्मणों के लिये सेवा-वृत्ति का निषेध किया गया है इसलिये शरीर सम्बन्ध से यथोचित विधि-निषेध रूप शास्त्र की आज्ञा सर्वथा उचित है यदि एक ही कर्म सभी जीव करने लगें तो जगत में अव्यवस्था हो जाने की शंका भी है, जीवों के लौकिक हित कार्यों की हानि सामने समुपस्थित हो जायगी।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! जीवात्माओं को विभु मानने से उनका और कर्मों का विभाग कैसे संभव होगा ? बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **असंततेश्चाव्यतिकरः ॥२।३।४९॥**

व्याख्या : जैसे प्रलयकाल में सम्पूर्ण जीवात्मा, विभू होते हुये भी कारण शरीर का आवरण होने से, एक नहीं हो जाते, उनका परस्पर विभाग बना रहता है, ब्रह्म सूत्र (२।३।३०) में यह स्पष्ट बताया जा चुका है, वैसे ही सृष्टि काल में भी शरीरों के सम्बन्ध से, एक-दूसरे में व्याप्त न होने के कारण, उनके कर्मों का मिश्रण नहीं होता और उनका परस्पर विभाग भी विद्यमान रहता है क्योंकि शरीर अन्तःकरण, अनादि कर्म संस्कार और अज्ञान आदि के सम्बन्ध से जीवों की व्यापकता और ज्ञान, परब्रह्म परमेश्वर की तरह नहीं होता जैसे, लोक में अगणित घटाकाश हैं, वे सबके सब आवरण के भीतर रहने के कारण (शरीर सम्बन्ध से) पृथक-पृथक दृष्टिगोचर होते रहते हैं, उनमें कोई छोटा कोई बड़ा, कोई किसी कार्य के लिये, कोई किसी कार्य के लिये, उनका बना रहना सबके प्रतीति का विषय होता ही है यद्यपि वे सब महदाकाश के अंश ही हैं; स्वरूपतः आकाश से भिन्न नहीं हैं, अस्तु, विभु ही हैं फिर भी आवरण सम्बन्ध से, सब की उक्त स्थिति बनी रहती है। दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे, शब्द किसी के किसी प्रकार के किसी भाषा के हों, सब की व्याप्ति आकाश में समान रूप से होते हुये भी, प्रत्येक शब्द का मिश्रण न होकर, उनकी भिन्नता का बना रहना सबके अनुभव का विषय बन रहा है, तभी तो अनेक स्थानों से एक ही समय कहे हुये शब्द, यन्त्रों द्वारा अलग-अलग सुने जाते हैं इसलिये जीवात्माओं का विभुत्व, उनके परस्पर अमिश्रण और भिन्नता में बाधक नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जो लोग जीवात्मा का स्वरूप अन्य प्रकार से मानते

हैं, उनके विषय में कुछ कहने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : आभासा एव च ॥२।३।५०॥

व्याख्या : जो लोग जीवात्मा को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का अंश न मानकर उनको अलग-अलग स्वतन्त्र मानते हैं, अतएव अपनी मान्यता की सिद्धि के लिये जो-जो युक्ति प्रमाण दिये हैं, वे सब के सब आभास मात्र हैं, अत: उनकी मान्यता अमाननीय है। सम्पूर्ण श्रुतियों के आदर के लिये तथा उनकी परस्पर एकता सिद्ध करने के लिये, जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना सर्वथा उचित और युक्ति संगत हैं जैसे पुत्र को पिता का अंश न मानकर, पिता से असम्बन्धित स्वतन्त्र मानना अनर्गल और अविचारित अपराध है, वैसे ही स्वतन्त्र लोगों की स्वतन्त्र वार्ता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वादी लोग कहते हैं कि अवयव हीन परमात्मा का अंश जीव कैसे हो सकता है यदि घटाकाश की तरह अंशांशि भाव माने भी तो उपाधि के नष्ट होने पर, वह असिद्ध हो जाता है इसलिये इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : अदृष्टानियमात् ॥२।३।५१॥

व्याख्या : जो देखे-सुने नहीं जा सकते, ऐसे अदृष्ट अगणित जन्मों के कर्म फल भोगों की कोई नियत व्यवस्था न हो सकेगी। यदि जीव को परब्रह्म का अंश नहीं स्वीकार किया जायगा अथवा घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से जीव को परमात्मा का अंश माना जायगा तो, विचार करें यदि जीवों को स्वतन्त्र मानते हैं तो उनके कर्म फल भोगों की व्यवस्था कौन करेगा। जीव अपने से अपने कर्म फलों की व्यवस्था कर नहीं सकते। इस कर्म का फल यह होगा और उसके भोगने का समय, अमुक जन्म में, अमुक वर्ष में इस प्रकार भोगा जायगा, यह सब सोचना ही व्यर्थ और असंभव है। कर्म को ही व्यवस्थापक मानें तो वह जड़ है इसलिये अपना फल भोग कराना असंगत है यदि यह माना जाय कि एक परमात्मा, उपाधि युक्त घटाकाश की भाँति अनादि सिद्ध अन्त:करण शरीरादि की उपाधियों के निमित्त से नानादि जीवों के रूप में, अपनीं प्रतीति करा रहा है, तो भी जीवों के कर्मफल-भोग अव्यवस्थित ही रहेंगे क्योंकि इस मान्यता से जीव और ब्रह्म का

वास्तविक भेद न होने से, समस्त जीव-जगत के कर्मों का विभाग करना तथा कर्म फल भोगने वाले जीवों का विभाग बनाना और परमात्मा को सबसे अलग रखकर, जीवों के कर्मफलों का व्यवस्थापक मानना असंभव है इसलिये श्रुति सिद्धान्त के अनुसार, पिता-पुत्र की भाँति जीवात्मा, परमात्मा का अंश है। सभी जीव उन्हीं से उत्पन्न होते हैं और वही समस्त जीवों को उनके कर्म फलों के अनुसार, भोगों की व्यवस्था करने वाले हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने इसके अतिरिक्त अव्यवस्था अन्यत्र तो न होगी ?

वेदव्यासजी : अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥२।३।५२॥

व्याख्या : घटाकाशवत् उपाधि निमित्त तया प्रतीत होने वाला ईश्वर तथा जीवों का अशांशि भाव वास्तविक नहीं है, स्वीकार करने पर जीवों के संकल्प व इच्छा आदि के विभाग की अनियमित व्यवस्था हो जायगी क्योंकि जीवों के संकल्प आदि परस्पर पृथक-पृथक न रह सकेंगे और परमात्मा के संकल्प से भी उनका भेद असिद्ध रहेगा क्योंकि जीवों को स्वतन्त्र स्वीकार करने से, ईश्वर के पारतन्त्र्य की हानि होने से सम्बन्ध ही विच्छेद हो जायगा, अस्तु, श्रुतियों-शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा के द्वारा 'ईक्षण' अर्थात् संकल्प पूर्वक जगत की रचना करने का जो प्रमाण है, उसकी भी संगति असंभव है इसलिये पूर्व सूत्र की व्याख्या के अनुसार, जीव-ब्रह्म का अंशांशि भाव श्रुति सिद्धान्त से नित्य और निरूपाधिक है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपाधियों में देश-भेद होने से क्या सब व्यवस्था नहीं हो सकती ?

वेदव्यासजी : प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥२।३।५३॥

व्याख्या : यदि शरीरादि में देश का भेद होने से, सब जीवों में पृथकीकरण भाव तथा कर्म-फल-भोग-व्यवस्था और उनके संकल्प आदि की सिद्धि मानी जायगी तो यह कथन असिद्ध हो जायगा क्योंकि परब्रह्म परमात्मा सभी शरीर रूपी उपाधियों में व्याप्त है। उपाधियों के देश-भेद से, परमात्मा के देश में भेद नहीं हो सकता है अपितु प्रत्येक उपाधि का सम्बन्ध, सब देशों में हो सकता है जैसे घट रूप

उपाधि एक जगह से दूसरी जगह जाय तो आकाश उसके साथ नहीं आता-जाता, जब जिस देश में उपाधि जाती है, उस समय वहाँ का आकाश, उपाधि में आ जाता है, इस प्रकार से अपरिछिन्न एवं अभेद आकाश के व्यापकत्व भाव से उसका सब उपाधियों में बाह्याभ्यन्तर भुक-भाव स्वयं सिद्ध है, इसी प्रकार से सब उपाधियों का भी अन्तर्भाव आकाश में सिद्ध समझना चाहिये, अत: किसी प्रकार से किसी भी विभाग की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये जीव-ब्रह्म का अंशांशि भाव, घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से नहीं माना जा सकता अपितु पुत्र और पिता की भाँति सहज सिद्ध है।

तात्पर्यार्थ : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही जगत के अभिन्नोपादान निमित्त कारण हैं। जीवात्मा स्वरूपत: विभु और व्यापक है किन्तु अनादि अन्त:करण व शरीरादि-सम्बन्ध से ही किसी-किसी श्रुति में उसे अणु भी कहा गया है। जीवात्मा में विभु होते हुये भी, कारण शरीर के सम्बन्ध से, उनमें नानात्व एवं पृथक-पृथक अनादि कर्म संस्कारों से परस्पर कर्म फल के विभाग का निरूपण किया गया है। जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न तत्व तथा अभिन्न भी नहीं माना गया है, अपितु परब्रह्म परमेश्वर का अंश सिद्ध किया गया है जैसे, पिता का अंश पुत्र है। जीवात्मा का स्वरूप स्वत: सिद्ध व स्वतन्त्र नहीं है, वह सदा परमात्मा के परतन्त्र है इसलिये उसे प्रभु-परतन्त्रता को स्वीकार कर, अपने को पुत्र की भाँति परम पिता परमेश्वर का धन समझना चाहिये। अपने व अपने से सम्बन्धित पदार्थ का विनियोग भगवान के लिये होना चाहिये। पुत्र की भाँति अपनी चेष्टायें, आराध्य देव के मुख-कमल-विकास हेतु होनी चाहिये, इस प्रकार सर्व भावेन प्रभु-समर्पित जीवन बनाकर, उनके नाम, रूप, लीला और धाम में अति अनुरक्ति के साथ कालक्षेप करना चाहिये, ऐसा धर्म पंचम पुरुषार्थ है। इस प्रकार की स्थिति में रहकर कारण शरीर से मुक्त होकर, परम पद प्राप्त कर लेना चाहिये कि वहाँ से लौटकर पुन: मृत्यु लोक में नहीं आना होता। यही वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद का सार सिद्धान्त है।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के द्वितीय अध्याय
का तृतीय पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

द्वितीय अध्याय का चतुर्थ पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्राण व इन्द्रियों की उत्पत्ति कहीं तो परमेश्वर से श्रुति में कही गई है और कहीं अग्नि, जल और पृथ्वी से तथा कहीं उत्पत्ति क्रम में नाम भी नहीं आया, अतः प्राण और इन्द्रियाँ किससे उत्पन्न होती हैं, बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **तथा प्राणाः ॥२।४।१॥**

व्याख्या : जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा से पांचों तत्व तथा और सब जगतीय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्राण व इन्द्रियाँ भी, उन्हीं परमेश्वर से उत्पन्न होती हैं क्योंकि आकाश आदि तत्वों और इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई भेद नहीं है। मुण्डकोपनिषद (२।१।३) में स्पष्ट बताया गया है कि परब्रह्म परमेश्वर से ही प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्त से यही सिद्ध होता है कि प्राण तथा इन्द्रियाँ भी, उस परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं। रचना क्रम में कल्पानुसार स्वतन्त्र परमात्मा की इच्छा से चाहे कुछ अन्तर भी हो पर सबका रचयिता तो एक वह परब्रह्म परमेश्वर ही है जैसे, कुंभकार ने किसी दिन प्रथम नाद बनाये पुनः हंडा, हंडी, कलश आदि क्रम से बनाये। किसी दिन प्रथम हंडा तैयार कर, पुनः क्रम से अन्य बर्तन तैयार किये, अस्तु, इसमें अड़चन क्या है? जब जैसी इच्छा कुलाल की हुई तब तैसी रचना उसने की। सभी बर्तनों का बनाने वाला वही है अतएव रचना क्रम-भेद से संशय नहीं करना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : जहाँ प्रथम जगत उत्पत्ति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि वाणी तेजोमयी है, जिसका अभिप्राय यह है कि वाक् इन्द्रिय तेज से उत्पन्न

हुई है, इससे इन्द्रियों की उत्पत्ति पंच भूतों से ही सिद्ध होती है, अतः दोनों प्रकार का कथन करने वाली दोनों श्रुतियों में सामन्जस्य कैसे हो सकेगा । समझाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **गौण्यसम्भवात् ॥२।४।२॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।६।४) में बताया गया है कि भक्षण किये हुए तेजस पदार्थों का जो सारतम सूक्ष्म अंश है, वह एकत्र होकर, वाणी के रूप में परिवर्तित होता है, इससे यही सिद्ध होता है कि तेजस के सूक्ष्म अंश से वाणी बलवती होती है क्योंकि श्रुति ने तेजस पदार्थों के खाये हुये सूक्ष्मांश का ही ऐसा परिणाम कहा है, इसलिये जिस इन्द्रिय से तेजस पदार्थ खाये जाते हैं, उसका उत्पन्न होना तेजस पदार्थ से प्रथम ही सिद्ध हो जाता है जैसे, कोई कहे कि इस मिट्टी के घड़े में यह घी रख दो, जिससे घड़ा पुष्ट हो जायगा तो यह स्पष्ट है कि घी लाने के पहले घट का निर्माण हो चुका था; इसी प्रकार वहाँ श्रुति में खाये हुये अन्न से मन का उत्पन्न होना और पीये हुये जल से प्राणों की उत्पत्ति का होना बताया गया है किन्तु विचार करें कि प्राणों के बिना जल-पान कोई कर सकता है, नहीं, इसलिये जल से प्रथम प्राणों की उत्पत्ति सिद्ध होती है अर्थात् जल से प्राणों की उत्पत्ति असिद्ध है इसलिये जल से प्राणों की रक्षा (पुष्टि) और तेजस पदार्थों से वाक् इन्द्रिय की पुष्टि होने के कारण गौण रूप से जल से प्राणों की उत्पत्ति और तेजस से वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति कही गयी है, इसलिये गौणतया उक्त उत्पत्ति का वर्णन करने से, वह श्रुति गौणी है, इस प्रकार की मान्यता से श्रुतियों के वर्णन में सामञ्जस्य हो जाता है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से भी क्या उक्त श्रुति गौणी सिद्ध हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॥२।४।३॥**

व्याख्या : शतपथ ब्राह्मण (६।१।१।१) में पांच तत्वों की उत्पत्ति से पूर्व ऋषियों के नाम से इन्द्रियों की उत्पति का वर्णन है, इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद में इन्द्रियों का उत्पन्न होना, आकाशादि पाँच तत्वों से पहले कहा गया है, इससे यही सिद्ध होता है कि आकाशादि पंच तत्वों से, इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं हुई है

इसलिये तेज आदि तत्वों से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति गौण है जैसे, किसी राजरानी के पुत्र को दूध पिलाने वाली धाय बच्चे को लाल, वत्स आदि शब्द कहकर लाड़ प्यार करती है, बच्चा भी माँ कहता है किन्तु धाय का स्व-पुत्र कहना गौण है और रानी का बालक को अपना पुत्र कहना मुख्य है; इसी प्रकार प्राण और इन्द्रियों की उत्पत्ति परमात्मा से मुख्य है तथा तेज आदि भूतों से इन्द्रिय-उत्पत्ति कहना गौण है और ऐसा कहने वाली श्रुति भी गौणी है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अन्य युक्ति के द्वारा उक्त विषय की पुष्टि करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।।२।४।४।।**

व्याख्या : तीन तत्व स्वरूप देवताओं में जीवात्मा के सहित प्रविष्ट होकर, परब्रह्म ने नामरूपात्मक जगत की रचना की; इस प्रकार छान्दो० उप० (६।३।३) में जगत की उत्पत्ति ब्रह्म के प्रवेश होने पर बताई गई है इसलिये भी सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है, तेज आदि तत्वों से नहीं, अतः तेज तत्व से पानी की उत्पत्ति बताने वाले श्रुति गौणी है अर्थात् उसका कथन गौण है जैसे, अन्न पृथ्वी में बोया गया जो पहले पृथ्वी से ही उत्पन्न हुआ था, पश्चात् जल सिंचन के द्वारा उसकी परिवृद्धि हुई, यदि इस अन्नोत्पादन क्रिया की सिद्धि में कोई कहे अन्न, पृथ्वी से उत्पन्न होता है और कोई कहे जल से होता है, निर्णय लेने पर यही सिद्ध होता है कि अन्न पृथ्वी से उत्पन्न होता है, जल से नहीं किन्तु जो जल से उत्पत्ति कहते हैं, वे जल से अन्न का पोषण होने से है, अतः उनका कहना गौण है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! मुण्ड०उप० (२।१।८) में प्राणों के नाम से सप्त इन्द्रियों का वर्णन है तथा वृह० उप० (३।९।४) में मन सहित ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, अतः इन दोनों में कौन सही है, इसका निश्चय कराने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ।।२।४।५।।**

व्याख्या : हाँ, हाँ, पूर्व पक्षी कहा करते हैं कि मुख्यतः सात ही इन्द्रियाँ हैं,

श्रुति ने सात प्राण नाम से आँख, कान, नाक, रसना, त्वक, वाक् और मन को ही कहा है तथा जिनमें ये इन्द्रियाँ, अपने-अपने अर्थ को ग्रहण करती हैं, वे सप्त लोक नाम से कहे गये हैं। मुण्ड० उप० (२।१।८) में इन्द्रियों के सप्त विशेषण होने से सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ सात ही हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सिद्धान्त पक्ष का क्या कथन है ?

वेदव्यासजी : **हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥२।४।६॥**

व्याख्या : प्रश्न० उप० (४।८) में हाथ-पैर, उपस्थ और गुदा, ये चार इन्द्रियों का वर्णन, उक्त सात इन्द्रियों के साथ मिलता है तथा हस्तादि करणों (इन्द्रियों) की आवश्यकता तथा उनका प्रयोग, प्रत्येक मनुष्य के जीवन पर्यन्त प्रत्यक्ष देखा जाता है इसलिये इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानना सर्वथा संगत है। भगवान कृष्ण ने गीता में (१३।५) मन सहित इन्द्रियाँ ग्यारह बताई हैं तथा बृह० उप० (३।६।४) की श्रुति भी दस (ज्ञानकर्म) इन्द्रियाँ और एक मन को मिलाकर ग्यारह बतलाती हैं, इसलिये जहाँ किसी अन्य उद्देश्य से सप्त संख्या कही गई हैं, वहाँ हस्तादि चारों इन्द्रियों को भी मिला लेना चाहिये। जैसे, कहा गया कि मध्यमा और अनामिका अँगुली शुभकारिणी होती है तो इसका मतलब यह नहीं कि हाथ में तर्जनी, कनिष्टिका और अँगुष्ठ होते ही नहीं है; इसी प्रकार केवल इन्द्रियों की संख्या सात कहना ठीक नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आकाशादि पंच भूत तथा समस्त इन्द्रियाँ, परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न बताई गई हैं किन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक तन्मात्रायें किससे उत्पन्न होती हैं, नहीं बताया गया, अस्तु, बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अणवश्च ॥२।४।७॥**

व्याख्या : जिस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति, परब्रह्म परमेश्वर से होती है, उसी प्रकार पंच भूतों के सूक्ष्म स्वरूप (जिन्हें उपनिषदों में मात्रा तथा दूसरे दर्शनकारों द्वारा परमाणु कहा गया है) भी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान से उत्पन्न होते हैं क्योंकि श्रुति में उनकी स्थिति, परब्रह्म परमात्मा के आश्रित बतायी गई

है। कोई-कोई व्याख्याकार कहते हैं कि यह सूत्र इन्द्रियों की अणुता सिद्ध करने के लिये हैं किन्तु यह बात बिलकुल ठीक नहीं बैठती क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता है कि त्वक् इन्द्रिय सारे शरीर को ढाके हुये है और सर्वत्र से स्पर्श ज्ञान रखती है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! मुख्य प्राण की उत्पत्ति किससे होती है ?

वेदव्यासजी : **श्रेष्ठश्च ॥२।४।८॥**

व्याख्या : जिसे प्रश्न० उप० (२।३-४) तथा छान्दो० उप० (५।१।७) में प्राण नाम से कही जाने वाली, इन्द्रियों से श्रेष्ठ बताया है, जो एक होते हुये शरीर धारण करने के पाँच प्रकार (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) का होकर शरीर में स्थित होता है, उस मुख्य प्राण की उत्पत्ति भी इन्द्रिय आदि की तरह, परब्रह्म परमेश्वर से ही होती है। मुण्डकोपनिषद (२।१।३) में भी ऐसा ही कहा गया है, भाई ! जिस वट बीज से इतना बड़ा वृक्ष अपनी विशालता को लिये हुये उत्पन्न होता है, उसी बीज से अंकुर, पौधा, तना, स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र-फूल, फल तथा इन सबके सूक्ष्म गुण जिससे रोग-निवृत्ति होती है, उत्पन्न हुये जैसे जाना जाता है, वैसे ही जगत के उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर से ही सम्पूर्ण जागतिक तत्व व पदार्थ उत्पन्न हुये जानने में कौन आपत्ति है; विवाद करने वाले व्यर्थ ही अपने सही मस्तिष्क को अस्वस्थ बनाते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! मुख्य प्राण क्या है ? बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥२।४।९॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (२।१।३) की श्रुति में प्राण की उत्पत्ति कही गई है पुनः वायु की उत्पत्ति का वर्णन अलग से किया गया है इसलिये श्रुति में बताया गया है कि मुख्य प्राण न तो वायु तत्व है और न वायु की क्रियाशीलता का ही नाम मुख्य प्राण है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह दोनों से भिन्न तत्व है जैसे, उपनिषदों में आकाश नाम से भूताकाश भी कहा गया है और आकाश नाम परब्रह्म का भी बोधक है इसलिये जहाँ परमात्म विषयक प्रकरण हो; वहाँ आकाश

शब्द को भूताकाश से सर्वथा भिन्न समझना ही परावर के ज्ञान का हेतु है, वैसे ही उक्त विषय को जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जिज्ञासा होती है कि प्राण यदि वायु तत्व नहीं है तो जीवात्मा की भाँति कोई अन्य तत्व है क्या ?

वेदव्यासजी : **चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ॥२।४।१०॥**

व्याख्या : मुख्य प्राण की श्रेष्ठता निर्धारित करने वाली एक गाथा छान्दो० उप० में आती है कि एक समय सब इन्द्रियाँ परस्पर अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के कारण विवाद ग्रस्त हो गईं, निश्चय न मिलने पर न्याय कराने के लिये प्रजापति के पास पहुँचकर सभी ने पूछा कि, "भगवन् ! हम सब में श्रेष्ठ कौन है ?" प्रजापति ने कहा कि, "जिसके निकल जाने पर शरीर 'शव' हो जाय, वही श्रेष्ठ है ।" यह सुनकर बारी-बारी से प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों का निकलना प्रारम्भ हो गया किन्तु शरीर का कार्य चलता रहा, अन्त में जब मुख्य प्राण निकलने की तयारी करने लगे, तब सब इन्द्रियाँ विचलित होकर घबरा उठीं और मुख्य प्राण से सनम्र कहने लगीं कि आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हो, बाहर मत जाओ । छान्दो० उप० (५।१।६ से १२ तक) के इस प्रकरण में जीवात्मा के आधीन रहने वाली मन समेत इन्द्रियों के वर्णन के साथ-साथ मुख्य प्राण का वर्णन आया है इसलिये प्राण भी स्वतन्त्र नहीं हैं, इन्द्रियों की भाँति जीवात्मा के आधीन है, यही कारण है कि इन्द्रिय-निग्रह की भाँति प्राणायाम के द्वारा प्राणों को सूक्ष्म और आधीन करने का उपदेश, शास्त्रों में प्राप्त होता है । साथ ही मुख्य प्राण जीवात्मा की भाँति चेतन नहीं है अपितु इन्द्रियों की भाँति जड़ है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इन्द्रियों की भाँति यदि प्राण को करण मानते हैं तो इन्द्रियों की तरह, उसके लिये भी किसी ग्राह्य विषय की आवश्यकता है किन्तु न तो वह किसी विषय का द्वार है और न शास्त्रों में उसे करण कहा गया है अतः इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।२।४।११॥**

व्याख्या : जिस प्रकार इन्द्रियाँ, जीवात्मा को विषय का अनुभव कराने में

करण (सहायक) हैं, उसी प्रकार विषयों के उपभोग में करण न होने पर भी प्राण को, जीवात्मा के लिये करण मानने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उन सब इन्द्रियों को प्राण ही धारण करता है तथा सशरीर सबका पोषण करता है अर्थात् इन्द्रियों का धारक-पोषक मुख्य प्राण ही है तथा प्राण के संयोग से ही जीवात्मा, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, इसलिये श्रुति में उक्त प्रकार से प्राण को करणत्वेन स्वीकार किया गया है। छान्दो० उप० (५।१।६) से प्रकरण के अंत तक तथा प्रश्नोपनिषद (३।१ से १२ तक) स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अन्य प्रकार से भी उक्त वार्ता की पुष्टि होती है क्या ?

वेदव्यासजी : पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥२।४।१२॥

व्याख्या : जिस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में मन की पंच वृत्तियां बताई गई हैं, उसी प्रकार बृह० उप० (१।५।३) में प्राण को भी 'प्राण' अपान, समान, व्यान और उदान नामक पंचवृत्तियों वाला बताया गया है, इस प्रकार प्राण अनेक प्रकार से जीवात्मा के उपयोग में आता है। प्रश्नोपनिषद (३।४ से ७ तक) में भी इसी तथ्य को विस्तार पूर्वक कहा गया है इसलिये भी प्राण को जीवात्मा के उपयोग में आने के कारण उपकरण मानना मनीषियों से मान्य है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्राण सूक्ष्म हैं या स्थूल ?

वेदव्यासजी : अणुश्च ॥२।४।१३॥

व्याख्या : यद्यपि यह प्राण तत्व अपनी पंच वृत्तियों के द्वारा कार्य संपादन की अवस्था में स्थूल रूप से अपना ज्ञान कराता है तथापि यह सूक्ष्म है, अणु शब्द सूक्ष्मता के बोध के लिये ही प्रयोग किया गया है किन्तु यह परिछिन्न तत्व है, इसके बाहर-भीतर परमात्मा व्याप्त है अतः प्राण सीमित व्यापक है, जीवात्मा-परमात्मा की भाँति न तो सूक्ष्म है और न व्यापक है, प्रश्नोपनिषद में यह वार्ता देखी जा सकती है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! छान्दो० उप० में जहाँ तेज आदि तीन तत्वों से जगत की रचना का वर्णन आता है, वहाँ उन तीनों तत्वों का अधिष्ठाता कौन देवता बताया गया है, बतलाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥२।४।१४॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (६।२।३-४) में कहा गया है कि जगत के रचयिता परब्रह्म परमेश्वर ने संकल्प किया कि मैं 'एक से बहुत हो जाऊँ' तब उसने तेज की रचना की, पुनः तेज ने विचार किया इत्यादि वेद वाक्यों में जो तेज आदि तत्वों में विचार करने वाला बताया गया है, वह उनका अधिष्ठाता परमात्मा ही है क्योंकि तैत्त० उप० (२।६) में भी कहा है कि ब्रह्म ने जगत की रचना करके जीवात्मा के साथ-साथ उसमें प्रवेश किया इसलिये यही निश्चय होता है कि जो वस्तु जड़ है वह संकल्प शून्य है, उसमें विचार करने की शक्ति नहीं है अतः पुरुषोत्तम भगवान ने ही, तत्वों में अधिष्ठाता रूप से प्रविष्ट होकर विचार किया है जैसे, एक समर्थ राजा ने अपनी नवीन राजधानी बनाने के लिये, एक नगर निर्माण करने का संकल्प किया तदनन्तर महल बनने की साधन-सामग्रियों के द्वारा बड़े-बड़े भवनों का निर्माण हो गया, सब सुख के साधन वहाँ सुलभ हो गये तत्पश्चात् राजा अपने पुत्र सहित नगर में महल में प्रवेश किया, इससे यही सिद्ध होता है, भवन का सम्पूर्णतया स्वामी राजा ही है, वैसे उपरोक्त वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आकाशादि तत्वों का अधिष्ठाता जब परमेश्वर है, तब सर्व शरीरों का अधिष्ठाता उसी को होना चाहिये, जीवात्मा को नहीं अतः इस जिज्ञासा का निवारण करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **प्राणवता शब्दात् ॥२।४।१५॥**

:**व्याख्या** : छान्दो० उप० (६।३।२) की श्रुति में कहा गया है कि परब्रह्म ने तीनों तत्वों को प्रकट करके विचार किया कि अब मैं जीवात्मा के साथ इन तीनों तत्वों में प्रविष्ट होकर, नाना नामों और रूपों को प्रकट करूं । इसी प्रकार तैत० उप० में आता है कि जीवात्मा को सहयोग देने के लिये परमात्मा ने जीव के साथ शरीर में प्रवेश किया । मुण्ड० उप० तथा कठोपनिषद और श्वेता० उप० में

भी जीवात्मा के साथ, परमात्मा का शरीर में प्रवेश कर, वहां एक साथ दोनों का रहना बताया गया है इसलिये जीवात्मा को शरीर का अधिष्ठाता मानने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है जैसे, एक वृक्ष में दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं, एक वृक्ष-फल का उपभोग करता है और एक साक्षी मात्र फल खाने वाले का साथ देने के लिये वहां रहता है इसलिये फल खाने वाले पक्षी को वृक्ष का अधिष्ठाता मानने में कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! श्रुतियों में जगत की उत्पत्ति के पूर्व या उत्तर में जीवात्मा की उत्पत्ति का वर्णन नहीं मिलता, अस्तु, परमात्मा का यह विचार करना कैसे सिद्ध होगा कि जीवात्मा के सहित मैं तत्वों में प्रवेश करूं।

वेदव्यासजी : तस्य च नित्यत्वात् । १।४।१६।।

व्याख्या : जीवात्मा को सब श्रुतियां नित्य बताती हैं, स्वरूपतः उसकी उत्पत्ति नहीं होती और न ही मृत्यु होती। सृष्टिकाल में अन्तःकरण और शरीरादि के सम्बन्ध से ही गौण रूपेण उसकी उत्पत्ति कही गई है; सूत्र (२।३।१६) किन्तु सूत्र (२।३।१७) में जीव की वास्तविक उत्पत्ति नहीं मानी गई क्यों कि जीवात्मा नित्य और सनातन है इसलिये सृष्टि के पहले व पीछे जीवात्मा की उत्पत्ति न बताकर भूतों में जीवात्मा के साथ, परमात्मा के प्रवेश करने में कोई विरोध नहीं है। जैसे लोक में किसी पुरुष के भव्य-भवन बनने के पहले या पीछे उसके पुत्र होने की चर्चा न करके अगर यह कहा जाय कि अमुक पुरुष अपने पुत्र के साथ, उस भवन में प्रवेश कर वहां रहने लगा तो इसमें पुत्र की चर्चा, भवन बनने के पूर्व या उत्तर न करके, सदन में दोनों का (पिता-पुत्र का) प्रवेश कहने में कौन सी आपत्ति है ?

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुतियों में प्राण के नाम से इंद्रियों को कहा गया है इससे यह जान पड़ता है कि इन्द्रियाँ, प्राण की कार्य भूता हैं, उसी की वृत्तियां हैं। इससे भिन्न तत्व की सिद्धि संशय ग्रस्त है अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह मुख्य प्राण भी एक इन्द्रिय है, ऐसी स्थिति में वास्तविक निर्णय देने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।२।४।१७।।

व्याख्या : मुण्ड० उप (२।१।३)की श्रुति में इन्द्रियों और प्राणों को पृथक-पृथक कहा है। प्राणों के नाम से इन्द्रियों का वर्णन नहीं है अर्थात् मुख्य प्राण की गणना इन्द्रियों से अलग की गई है। इसलिये पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और एक मन, मुख्य प्राण से सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। इन्द्रियां न तो मुख्य प्राण की कार्य है और न मुख्य प्राण, उनकी भांति इन्द्रियों की गणना में है अपितु शरीर में सर्वेन्द्रियों की स्थिति मुख्य प्राण के आधीन है इसलिये श्रुति में गौण रूप से, इन्द्रियों को प्राण नाम से कहा है जैसे, वर्तमान काल में मोटर इन्जन के आधीन गाड़ी के सब अंग होने से गाड़ी को मोटर, लोग कहा करते हैं किन्तु वास्तव मे मोटर इन्जन अलग वस्तु है और गाड़ी के सब अंग अलग वस्तु हैं।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! उक्त निर्णय के पुष्टि के लिए कोई अन्य हेतु भी है ;

वेदव्यासजी : भेदश्रुतेः ।।२।४।१८।।

व्याख्या : श्रुतियों से जहां कहीं भी प्राण के नाम से इंद्रियों का वर्णन आया है, वहां भी इंद्रियों का मुख्य प्राण से भेद बताया गया है। मुण्ड० उप०(२।१।३) तथा बृह० उप०(१।३।३)एवं प्रश्नो० उप० (२।२।३)में मुख्य प्राण और इन्द्रियों का भेद स्पष्ट सिद्ध है, इसलिये भी मुख्य प्राण, इन्द्रियों से भिन्न है।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! मुख्य प्राण में इन्द्रियों की अपेक्षा क्या वैलक्षण्य है ?

वेदव्यासजी : वैलक्षण्याच्च ।।२।४।१९।।

व्याख्या : सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रियां जब विलीन हो जाती हैं, तब भी मुख्य प्राण जागता रहता है, निद्रा उस पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है, यही वैलक्षण्य इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य प्राण में है, इसमें भी यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण से इन्द्रियाँ सर्वथा भिन्न हैं। इंद्रियां न तो प्राण की कार्य है और न वृत्तियां ही हैं; प्राण नाम से इन्द्रियों को गौण रूप से ही कहा गया है जैसे दंड को चलने में सहायक होने से लोग कहते हैं कि यह हमारा पैर है, इसी प्रकार शरीर के संचालन क्रिया में प्राण की भांति गौण रूप से सहायक होने से, इन्द्रियों को प्राण नाम से कहा गया है।

मुमुक्ष् मुखेन : मुने ! पंच भूतों को उत्पन्न करके परमात्मा ने जीव सहित उनमें प्रवेश किया तत्पश्चात् नाम रूपात्मक जगत का विस्तार करके, अपने संकल्प को सिद्ध हुआ पाया अत: जिज्ञासा यह है कि नाम रूपात्मक जगत का विस्तार करने वाला कोई जीव विशेष है या परमात्मा।

वेदव्यासजी : **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्** ।।२।४।२०।।

व्याख्या : नाम रूपात्मक समस्त जगत की रचना करने वाला एक वही परब्रह्म परमात्मा है, जिसने तीनों तत्वों का मिश्रण किया है क्योंकि वहां श्रुति के उक्त प्रकरण में यही सिद्ध किया गया है। वहां जीवात्मा के सहित परमेश्वर का भूतों में प्रवेश करना, कहने का अर्थ, जीवात्मा के कर्तापन में परमात्मा के कर्तृत्व की प्रधानता स्पष्ट करने के लिये है क्योंकि जीवात्मा, परमेश्वर की शक्ति व प्रेरणा से ही कुछ करने में सक्षम होता है, यह वेद वर्णित सिद्धांत है। जैसे सिंहनी अपने बच्चे को लेकर गुफा में प्रवेश करती है, इस वाक्य का अभिप्राय गुफा का सर्व संभार बच्चे के द्वारा होना, बताने के लिये नहीं है अपितु सिंहनी को गुफा और बच्चे की संरक्षिका सिद्ध करने के लिये है।

मुमुक्ष मुखेन : प्रभो ! परमेश्वर ने तीन तत्वों के मिश्रण से जगत की रचना की है। जिज्ञासा यह होती है कि किस तत्व से कौन पदार्थ बने तथा उनकी विभाग उपलब्धि किस रूप से होती है ?

वेदव्यासजी : **मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च** ।।२।४।२१।।

व्याख्या : भूमि के कार्य को भौम कहते हैं, अत: जिस प्रकार भूमि रूप अन्न के कार्य मांस, पुरीष और मन ये तीनों कहे गये हैं, उसी प्रकार उस प्रकरण में जिस तत्व के जो कार्य बताये गये हैं, उन्हीं को उन तत्वों के कार्य रूप को समझना चाहिये। वहाँ श्रुति में जल का कार्य मूत्र, रक्त और प्राण का तथा तेज का कार्थ हड्डी, मज्जा और वाणी को बताया है, अस्तु, इन्हें ही उन-उन तत्वों का कार्य जानना चाहिये।

मुमुक्ष् मुखेन : मुने ! तत्वों के मिश्रण से पृथक-पृथक नाम कैसे सम्भव हो सकते हैं ?

वेदव्यासजी : **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२।४।२२॥**

व्याख्या : तीनों के मिश्रण में भी एक भाग की अधिकता और शेष तत्व भागों की न्यूनता रहती है, अस्तु, जिसकी अधिकता हुई, उसी का नाम रख दिया गया है जैसे अग्नि तत्व में आधा भाग अग्नि का, शेष आधे भाग में चारों तत्व बराबर (१/८) हैं इसलिए अग्नि तत्व की अधिकता होने से, इस मिश्रित तत्व का नाम अग्नि रख दिया गया जैसे, मूंग बरी में बहुत सी अन्य वस्तुयें भी पड़ती हैं किन्तु मूंग अधिक होने से उस पदार्थ का नाम मूंग बरी रख दिया गया इस-लिये मिश्रण होने पर भी अलग-अलग नाम का विभाग होने में कोई विरोध नहीं है, इस बात की पुष्टि करने के लिये, 'तद्वादः' पद का प्रयोग दो बार किया गया है।

विशेष–उक्त प्रकरण में अन्न का कार्य मन, जल का कार्य प्राण और तेज का कार्य वाणी इसलिये कहा गया है कि अन्न पाने से मन को बल मिलता है, जल पीने से प्राण में बल आ जाता है, तेजस पदार्थ पाने से वाणी में शक्ति आती है अर्थात् अन्न, जल और तेज से क्रमशः मन, प्राण और वाणी को सहायता मिलती है अतः गौण रूप से यहां कारण-कार्य की भावना की गई है अन्यथा मन, प्राण, वाणी आदि इन्द्रियां भूतों से नहीं उत्पन्न होतीं, भूतों से ये भिन्न वस्तु हैं।

तात्पर्यार्थ : प्राण और इंद्रियों की भी उत्पत्ति परब्रह्म परमात्मा से ही होती है, अन्य भूतादि तत्वों से नहीं अतएव प्राण और इन्द्रियों को उनके उत्पादक पर-ब्रह्म परमात्मा के ज्ञान, भक्ति, तथा तदर्थ सेवा रूप कार्य रूप में लगाकर जीवात्मा को इनकी सहायता से परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति कर लेनी चाहिये, यही वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय के चौथे पाद का सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के द्वितीय अध्याय
का चतुर्थ पाद समाप्त
द्वितीय अध्याय समाप्त

श्री वेदव्यास कृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

तृतीय अध्याय का प्रथम पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब यह जीवात्मा प्राप्त शरीर से उत्क्रमण कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब वह अकेला ही जाता है या उसके साथ और कोई भी गमन करता है ?

वेदव्यासजी : तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।।३।१।१।।

व्याख्या : प्राप्त शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय जीवात्मा, शरीर के बीज रूप सूक्ष्म तत्वों से युक्त होकर प्रयाण करता है अर्थात् सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट होकर ही दूसरे शरीर में जाता है। यह वार्ता छान्दोग्योपनिषद में प्रश्न और उसके उत्तर द्वारा स्पष्ट हो जाती है। वह यह है कि श्वेतकेतु ऋषि के पिता ने स्वयं और अपने पुत्र के ज्ञान-प्राप्ति के लिये, पांचाल देश के ब्रह्मज्ञानी राजा प्रवाहण से पूछा कि आप यह निश्चय जानते हैं कि जिस प्रकार पाँचवीं आहुति में यह जल पुरुष रूप हो जाता है अतः मुझ जिज्ञासु पिता-पुत्र को इसके ज्ञान का दान करें, मुझे धनादि नहीं चाहिये। तदनन्तर राजा ने कहा, मुने ! सुनें समाहित चित्त से ...

द्युलोक रूप अग्नि में श्रद्धा की प्रथम आहुति देने से राजा सोम की उत्पत्ति होती है, पुनः मेघ रूप अग्नि में राजा सोम को हवन करना दूसरी आहुति, श्रुतियों में बताई गई है, जिससे वर्षा की उत्पत्ति कही गई है। तीसरी आहुति है, पृथ्वी रूप अग्नि में वर्षा को हवन करना, जिससे अन्न की उत्पत्ति बतायी गई है। चौथी आहुति है, पुरुष रूप अग्नि में अन्न का हवन करना, जिससे वीर्य की उत्पत्ति

बतायी गई है और पाँचवीं आहुति है, स्त्री रूप अग्नि में वीर्य का हवन करना, जिससे गर्भ की उत्पत्ति कही गई है, इस प्रकार यह जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञा से युक्त होता है इत्यादि छान्दो० उप० (५।३।१) से (५।९।२) तक। इस प्रकार जल के नाम से, बीज रूपेण सर्व तत्व वर्ग व सूक्ष्म शरीर के सहित वीर्य में स्थित जीवात्मा को कहा गया है इसलिये इस प्रश्नोत्तर से यही सिद्ध होता है कि जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तब बीज रूप में स्थित समस्त तत्वों के साथ जाता है जैसे, प्रवास में जाने वाला पुरुष जीवन निर्वाहोपयोगी अन्न, वस्त्र, पदत्राण, दंड आदि वस्तुयें तथा स्वाध्यायोपयोगी ग्रन्थ, माला, चन्दन व अग्नि के सहित अग्नि होत्रादिक सामग्रियों को लेकर ही गृह छोड़ता है वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! उक्त वर्णन में केवल जल को ही पुरुष हो जाना कहा है इसलिये जीवात्मा के साथ सभी तत्वों का साथ जाना कैसे संभव होगा? बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥३।१।२॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।३।३) के अनुसार तीनों तत्वों के समिश्रण से ही नाम रूपात्मक शरीर की रचना हुई है अतः जल के कहने से सबका ग्रहण मानना चाहिये। वास्तव में तो केवल तीन तत्वों का समिश्रण कहना उपलक्षण मात्र है क्योंकि पाँचों तत्वों का प्रत्यक्ष सम्मेलन शरीर में देखा जाता है इसलिये वायु, तेज, जल के साथ आकाश और पृथ्वी का ग्रहण समझ लेना चाहिये। वीर्य में यद्यपि सूक्ष्म रूप से सभी तत्व हैं तथापि जल की अधिकता होने से उसको जल रूप कहा गया है तथा प्राण में स्थित होकर, जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रयाण करता है, इससे जल को ही पुरुष रूप होना कहा गया है क्योंकि प्राण को आपोमय (जलमय) कहा गया है इसलिये यही सिद्ध होता है कि सभी सूक्ष्म तत्वों के साथ जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है जैसे, यह कहा जाय कि मिट्टी कलश के रूप में परिवर्तित हो गई, विचार करें कि यहाँ मिट्टी की अधिकता होने से ही यह कहा जाना संगत है कि मिट्टी कलश बन गई अन्यथा शेष चार तत्वों को भी मिलाये बिना कलश बन ही नहीं सकता, वास्तविकता तो यह है कि मिट्टी में ही स्वाभाविक शेष चारों तत्व न्यून रूप में

स्थित हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रकारान्तर से उक्त विषय की पुष्टि करने की कृपा हो, मुने !

वेदव्यासजी : **प्राणगतेश्च ॥३।१।३॥**

व्याख्या : जीवात्मा जब एक शरीर से उत्क्रमण कर, दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब उसके साथ प्राणों का भी गमन होता है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि सभी सूक्ष्म तत्वों के साथ जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। प्रश्नोपनिषद (३।१) से लेकर (३।१०) तक उक्त विषय का प्रतिपादन पिप्पलाद ने आश्वलायन मुनि से किया है। बताया है कि उदान वायु के निकल जाने पर शरीर अतिशीतल हो जाता है, उस समय जीवात्मा, मन में विलीन हुई इन्द्रियों को लेकर, प्राण में स्थित हो जाता है और प्राण के उत्क्रमण करते ही, उसी के साथ वह भी शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। वह प्राण, उदान के सहित जीवात्मा को उसकी श्रद्धा (संकल्प) के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में ले जाता है, अस्तु, इस वर्णन से उक्त सिद्धान्त की संपुष्टि सिद्ध है जैसे, कोई मिलनसार पुरुष किसी पर्व पर, अपनी श्रद्धा के अनुसार ग्राम के घर-घर में लोगों से मिलने के लिये प्रवेश करता है और एक घर का मान-सम्मान ग्रहण कर, दूसरे गृह में अपने साथ अपनी कहलाने वाली सामग्रियों को लिये हुये प्रवेश करता है, वैसे ही उक्त विषय को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! बृह० उप० (३।२।१३) में आर्तभाग और याज्ञवल्क्य के संवाद में यह आता है कि मरण काल में वाणी, अग्नि में विलीन हो जाती है, प्राण, वायु में विलीन हो जाते हैं इत्यादि सर्व कार्य अपने कारण में यहीं विलीन हो जाते हैं इसलिये यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा, दूसरे तत्वों को साथ लेकर, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है।

वेदव्यासजी : **अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥३।१।४॥**

व्याख्या : उक्त प्रकार की शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त उपनिषद

में आर्तभाग ने इसी शंका को लेकर प्रश्न किया था, जिसे याज्ञवल्क्य जी ने स्वीकार नहीं किया अपितु सभा से उठकर, एकान्त में पंच आहुतियों वाली वार्ता बताकर शंका का समाधान किया था। इससे प्रश्न परक होने से वह श्रुति गौण है, सिद्धान्त परक नहीं जैसे कोई कहे कि परदेश जाने वाले व्यक्ति का गृह, पुत्र, कलत्र, सम्पत्ति आदि वस्तुयें जब स्वदेश में रह जाती हैं, तब इनका उस पुरुष के साथ जाना सर्वथा असंभव है, यह कहना विचार करने पर गलत है क्योंकि ये वस्तुयें उसके चित्त, मन बुद्धि और प्राण के साथ सूक्ष्म रूप से न रहतीं तो उसे अपने गृहादि की स्मृति ही न रहती अतः उसका पुनः लौटकर घर आना संभव न होगा, परन्तु लौटकर पुनः गृह में आता है, इससे सिद्ध है कि गृहादि वस्तुयें उसके साथ सूक्ष्म रूप से गई थीं, इसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आपने पंच आहुतियों के क्रम से जीवात्मा का अन्य तत्वों के साथ जाना कहा है किन्तु प्रथम आहुति में जल का नाम न लेकर, श्रद्धा को हवनीय वस्तु कहा है और अन्त की पांचवी आहुति में जल, पुरुष संज्ञक हो जाता है, कहा है अतः स्पष्ट विरोध है, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥३।१।५॥

व्याख्या : उक्त शंका का स्थान नहीं है क्योंकि पूर्वापर की संगति बैठाने से यही सिद्ध होता है कि श्रद्धा के नाम से, उस जल का ही कथन है, जिसको पांचवीं आहुति में पुरुष संज्ञक हो जाना कहा है। विचार करें, जीवात्मा की गति उसके सूक्ष्मतम संकल्पानुसार ही होती है और वह प्राण के द्वारा ही कही गई है। श्रुति में प्राण को जलमय बताया गया है, अतः संकल्प के अनुसार जो सूक्ष्म तत्वों का समुदाय प्राण में स्थित रहता है, उन्हीं के साथ जीव का युक्त होकर जाना कहा गया है। यहाँ पर अंतिम संकल्प को ही श्रद्धा के नाम से कहा है जो सभी सूक्ष्म तत्वों से युक्त होता है जैसे, मन अंतिम समय (अवस्था) में गृहासक्त है तो यही उसका संकल्प है और इसी को श्रद्धा भी कहते हैं। भगवान ने गीता में कहा है, "जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही उसके स्वरूप का निर्माण होता है (श्रद्धामयोऽयं पुरुषः)" और यह भी कहा है कि जीव शरीर छोड़ते समय जिस भाव का स्मरण करता है, वह उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है

कि संकल्प, श्रद्धा और भाव एक ही अर्थ के द्योतक हैं। गृहासक्त जीव की यह आसक्ति ही उस की श्रद्धा है, उसके अनुसार शरीर छोड़कर, गृह ही में कुत्ता या बैल के शरीर में, प्रवेश करने के पहले सभी सूक्ष्म तत्व उसके श्रद्धा में रहे होंगे, यह सिद्ध होता है, तभी तो स्थूल रूप से सभी तत्वों का समुदाय प्राप्त हुआ, अब सोचा जाय कि जब सब तत्व श्रद्धा में रहे तो जल भी रहा होगा किन्तु श्रद्धा को केवल जल ही के अर्थ में क्यों लिया जाता है ? वह इसलिये कि यही श्रद्धा, वीर्य का प्रथम रूप है जिसमें जल तत्व अधिक होता है, साथ ही प्राण जलमय है और उसमें स्थित होकर श्रद्धा के जाने से जल की अधिकता उसमें हो गई अतः जो जल पुरुष संज्ञक हो जाता है, उसी जल को यहाँ श्रद्धा के नाम से कहने में कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त प्रकरण में ऐसा नहीं कहा गया है कि जीवात्मा अपने साथ सूक्ष्म तत्वों को ले जाता है, अस्तु, यह वार्ता विरोध परक जान पड़ती है, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥३।१।६॥**

व्याख्या : उक्त शंका करना, प्रकरण को न देखने और न समझने का प्रमाण है। भाई उसी प्रकरण में आगे चलकर बताया गया है कि जो पुण्यकर्मानुष्ठानी जीव होते हैं वे पुण्य लोकों (उत्तम योनियों) को प्राप्त करते हैं और जो पाप कर्मा होते हैं, वे तमसा छन्न पाप योनियों को प्राप्त करते हैं इसलिये छान्दो० उप० (५।१०।७) के इस वर्णन के अनुसार भले-बुरे कर्मों के कर्ता जीवात्मा का एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना सभी सूक्ष्म तत्वों के साथ सिद्ध होता है जैसे सुकृतात्मा का सिंहासन में बैठाकर पूजन किया गया और एक दुष्कृतात्मा को असह्य दंड दिया गया, अब विचार करें कि स्थूल रूप से नहीं किन्तु सूक्ष्म रूप से सुकृत और दुष्कृत उनके साथ अवश्य हैं तथा तदनुसार सुख या दुख भोगने के लिये सभी भूतादि सूक्ष्म तत्वों का समावेश, उन जीवों के साथ रहना आवश्यक होगा, इसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को समझना चाहिये, उसमें कोई पूर्वापर विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसी प्रकरण में पुण्य शील पुरुषों का धूम्र मार्ग से

स्वर्ग जाना कहा है तत्पश्चात् उन्हें देवताओं का अन्न कहा है, अतः यह विरोधाभास कैसे ? जो स्वर्ग सुख भोगने गया है, वह देवताओं का खाद्य पदार्थ बन जाने से सुख का अनुभव कैसे कर सकेगा ?

वेदव्यासजी : **भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥३।१।७॥**

व्याख्या : सकामी, स्वर्ग सुख को पुरुषार्थ मानने वाले पुण्य कर्मा पुरुष, आत्मज्ञान के अनुभव से सदा रहित होते हैं इसलिये आत्मज्ञान की महान महिमा समझाने, तथा सकामियों की हीनता दर्शाने के लिये, उक्त प्रकरण में उनको गौण रूप से देवताओं का अन्न कहा है अर्थात् देवताओं की खाद्य वस्तु कहा गया है; यथार्थ बात तो यह है कि देवता—न कुछ खाते हैं और न कुछ पीते हैं, वे अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। छान्दो० उप० (३।६।१) की श्रुति में यही बताया गया है, अस्तु, इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे, राजा के कर्मचारी नौकर, राजा के भोग्य होते हैं, वैसे ही पुण्यकर्मी सकामी पुरुष देवताओं के भोग्य अर्थात् सेवक होते हैं। इसका प्रमाण बृह० उप० (१।४।१०) में भी द्रष्टव्य है, वहाँ कहा गया है कि 'जो परब्रह्म परमेश्वर को छोड़कर, अन्य देवताओं की उपासना में निरत रहता है, वह देवताओं का पशु वैसे ही होता है जैसे, लोक में लोगों के घरों में पशु होते हैं, इसलिये आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिये उक्त कथन अनुचित नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वर्ग में पुण्यशील सुख नहीं भोगते हैं वे देवताओं के समान ही अप्रमेय स्वर्ग-सुख का उपभोग करते है। बृह० उप० (४।३।३३) तथा गीता में पुण्य कर्मा पुरुष को स्वर्ग के विशाल सुख भोगने की वार्ता बताई गई है, अस्तु, यह कथन गौण है। लोक में देखा जाता है कि किसी शौकीन रईस घर के कुत्ते भी पूर्व संस्कार के द्वारा मालिक की तरह दूध पीते हैं, भोजन करते हैं, गद्दे में सोते हैं और यान में चढ़कर यात्रा करते हैं, ऐसे ही आत्मज्ञान विहीन सकामी पुण्य पुरुषों का स्वर्गानन्द है। पुण्यक्षीण होने पर वे पुनः मृत्युलोक लौट आते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त प्रकरण में यह बताया गया है कि पुण्य फल भोगकर अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर, वह पुण्य कर्मा पुरुष पुनः मृत्यु-लोक लौटकर आ जाता है, अस्तु, जिज्ञासा है कि उस जीव के पुण्य सर्वथा समाप्त हो जाते हैं कि कुछ उसके साथ लौटने के समय भी रहते हैं ?

वेदव्यासजी : **कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥३।१।८॥**

व्याख्या : पुण्यकर्म निष्ठ जीवात्मा अपने क्रियमाण पुण्य कर्मों का फल स्वर्ग में भोगने के पश्चात् अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर भी अपने किये हुये कर्मों के पवित्र संस्कारों को साथ में लिये हुये पुनः स्वर्ग जाने वाले मार्ग से व अन्य मार्ग से मृत्यु लोक लौट आता है फिर भी उसके संचित कर्म शेष रहते ही हैं जैसे, कोई वैज्ञानिक विद्वान अपनी विद्वत्ता के प्रमाण पत्र के अनुसार विदेश जाकर, वहाँ के राजा की ओर से विद्याध्ययन कार्य, विद्यार्थियों को कराने लगा, बड़ी सुख सुविधा वहाँ उसे मिली किन्तु वृद्ध होने के कारण, वहाँ से अवकाश पाकर अपने देश लौट आया। विचार करें कि वह व्यक्ति अपने पढ़ाई का फल तो प्राप्त कर लिया विदेश में; परन्तु लौटने पर भी उस विद्या के संस्कार, उसके मन-बुद्धि का साथ नहीं छोड़ें, वैसे ही स्वर्गस्थ जीवात्मा स्वर्ग-सुख भोगकर जब मृत्युलोक को लौटता है तब उसके साथ बचे हुये पुण्य कर्मों के संस्कार भी आते हैं इसलिये वह जीव पुनः मृत्यु लोक आकर पूर्व संस्कारों के आधीन होकर पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने लगता है। छान्दो० उप० (५।१०।७) तथा गौतम स्मृति (११।१) में यही सिद्धान्त बताया है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! छान्दों० उप० (५।१०।७) की श्रुति में 'रमणीय चरणा' शब्द से चरण का बोध होता है, कर्म संस्कारों का नहीं इसलिये यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा स्वर्ग से लौटते समय अपने कर्म संस्कारों के साथ आता है।

वेदव्यासजी : **चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥३।१।९॥**

व्याख्या : भाई ! 'रमणीय चरणा' जो छान्दों० उप० (५।१०।७) की श्रुति में शब्द आया है, वह चरण का बोधक नहीं है अपितु 'अच्छे आचरण निष्ठ पुरुष' अर्थ होता है उसका इसलिये 'रमणीय चरणा' शब्द अनुशय अर्थात् शेष कर्म संस्कारों का उपलक्षण कराने के लिये है जिससे यह सूचित होता है कि स्वर्ग सुख भोगने के पश्चात् शेष कर्म संस्कारों के साथ जीवात्मा मृत्यु लोक लौटता है, यह कार्ष्णाजिनि नामक आचार्य कहते हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी कहते हैं कि 'चरण' शब्द को बिना हेतु के

कर्म संस्कार का उपलक्षण कहना उचित नहीं है।

वेदव्यासजी : **आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥३।१।१०॥**

व्याख्या : उपर्युक्त कथन सर्वथा उचित है अपितु पूर्वपक्षी की शंका अनुचित है क्योंकि कर्म संस्कार (अनुशय) पूर्वकृत शुभाशुभ आचरणों द्वारा ही बनता है इसलिये कर्माशय निर्माण के लिये आचरण अपेक्षित है अतः चरण शब्द निरर्थक नहीं है जैसे शिशु मां का दूध पीकर सुख से जीता है किन्तु जीवन भर दूध मिलना कठिन है, जानकर अन्न प्राशन कराया जाता है परन्तु इस देह में अन्नमय संस्कार उसके आमाशय में न होने से वह अन्न थूक देता है, रोता है परन्तु माता उसके जीवनार्थ अन्न पवाना नहीं बन्द करती अतः अन्न पाना रूप आचरण बालक से नित्य होने लगता है, फलतः इस अभ्यास से उसका आमाशय अन्न पाने के स्वभाव (संस्कार) का बन जाता है तथा दूध न पाने के अभ्यास से, मां का दूध पीना घृणास्पद हो जाता है, अस्तु, कर्माशय के लिये आचरण अपेक्षित है।

मुमुक्षु मुखेन : इस विषय में कोई अन्य आचार्य का भी मत है क्या ?

वेदव्यासजी : **सुकृत दुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥३।१।११॥**

व्याख्या : आचार्य बादरि का कथन है कि यहाँ उपलक्षण मानना निरावश्यक है, उपलक्षण तो तब माना जाता है, जब प्रत्यक्ष और स्पष्ट सही-सही सिद्धान्त वस्तु का निरूपण न किया गया हो जैसे एक व्यक्ति ने कहा कि मुझे एक वस्तु मिली जिसमें तीन नेत्र थे, उसे मैंने अपने इष्ट को समर्पित कर दिया, ऐसा कहना नारियल का उपलक्षण है किन्तु जब यह कहा जाय कि मुझे एक नारियल मिला, उसे मैंने अपने आराध्य को चढ़ा दिया तो इसमें उपलक्षण की क्या आवश्यकता है। यह तो स्वयं सिद्ध अर्थ है। यहाँ तो 'रमणीय चरण' शब्द पुण्य कर्मों का और 'कपूय चरण' शब्द पाप कर्मों का ही (स्पष्ट रूप अर्थात बिना खींचतान के) वाचक है इसलिये इसका अर्थ ऐसा लगाना चाहिये कि जो 'रमणीय चरण' हैं वे शुभ कर्माशय वाले हैं और जो 'कपूय चरण' हैं वे अशुभ कर्माशय वाले हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा शेष कर्म संस्कारों के साथ मृत्यु-लोक को वापस आता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी इसके बाद निरुत्तर हो जाते हैं कि कोई शंका उठाते हैं ?

वेदव्यासजी : **अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥३।१।१२॥**

व्याख्या : हाँ, हाँ, पूर्व पक्षी लोगों को छिद्र की कमी नहीं होती, वे कहते हैं कि कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद (१।२) में कहा है कि जो कोई भी इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब के सब चन्द्रमा को ही प्राप्त होते हैं, इस प्रकार बिना विशेषता के सभी को चन्द्र-लोक प्राप्त करना कहा गया है जिसका अर्थ यह हुआ कि जब अशुभ कर्मा भी स्वर्ग जा सकते हैं बिना रोक-टोक के, तो शास्त्रों में इष्टापूर्व, तप, दान और यज्ञादि कर्म करने वाले ही धूम मार्ग से चन्द्रलोक जाते हैं, ऐसा बताया जाना व्यर्थ सिद्ध होता है अत: श्रुति के वाक्यों में परस्पर विरोध पड़ता है, इसका निराकरण कैसे हो सकेगा ?

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! सिद्धान्त पक्ष की ओर से इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥३।१।१३॥**

व्याख्या : वहाँ पाप कर्मा मनुष्यों की चन्द्रलोक में जाने की चर्चा नहीं है क्योंकि पुण्य कर्मफल भोगने की व्यवस्था स्वर्ग लोक में है किन्तु चन्द्रलोक में पाप कर्मा मनुष्यों को पापों के फल, भोगाने की व्यवस्था नहीं है इसलिये पापी लोगों को वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है, वहाँ चन्द्रलोक में जो जाते हैं, वह पुण्य कर्म करने वाले ही होते हैं। पापी पुरुषों को उनके पाप-कर्मों का दंड मिलने की व्यवस्था यमपुरी में है इसलिये वे यमपुर जाते हैं और वहाँ नरक यातना भोगकर पुन: अपने संस्कारों को साथ लिये हुये, मृत्यु लोक में लौटकर, आसुरी योनियों को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार उनका चढ़ाव-उतार लगा रहना, उनके कर्म के आधीन होता रहता है। श्रुतियों में भी पापियों की गति का ऐसा ही वर्णन देखने में आता है। कठोपनिषद (१।२।६) में पापियों की दुर्गति का दर्शन दृष्टव्य है इसलिये यही सिद्ध होता है कि पुण्यात्मा पुरुष, पितृयान से स्वर्ग में जाते हैं तथा पापी लोग, यमदूतों द्वारा यमपुरी में ले आये जाते हैं। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद

में, जिन सबके लिये चन्द्रलोक में जाने की चर्चा आयी है, वे सब पुण्य कर्मा ही हैं क्योंकि उसी श्रुति में चन्द्रलोक से लौटने वाले पुरुषों की कर्मानुसार गति का वर्णन किया गया है इसलिये दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है- जैसे किसी ने कहा कि 'इस गांव से जितने लड़के जाते हैं, वे सब विद्यालय को प्राप्त होते हैं' इसका अर्थ यह नहीं कि न पढ़ने वाले लड़के भी वहाँ जाते हैं क्योंकि वहाँ उनके बैठने की व्यवस्था नहीं है, उनकी व्यवस्था घर में रहकर, खेल कूद करने की व कुछ गृह कार्य करने की है अत: वे विद्यालय नहीं जाते, विद्यालय को प्राप्त होने वाले पढ़ने वाले लड़के ही होते हैं। इसी प्रकार कौषीतकि उप० के श्रुति का अर्थ वेदज्ञों को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! क्या स्मृति वाक्यों से भी उक्त वार्ता की पुष्टि हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **स्मरन्ति च ॥३।१।१४॥**

व्याख्या : अवश्यमेव स्मृतियों में भी इस बात को दृढ़ करने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। गीता अध्याय सोलहवें के सातवें श्लोक से सोलहवें श्लोक तक भगवान कृष्ण ने आसुरी स्वभाव वाले, पापी पुरुषों के लक्षण विस्तार पूर्वक वर्णन करके अन्त में उनके कर्मफलानुसार कुम्भीपाक आदि नरकों में गिरने की बात कही है अत: इस प्रकार स्मृति के समर्थन से पाप कर्मा पुरुषों का गमन नरक लोक में अवश्य होता है, यह सिद्ध है। बहुत सी कथायें ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष नरक की अनुभूति करके पुन: किसी कारण से, अपने मृतक शरीर में आत्मा का लौट आना बताती हैं। वे पुरुष नरक का वर्णन इस युग में भी लोगों को सुनाये हैं अत: पापियों का नरक जाना अवश्य होता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से उक्त वार्ता की पुष्टि की जाय।

वेदव्यासजी : **अपि च सप्त ॥३।१।१५॥**

व्याख्या : उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त पुराणों में 'पापियों को अपने पाप कर्मों के फल भोगने के लिये प्रधान रूप से रौरव आदि नरकों की व्यवस्था यमपुरी में

की गई है, वर्णन किया गया है। इसलिये पापी पुरुषों को चन्द्रलोक में पहुँचने की सम्भावना ही नहीं है जैसे, मूर्ख-अपढ़ और अपाहिज ब्राह्मण को गुरुकुल में कुलपति होना असम्भव है। विद्वान ब्रह्मविद वरिष्ठ ब्रह्मकर्म निष्ठ ब्राह्मण ही गुरुकुल का कुलपतित्व कर सकते हैं, वैसे ही उक्त विषयक वार्ता को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! नरकों के तो चित्रगुप्त आदि अधिकारी बताये गये हैं फिर यमराज के द्वारा पापी लोग नरक में गिराये जाते हैं, यह कैसे कहा गया है?

वेदव्यासजी : **तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥३।१।१६॥**

व्याख्या : यम यातना पापियों को भोगने के लिये, जो सात प्रधान नरकों की व्यवस्था यमपुरी में है, उसके प्रधान स्वामी यमराज हैं, उनके आज्ञानुसार ही चित्रगुप्त आदि उप-अधिकारी वर्ग वहाँ का कार्य देखते हैं इसलिये उनका किया हुआ कार्य भी यमराज का ही कार्य है जैसे, लोक में एक विशाल राज्य का पूर्ण स्वामी एक राजा होता है तथा उसके राज्य कार्य संभालने के लिये मन्त्री व जनपद-अधिकारी आदि बहुत से लोग निज-निज स्थान पर नियुक्त रहते हैं परन्तु मन्त्री आदि सबकी की हुई व्यवस्था राजा की ही होती है क्योंकि ये सब राजाज्ञानुसार ही राज कार्य करने में सक्षम होते हैं; ठीक इसी प्रकार चित्रगुप्त आदि का किया हुआ कार्य, यमराज का ही कार्य होने से कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! पापी लोग यमपुरी में स्वकर्म फल भोगने के लिये जाते हैं तो कौषीतकि उप० (१।२) जो वार्ता सबको चन्द्रलोक में जाने की बतायी गई है, उसकी संगति कैसे बैठेगी ?

वेदव्यासजी : **विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥३।१।१७॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (५।१०।१) में जैसे विद्या और शुभ कर्मों के अनुष्ठान से तद्नुसार फल की प्राप्ति का प्रकरण प्रारम्भ करके देवयान और पितृयान मार्ग की चर्चा चलाई गई है, उसी प्रकार कौषीतकि उप० में भी ज्ञान और शुभ कर्मों का फल क्या होता है, उसको समझाने के प्रसङ्ग में "ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।" कहा गया है इसलिये इस मन्त्र वाक्य का अर्थ ऐसे लगाना चाहिये कि जो भी पुण्य कर्मी अधिकारी मनुष्य मृत्यु-

लोक से जाते हैं, वे ही सबके सब चन्द्रलोक को जाते हैं, पापकर्मा पुरुष नहीं। यहाँ पर पापियों का प्रकरण न होने से सर्वथा यही सिद्धान्त सत्य समझा जाता है जैसे कहा गया कि काशी में विद्वत्मण्डली की एक सभा का विशाल आयोजन हुआ, उसमें दक्षिण भारत से जो लोग गये वे सभी सभा में पहुंचकर सम्मानित हुये। इस कथन में पहले यह समझना चाहिये कि सभा विद्वानों की है, मूर्खों की नहीं। इसलिये दक्षिण भारत से आने वाले विद्वान लोग ही हैं, वे ही सबके सब सम्मानित हुये, मूर्ख लोगों का वहाँ पहुंचना असंभव है, इसी प्रकार उक्त उपनिषद वाक्य का अर्थ लगाना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कठोपनिषद कथित पापियों की यमलोक विषयक गति, क्या छान्दो० उप० में बताई गई तीसरी गति के अन्तर्गत है या उससे भिन्न चौथी गति है ?

वेदव्यासजी : न तृतीये तथोपलब्धेः ॥३।१।१८॥

व्याख्या : छान्दो० उप० (५।१०।८) में बताया गया है कि उर्ध्वलोक जाने के देवयान और पितृयान नामक दो मार्ग हैं, जो लोग इन दो मार्गों में किसी भी मार्ग से ऊपर के लोकों की यात्रा नहीं करते, वे क्षुद्र तथा बार-बार जन्मने और मरने वाले जन्तु होते हैं अर्थात् उनका मृत्यु लोक ही में रहना तीसरी गति है, जन्मों और मरो यही उनका धन्धा है। इस वर्णन से यही सिद्ध होता है कि तीसरी गति वालों का गमनागमन मृत्यु लोक छोड़कर नहीं होता, वे यहीं जन्मते और मरते हैं इसलिये इस तीसरी गति के अन्तर्गत, यम-यातना भोगने के लिये यम-लोक जानारूप गति नहीं है जैसे हिंसक पशु या कोई बिषधर काटने वाले जन्तु-प्राणियों को दुःख देने पर भी, राजा के न्यायालय व कारागार में नहीं जाते। वे यहीं एक-दूसरे से पीड़ित होकर जीते और मरते रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धिहीन मनुष्येतर पापी प्राणी यहीं नाना योनियों में जन्मते-मरते हैं। यमपुरी, तो पापी मनुष्य ही मृत्यु लोक से जाते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! तीसरी गति से भिन्न तथा अधम, यम लोक यातना वाली चौथी गति का उल्लेख कहाँ पर आया है, बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : स्मर्यतेऽपि च लोके ॥३।१।१९॥

व्याख्या : स्मृतियों में भी योमलोक यातना वाली गति का समर्थन संप्राप्त होता है तथा लोक में भी यह प्रसिद्ध वार्ता है जैसे भगवद्गीता (१४।१८) में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि सत्वगुण में स्थित मृत्यु प्राप्त मनुष्य उर्ध्वलोक को जाते हैं। (कर्मानुसार पितृयान व देवयान ही ऊपर के लोकों को प्राप्त करने के दो मार्ग हैं) राजसी जीव ही इस मृत्यु लोक में जन्मते और मरते हैं। यही छान्दो० उप० में कही हुई तीसरी गति है। तमोगुण में स्थित निन्दनीय लोग नीचे के लोकों को जाते हैं। तीसरी गति से अधम यम-यातना रूप गति, इसी जघन्य गुण वृत्ति वाले, तामसी लोगों के गति के अन्तर्गत है। गीता (१६।२०) में इसका स्पष्ट वर्णन है। पुराणों में तो जहाँ-तहाँ विस्तार पूर्वक यम-गति का वर्णन प्राप्त होता है, इसी को अधोगति कहते हैं जैसे कोई एक समर्थ वैभवशाली राजा है, उसके राज्य में जो सत्व गुण विशिष्ट राजा के अनन्य भक्त हैं, उन्हें वह राजा अपने दरबार में अपने ही समान सम्मानित कर, सदा के लिये शामिल कर लेता है, अन्यत्र आने-जाने से मुक्त कर देता है। दूसरे प्रकार के सत्वगुण विशिष्ट प्राणी वे हैं जो धनादि की कामना करते हैं, उन्हें राजा अपने किसी अन्य नगर का प्रधान कर्मचारी बना देता है, जिससे वे धन का सुख प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे रजोगुण विशिष्ट प्राणी वे हैं जो अपने पुत्र-कलत्र के मोह में आसक्त हैं, उन्हें छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते, विषय लोलुपता के कारण वे न राजा का दर्शन चाहते न अन्य नगर का निवास, उन्हें राजा उनके ग्राम में ही रहने देता है। तामसी वृत्ति वाले जो प्राणी हैं, वे सदा कुपथ पर ही चलते हैं, चोरी, जुआ, मद्यपान, परदाराभिमर्शन, हिंसा आदि करना, उनके स्वभाव में उतर आता है, अस्तु, उन्हें राजा कठिन से कठिन दंड देता है और सदा कारागार में बन्द किये रहता है। इसी प्रकार जीव की उक्त गतियों का हृदयंगम कर लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अन्य प्रमाण के द्वारा उक्त वार्ता को पुष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **दर्शनाच्च ॥३।१।२०॥**

व्याख्या : श्रुति सिद्धान्त से भी यही बात सिद्ध होती है कि उक्त प्रकरण छान्दो० उप० (५।१०।८) में बतायी हुई जीवों की तीसरी गति के अन्तर्गत, यम यातना वाली गति नहीं है अपितु भिन्न और अधम है। ईशावास्योपनिषद् (३) में कहा है (असूर्या नाम ते लोका ····) कि जो आसुरी भावों की घनता युक्त

लोक हैं, वे सबके सब तमसाछन्न हैं। अज्ञानान्धकार के फलस्वरूप असह्य क्लेशों से आच्छादित हैं, वहाँ वही जाते हैं जो अपनी आत्मा का हनन करके, पापमयी वृत्तियों से देह का पोषण करते हैं, ऐसे मनुष्य मृत्यु के बाद, उन्हीं भयंकर दुखदाई लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं, इस प्रकार श्रुतियों में नरकादि लोकों की प्राप्ति रूप गति का वर्णन प्राप्त होता है इसलिये उक्त सिद्धान्त मान्य है।

मुमुक्षु सुखेन : मुने! छान्दो० उप० (६।३।१) में जीवों की तीन श्रेणियाँ कही गई हैं। अण्डज, (अण्डे से उत्पन्न होने वाले) जीवज, (जेर से उत्पन्न होने वाले) और उभ्दिज (पृथ्वी फोड़कर निकलने वाले) किन्तु अन्यत्र चौथी श्रेणी में स्वेदज (पसीने से प्रकट होने वाले) जीवों को बताया गया है अतः यहाँ स्वेदज की गणना क्यों नहीं की गई ?

वेदव्यासजी : **तृतीय शब्दावरोधः संशोकजस्य ॥३।१।२१॥**

व्याख्या : उक्त छान्दो० उप० की श्रुति में स्वेदज जीवों का नाम इसलिये नहीं आया है कि तीसरी श्रेणी में कही हुई उभ्दिज जाति में उसका (स्वेदज का) अन्तर्भाव कर लिया गया है क्योंकि दोनों ही की उत्पत्ति पृथ्वी और जल के संयोग से होती है।

मुमुक्षु सुखेन : प्रभो! छान्दो० उप० (५।१०।५-६) में कहा गया है, स्वर्ग लोक से लौटने वाले जीव, प्रथम आकाश को प्राप्त होते हैं पुनः वायु, धूम, मेघ आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः कृपा कर यह बतायें कि जीव आकाशादि के रूप में स्वयं परिणित हो जाते हैं कि उनके समान हो जाते हैं ?

वेदव्यासजी : **तत्साभाव्या पत्तिरूपपत्तेः ॥३।१।२२॥**

व्याख्या : जीवात्मा, स्वर्ग से लौटते समय आकाशादि के रूप में परिणत नहीं हो जाता क्योंकि जीव चेतन है और आकाशादि जड़ हैं। वह आकाश में आकाश की भाँति सूक्ष्म होने से वहाँ स्थित होता है पुनः वायु में, धूम में, मेघ में, जल में, पृथ्वी में, अन्न में, वीर्य में क्रमशः सूक्ष्मतया स्थित होता हुआ, तत् तत् भाव को प्राप्त होता है जैसे तेल प्रथम बीज भाव को प्राप्त रहता है पुनः अंकुर, पुनः वृक्ष, पुनः फल इत्यादि के भाव को प्राप्त हुआ पुनः बीज समूह को कोल्हू में

डालकर पेरा जाता है, तब वह तेल के रूप में दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही जीव आकाशादि भाव को क्रमशः प्राप्त होता हुआ, अन्त में मनुष्यादि के रूप में नेत्र का विषय बनता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जीव आकाशादि के भाव में बहुत दिनों तक स्थित रहते हैं या शीघ्र क्रमशः देह-भाव को प्राप्त होकर मृत्युलोक के वासी बनते हैं ?

वेदव्यासजी : **नातिचिरेण विशेषात् ॥३।१।२३॥**

व्याख्या : उर्ध्वलोक जाने में क्रमशः कर्मफलानुसार पितृ लोकादि सुख के अनुभव अथवा वहाँ के निवासियों द्वारा, सत्कारादि ग्रहण करने में स्वर्ग पहुँचते-पहुँचते समय अधिक लग जाना संभव है किन्तु लौटते समय कर्मभोग समाप्त हो जाने के कारण, अपेक्षाकृत लौटने की गति, अविलम्ब होती है जैसे, कोई धनिक यात्री विशेष सम्पत्ति के साथ विदेश घूमने के लिये निकला, बीच-बीच के वन-पर्वत-नदी-तालाबों और छोटे-बड़े नगरों की रमणीयता का दर्शन करता हुआ, अधिक दिन में अमेरिका पहुँचा, वहाँ कुछ काल बीत जाने पर उसके पास की धनराशि समाप्त हो गई, मात्र मार्ग व्यय शेष रह गया, अस्तु, वह यात्री लौटते समय मार्ग के नगरों में बिना रुके, अविलम्ब अपने देश में आ गया, वैसे ही स्वर्ग-यात्रा करते समय, और स्वर्ग से लौटते समय की गति विषयक वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परलोक से लौटते समय जीवात्मा को धान, जौ, तिल, उड़द आदि अन्न के रूप में होना बताया गया है, उसका अभिप्राय क्या है ? वह स्वयं उन अन्नों के रूप में हो जाता है या कोई अन्य जीव उन योनियों में अपने कर्मफल को भोगता हुआ रहता है, जिसके साथ में परलोक से आने वाला जीव भी रहता है ?

वेदव्यासजी : **अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥३।१।२४॥**

व्याख्या : जिस प्रकार पूर्व सूत्र में स्वर्ग से लौटते समय जीव आकाशादि के रूप में स्वयं परिवर्तित नहीं हो जाता अपितु सूक्ष्मतया तद्भाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यहाँ धान, जौ आदि अन्न नहीं बन जाता, तद्भाव से संयुक्त होता है

और धान, जौ आदि में अपने कर्म फल भोगने के लिये पहले से ही जो जीव अन्न के रूप में स्थित हैं, उनकी सन्निधि में भाव रूप से स्थित होता है तथा उन अन्नों के साथ-साथ पुरुष के उदर में चला जाता है। स्वर्ग भोगी जीव का जन्म जौ आदि स्थावर योनि में नहीं होता जैसे दही में स्थित दही न बनकर, दही भाव को प्राप्त हुये कीड़े के परमाणु, पाने वाले के उदर में चले जाते हैं, वैसे ही परलोक से लौटते समय जीव अन्न में भावतया स्थित होते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब स्वकर्म भोगी जीव अन्न (धान-जौ) की स्थावर योनि को प्राप्त कर रहते हैं, तब उन्हें कूटकर, दलकर और पीसकर अपना आहार बनाना कितना घृणित कार्य है, निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥३।१।२५॥**

व्याख्या : अन्न को पीसकर, पकाकर उदर पूर्ति करना पाप है, यह कहना व मानना वेद विरुद्ध है क्योंकि छान्दो० उप० (६।६।२) में तथा अन्य स्थानों में भी पुरुष को अग्नि रूप कहकर, उसमें अन्न का हवन करना बताया गया है इसलिये भोजन करने वाला, 'प्राणाय स्वाहा' आदि आहुति कर्म करता है अतः वह अन्न-दोष से लिप्त नहीं होता और न हिंसा का दोष होता क्योंकि श्रुति का ऐसा ही विधान है। पके जौ आदि अन्न में जीव सुषुप्ति दशा में रहता है, उस समय सुख-दुख का ज्ञान नहीं रहता। चेतनता तो जल और पृथ्वी के संयोग से, उनमें अंकुर आ जाने पर होती है, जीव का नाश भी कभी नहीं होता तथा जड़ वर्ग, चेतन वर्ग के उपयोग के लिये ईश्वर ने रचा है इसलिये अन्न पाने में हिंसा नहीं है, यही श्रुति का नियोग है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जीव, अन्न से संयोगित होकर पुनः किस प्रकार से कर्मफल भोगानुकूल शरीर धारण करता है ?

वेदव्यासजी : **रेतः सिग्योगोऽथ ॥३।१।२६॥**

व्याख्या : अन्न-संयोग के अनन्तर जीवात्मा अन्न के साथ पुरुष के उदर में जाकर, उसके वीर्य में प्रविष्ट होता है तथा उस पुरुष से उसका संयुक्त होना रूप बनता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! तदनन्तर क्या होता है?

वेदव्यासजी : **योनेः शरीरम् ॥३।१।२७॥**

व्याख्या : जीवात्मा, पुरुष के वीर्य में प्रविष्ट होकर, पुरुष से जब संयुक्त होता है, तब उस पुरुष द्वारा गर्भाधान के अनुकूल समय में स्त्री की योनि में वीर्य के साथ प्रविष्ट करा दिया जाता है, तदोपरान्त गर्भाशय में स्थित होकर, वह जीव कर्म फलों के भोगने योग करण-कलेवर को प्राप्त करता है। यहीं से उदरस्थ जीव अपने कर्म-फलों को भोगना प्राप्त कर देता है, पुनः समय से मातृ-योनि से बाहर आकर 'मैं', 'मेरे' में आबद्ध होकर, स्वभावानुसार कर्म करने में प्रवृत्त होता है, यही कर्म परम्परा उसके आरोहावरोह का कारण बनती है, बिना ब्रह्म-प्राप्ति के संसार चक्र में भ्रमण करना इति को नहीं प्राप्त होता जैसे, कृषक व व्यापारी व भिक्षुक लोगों का लोभवश इधर-उधर, आना-जाना लगा ही रहता हैं किन्तु ईश्वर पर निर्भर रहने वाला निष्काम योगी सदा शांति की शय्या में शयन करता है, उसका आना-जाना कभी, किसी कारण से नहीं होता वैसे ही संसारी और असंसारी जीवों की गति विषयक वार्ता है।

तात्पर्यार्थ : जीवों का जन्म-मरण और मृत्यु के बाद स्वर्ग एवं नरकादि लोकों में जाना तथा वहाँ से आना रूप चक्र के आरों में अहर्निश चक्कर काटते रहना व्यापार हो गया है। सकामी सुख चाहने वाले पुण्य का अर्जन करके, मरने के अनन्तर पितृयान से स्वर्ग जाकर सुख भोगते हैं पुन. पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु-लोक में आकर जन्म लेते हैं पुनः अपने कर्मानुसार, उनका आना-जाना बना रहता है, इसी प्रकार पाप कर्मा लोग, नरक में दुख भोगते हैं। अर्थात अधोगति को प्राप्त होते हैं पुनः मनुष्येतर योनियों में (नीच कीट पतंगादि में) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वे कर्म के कोल्हू में पिसते रहते हैं, जो पुरुष निष्काम भाव से परब्रह्म परमेश्वर की उपासना करते हुये तदर्थ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और दैवी संपत्ति अर्थात् भागवद्धर्म जिनकी जीवन पद्धति होती है, ऐसे महापुरुष देवयान मार्ग से परमधाम को प्राप्त होते हैं, जहाँ से लौटकर पुनः मृत्यु लोक उनका आना नहीं होता, यही परमगति, परमपद, भगवद्धाम, मोक्ष, अमृतत्व की प्राप्ति कही जाती है, अतः साधक को चाहिये कि भागवद्धर्म अपना कर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति कर ले। यही जीव का परम पुरुषार्थ है। स्वर्गादि सुख पाने

की सकाम बुद्धि स्थूलात्मिका है । ब्रह्म प्राप्त पुरुषों के सतसंग से बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर, अनन्य प्रयोजनत्व सिद्ध कर लेना ही बुद्धि का वैशद्य है, इस प्रकार भगवत-भाव से भावित होकर, भगवान को प्राप्त कर लेना ही जीव का जीवत्व है, यही वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय के प्रथम पाद का सारतम संदेश है ।

॥ श्री वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत तृतीय अध्याय
का प्रथम पाद समाप्त ॥

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

तृतीय अध्याय का द्वितीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी कहा करते हैं कि स्वप्न में जाग्रत के समान सृष्टि कार्य हुआ करता है।

वेदव्यासजी : **संध्ये सृष्टिराह हि ।।३।२।१।।**

व्याख्या : हां, हां, पूर्व पक्षी श्रुति का प्रमाण देकर कहा करते हैं कि बृहदा० उप० (४।३।९–१०) में कहा गया है कि स्वप्न काल में यह जीवात्मा, इस लोक और परलोक को देखता है तथा वहां के दुख और आनन्द का उपभोग करता है। इस स्थूल शरीर को अचेतावस्था में पहुंचाकर, वासनामय शरीर की सृष्टि करके संसार को देखता है, उस अवस्था में कुछ न होते हुये भी रथ, रथ को वहन करने वाले वाहन तथा रथ चलने योग्य मार्ग की और आनन्दमोद-प्रमोद की एवं कुण्ड, सरोवर और नदियों की सृष्टि कर लेता है, इसी प्रकार का प्रमाण और भी प्रश्नोपनिषद (४।५) तथा बृह० उप० (२।१।१८) में प्राप्त होता है इसलिये सिद्ध होता है कि स्वप्न समय में भी जीवात्मा, विचित्र-विचित्र सांसारिक पदार्थों की सृष्टि स्वयं कर लेता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसके अतिरिक्त पूर्वपक्षी कुछ और कहते हैं ?

वेदव्यासजी : **निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।।३।२।२।।**

व्याख्या : कठोपनिषद (२।२।८) में कहा गया है कि यथाकाम अनेकानेक भोगों का निर्माण करने वाला, यह पुरुष सबके सो जाने पर स्वयं जागता रहता है तथा कठोपनिषद (१।१।२३-२४) में कहा गया है कि इसके पुत्र-पौत्रादि ही कामना के विषय है, इससे ही सिद्ध होता है कि जीव कृत सृष्टि स्वप्न में

होती है, इसलिये एक शाखा वाले, पुरुष को कामनाओं का निर्माता मानते हैं, यह पूर्व पक्षी का कथन है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सिद्धान्त पक्ष की ओर से इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**
॥३।२।३॥

व्याख्या : प्रश्नोपनिषद में स्पष्ट है कि पुरुष जाग्रत अवस्था की देखी-सुनी और अनुभूति की हुई, वस्तुओं को स्वप्न में विचित्र ढँग से देखता-सुनता और अनुभव करता है, कभी देखी सुनी हुई और न देखी सुनी हुई, अनुभव की हुई और अनुभव न की हुई का सम्मिश्रण देखता है। इन सब बातों पर विचार करने पर, यही सिद्ध होता है कि स्वप्न की सृष्टि वास्तविक नहीं है, माया मात्र है। भगवान की शक्ति व प्रेरणा से जीव को उसके कर्म संस्कार के अनुसार, कर्म-फल भोगने के लिये स्वप्न में सुख-दुख से युक्त दृश्य उपस्थित हो जाता है। सकामी पुरुष को संसार जागते में तो रहता ही है, स्वप्न में भी पिण्ड नहीं छोड़ता, जाग्रत की सृष्टि सच्ची और स्वप्न की सृष्टि पूर्णत: अभिव्यक्ति न देने वाली माया मात्र है इसलिये जीवात्मा को स्वप्न के शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ता है। स्वप्न के सृष्टि प्रकरण में श्रुति का संदेश है कि जीवात्मा स्वप्न में जिन-जिन वस्तुओं की रचना करता है वे सब वास्तविक नहीं है। स्वप्न का दृश्य सब अधूरा और अनियमित होता है इसलिये वह माया मात्र है। जैसे जगत में जागृत अवस्था ही में जादूगर का सब खेल माया मात्र होता है। दृश्य के किसी अंश में सत्य की बारीक बिन्दु भी नहीं लगी रहती। मनोरंजन करना मात्र जादूगर का प्रयोजन होता है, वैसे ही जीव, ईश्वर की शक्ति व प्रेरणा से सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ स्वयं, अपनी की हुई कला का दृश्य उपस्थित कर उसका दर्शन करता है। पूर्व पक्षी एक शाखा वाले का कथन बताकर जो यह कहते हैं कि पुरुष, पुत्र-पौत्रादि काम्य-विषयक वस्तुओं का निर्माता है, यह कहना उनका ठीक नहीं है क्योंकि वहां कठो० उप० में स्वप्न प्रकरण नहीं चल रहा है, उस मन्त्र में काम्य विषयक वस्तुओं का निर्माता जीवात्मा को नहीं कहा गया है। वहाँ वे सब विशेषण परब्रह्म परमात्मा के लिए आये हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! तो स्वप्न सब सार्थक हीन व्यर्थ होते हैं क्या ?

वेदव्यासजी : **सूचकश्च ही श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥३।२।४॥**

व्याख्या : स्वप्न सब व्यर्थ नहीं होते हैं अपितु भविष्य में होने वाली शुभाशुभ घटनाओं की सूचना देने वाले होते हैं। स्वप्न विज्ञान में अधिकार रखने विद्वान भी, इस बात का समर्थन करते हैं। एतरेय आरण्यक (३।२।४।१७) में स्वप्न विषयक कुछ फल बताये गये हैं जैसे स्वप्न में काले दांत वाले काले पुरुष को देखे तो वह मृत्यु-सूचक है, इत्यादि। श्रुति प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं होते हैं। वाल्मीकि रामायण सुन्दर काण्ड में त्रिजटा नामक राक्षसी के देखे हुये सब स्वप्नों की सत्यता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है तथा वर्तमान में भी लोगों का अनुभव है कि कुछ स्वप्न सर्वथा सत्य निकलते हैं। इससे सिद्ध है कि स्वप्न के दृश्य जीवात्मा के स्वतंत्र रचे हुए नहीं हैं, वह निमित्त मात्र हैं, सर्वथा सत्य तो यह है कि जीवात्मा को कर्मानुसार फल भोगने के लिये परमेश्वर की शक्ति व प्रेरणा से, स्वप्नावस्था में स्वप्न दृश्यों के दर्शन का विधान बनाया गया है।

मुमुक्षु मुखेन : जीवात्मा, ईश्वर का अंश है इसलिये वह ईश्वर के आंशिक गुण वैभवादि को भी रखता होगा अतः स्वप्नावस्था के दृश्यों का रचयिता, उसी को मान लें, तो इसमें क्या आपत्ति है?

वेदव्यासजी : **पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।।३।२।५।।**

व्याख्या : जीवात्मा, परमात्मा का अंश होने से निःसंन्देह तद्गुणों को धारण करने वाला उसी प्रकार है जैसे, पिता के धन का अधिकारी पुत्र होता है किन्तु जीव में, वे सब परमात्म गुण उसी प्रकार तिरोहित रहते हैं जैसे पिता के द्वारा, पुत्र की न जानकारी में, उसी के कमरे में गाड़ा हुआ, बहुमूल्य रत्नमालादि धन! इसलिये जीव, परमेश्वर के उन गुणों का उपयोग उसी प्रकार नहीं कर सकता जैसे पुत्र अपने पिता से अपने कक्ष में गाड़ी हुई धन-राशि का। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का निरन्तर सत्कार पूर्वक दीर्घकाल तक ध्यान, स्मरण और भजन, उनके आश्रय को ग्रहण कर अनन्य प्रयोजनतया प्रेम पूर्वक जीव करे तो अपने में छिपे हुये, परमात्म गुण पुनः प्रकट हो सकते हैं जैसे, पुत्र की भक्ति व सेवा से उसके निजी कक्ष में गड़ी हुई, धन-राशि पिता की कृपा व प्रसन्नता से प्रकट हो जाती है। श्वेता० उप० (१।१०) में इस तथ्य को स्पष्ट बताया गया है। परब्रह्म परमेश्वर की आराधना के बिना उन गुणों का प्रकट होना संभव नहीं है क्योंकि

यह जीवात्मा, सर्व भावेन परमात्मा के परतन्त्र हैं, अनादि सिद्ध इसका बन्धन और उससे मुक्ति पा जाना सर्व समर्थ निरंकुश स्वतन्त्र शासक परब्रह्म परमेश्वर के आधीन है, श्वेता० उप (६।१६) इसलिये वह स्वप्न-सृष्टि कार्य करने में सर्वथा असमर्थ है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जीवात्मा में ईश्वरीय गुणों का विकास क्यों नहीं होता, गुणों का तिरोहित रहना किस कारण से है ?

वेदव्यासजी : **देहयोगाद्वा सोऽपि ।।३।२।६।।**

व्याख्या : देह में, जीवात्मा का योग होने से, वह देहाभिमान से युक्त हो गया अर्थात् देह को ही अपना स्वरूप समझने लगा, इस कारण परम चेतन परमात्मा के गुण, जीवात्मा में तिरोभाव को प्राप्त हो गये अर्थात् अन्तर्भाव को प्राप्त हो गये, उनका विकास जीव में नहीं हो पाता यद्यपि परमेश्वर के स्वाभाविक गुण उसमें विद्यमान रहते हैं जैसे, कोई जीव मनुष्य-योनि से, पशु-योनि को, कर्म की विवशता से प्राप्त हुआ, जीवात्मा वही है जो मनुष्य के शरीर में था परन्तु मनुष्य के गुणों का विकास, पशु शरीर के सम्बन्ध से पशु-योनि में नहीं हो पाता, उसी प्रकार परमेश्वर का अंश होने से, जीवात्मा में परमात्म गुण स्वरूपतः विद्यमान रहते हैं तथापि शरीर के सम्बन्ध (जड़ के योग) से, वे गुण तिरोहित रहते हैं, विकसित नहीं हो पाते इसलिये शरीर के अनादि सम्बन्ध से भव बन्धन में बँधा हुआ यह ईश्वर का अंश जीवात्मा कर्म संस्कारों के अनुसार सुख-दुख, स्वर्ग-नरक का अनुभव बारम्बार किया करता है, अस्तु, परब्रह्म परमेश्वर के ध्यान, भजन, सेवा आदि से जीवात्मा को, भव बन्धन से छूटने का उपाय करना श्रेयस्कर है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवन् ! कहा जाता है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म से संयोग होता है, तो क्या समाधि की भाँति सुषुप्ति भी कोई सुखप्रद स्थिति है ?

वेदव्यासजी : **तदभावो नाड़ीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।।३।२।७।।**

व्याख्या : बृह० उप० (२।१।१९) की श्रुति में कहा गया है कि जब यह पुरुष सुषुप्ति अवस्था में लीन होता है, तब वह कुछ नहीं जानता। बहत्तर हजार

हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय केन्द्र से निकलकर समस्त शरीर में व्याप्त हो रही हैं। यह जीव उन्हीं नाड़ियों है व्याप्त होकर, शयन सुख की अनुभूति करता है। इसी प्रकार छान्दो० उप० (८।६।३) में कहा गया है कि नाड़ियों में व्याप्त होकर, यह जीव जब सुख से सो जाता है तब न वह स्वप्न देखता और न कोई पाप इसका स्पर्श कर सकते तथा छान्दो० उप० (६।८।१) में ऐसा भी कहा है कि 'सुषुप्ति के समय यह पुरुष सत से संयुक्त होता है।' बृह० उप० (४।३।२१) में कहा गया है कि सुषुप्ति काल में यह जीवात्मा, परमात्मा के स्पर्श को प्राप्त करता है, न तो वह बाहर की किसी वस्तु को जानता और न भीतर की किसी वस्तु का ज्ञान ही रखता है, इत्यादि वर्णनों पर विचार करने से, उनकी अविरोध संगति इस प्रकार बैठती है कि नाड़ियों का मूल स्थान और जीवात्मा तथा परब्रह्म परमेश्वर का निवास स्थान पुरुष का हृदय है। उसी स्थान में सुषुप्ति समय जीवात्मा शयन करता है इसलिये उसकी स्थिति हृदयस्थ नाड़ियों में और परमात्मा में बताने से कोई विरोध प्रदा असंगति नहीं होगी। एक हृदय को लेकर ही कहीं जीव को ब्रह्म की प्राप्त और कहीं प्रलय की भाँति जीव का ब्रह्म से संयुक्त होना कहा गया है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि सुषुप्ति अवस्था, समाधि की भाँति नहीं होती है। समाधि तो मुक्ति की सहायिका है किन्तु वह इसके विपरीत है, बहुत सोने से वह मुक्ति की विरोधिका है। यह तो महान तामसी एक वृत्ति है जो अज्ञानमयी है इसलिये भगवान ने गीता में युक्त आहार-विहार, शयन करने की आज्ञा दी है जिससे शरीर रक्षा और परमात्मा-प्राप्ति के साधन शरीर से होते रहें।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! सुषुप्ति काल में जीवात्मा की स्थिति परमात्मा के साथ हृदय देश में कही गई है, उसकी पुष्टि अन्य प्रकार से करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥३।२।८॥**

व्याख्या : जो वस्तु जहाँ विलीन होती है, वह वस्तु वहाँ से ही प्रकट होती है तदनुसार सुषुप्ति के अंत में जब जीवात्मा, प्रबुद्ध होता है तब वह परमात्मा के निवास स्थान हृदय से ही जाग्रत होता है, इसलिये उसके लय होने का स्थान भी वही है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है जैसे, कोई मनुष्य जहाँ जिस कक्ष में सोता है वह वहाँ उसी कक्ष से जागता भी है अतः यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि जागने और सोने का स्थान एक ही होता है। चावल जिस बर्तन से निकाला जाता

है, उसी बर्तन में प्रथम वह भरा भी जाता है इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवात्मा, सुषुप्ति काल में परमात्मा के साथ हृदय देश में ही स्थित होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सुषुप्ति में विलीन हुआ जीव जागने पर वहाँ से कहीं अन्यत्र चला जाता है कि वह वहीं रहता है या उसके स्थान पर शरीर के किसी अंग में पड़ा हुआ कोई अन्य जीव जागता है ?

वेदव्यासजी : **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।।३।२।९।।**

व्याख्या : निःसन्देह वही जागता है जो सोता है अर्थात् सोने वाला जीवात्मा ही प्रबुद्ध होता है क्योंकि जिस कर्म को छोड़ करके व पूरा करके जीव सोता है, उसका जागने पर विचार करता है कि इतना काम शेष रह गया था, उसको आज पूरा कर लूँ, अगर दूसरा जागता तो वह पूर्व काम को अपना छोड़ा हुआ न मानता तथा जागने पर यह स्मृति भी बनी रहती है उसे कि आज मैं अच्छा सोया सन्ध्या को मैंने भोजन भी नहीं किया था, कल के आये हुये मेहमान भी अभी हैं, इत्यादि बातों की स्मृति दूसरे को होना संभव नहीं है। बृह० उप (४।३।१६) तथा अन्य श्रुतियों में भी, जो सोता है, उसी के जागने की चर्चा की गई है। प्रातः उठकर ब्रह्म चिन्तन, शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, यज्ञ, स्वाध्याय, गुरुजन नमस्कारादि कर्म करने की आज्ञा जो वेदों में दी गई है, उसकी सफलता सोने वाले के जागने पर ही सिद्ध होगी, इत्यादि कारणों से स्पष्ट जाना जाता है कि जो जीवात्मा सुषुप्ति काल में, परमात्मा से हृदय देश में संयुक्त होता है, वही जागता है जैसे जो लड़के रात्रि को अपनी मां के साथ सोते हैं, उन्हीं लड़कों को उनकी मां सबेरे जगाकर नहला-धुलाकर और भोजन कराकर पढ़ने के लिये पाठशाला भेजती है, अन्य को नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब मनुष्य किसी कारण वश मूर्छित होकर, अचेत हो जाता है, तब उसे बाह्याभ्यन्तर का न तो ज्ञान रहता न वह स्वप्न देखता है और न सुख-दुख का अनुभव ही करता है, अस्तु, वह कौन सी अवस्था है ?

वेदव्यास जी : **मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।।३।२।१०।।**

जन्म से मरण पर्यन्त जीवों की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन ही

अवस्थायें होती हैं। मुग्धावस्था किसी-किसी को, किसी समय, किसी कारण वश हो जाती है, सबको सब समय नहीं होती। इसके लक्षण कुछ सुषुप्ति से मिलते है इसलिये इसे अधूरी सुषुप्ति मान लेना उचित है क्योंकि सुषुप्ति जैसी सोने की सुखानुभूति इसमें नहीं होती, केवल अज्ञान मात्र से सुषुप्ति से मुग्धावस्था की समता की जा सकती है इसलिये इसे पूर्ण सुषुप्ति नहीं कह सकते और न कोई चौथी अवस्था का नाम दे सकते क्योंकि चौथी अवस्था होती ही नहीं जैसे, संसार में विषयी व, साधक और सिद्ध तीन प्रकार के पुरुष होते हैं किन्तु किसी कारण-वश व पूर्व संस्कार वश, किसी को बिना साधना के किसी महापुरुष का चरित्र पढ़ते-पढ़ते व सुनते-सुनते समाधि लग गई तो उस समय उस मनुष्य की गणना न तो विषयी में कर सकते न साधक में अपितु उसे पूर्व भ्रष्ट अधूरा सिद्ध व योगी कह सकते हैं क्योंकि सिद्ध पुरुषों की स्थिति, उसकी चर्या में नहीं हैं और न सिद्धों जैसा सुख का अनुभव ही है इसलिये वह पूर्ण सिद्ध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! जिस परमात्मा के ध्यान से जीवात्मा, कर्म-बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म-प्राप्ति कर लेता है, उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है ? श्रुतियों में कहीं उसे निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, अकर्ता बताया गया है और कहीं सर्वेश्वर, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वसाक्षी और समस्त जगत का कारण कहा है। कहीं ब्रह्म को सर्वव्यापी अंगुष्ठ कहा गया है, कहीं क्रिया शील और कहीं अक्रिय कहा है। कठो० उप० (१।३।१५) तथा (माण्डूक्योपनिषद (७) (मा० उप० ६) में देखा जा सकता है अतः उस परब्रह्म परमेश्वर के यथार्थ रूप को समझने की जिज्ञासा हो रही है, साथ ही यह भी बतलाने की कृपा हो कि परमात्मा का वास हृदय देश में होने से, वह उसके दोषों से लिप्त तो नहीं होता ?

वेदव्यासजी : न स्थानतोऽपि परस्योभयंलिङ्गं सर्वत्र हि ॥३।२।११॥

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान किसी हृदय आदि देश के सम्बन्ध से अर्थात् वहाँ रहने से भी, उसके दोष से लिप्त नहीं होते। जैसे कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिपायमान नहीं होता, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा का किसी हृदय आदि स्थान से संसर्ग हीन रहना, उसका स्वभावगत लक्षण है। सभी वेद-वाक्यों में उसको उभय लिङ्ग अर्थात् निर्विशेष, निराकार, निर्गुण और सविशेष, साकार सगुण (दिव्य विलक्षण गुणवाला) इत्यादि कहा हैं जैसे कठो-

पनिषद (१।२।२०) में (अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम) बताया गया है कि इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुहा में रहने वाला, परब्रह्म परमात्मा अणु से भी अणु और महान से भी महानहै पुनः कठो० उप० (१।२।२१), (१।३।१), (१।३।१५), (२।१।१२-१३), (२।१।११), (२।३।३) में कहा गया है कि, "वह परब्रह्म बैठा हुआ दूर गवन कर जाता है, सोता हुआ भी सब ओर की गतिवाला हो जाता है।" "वह जीव के साथ उसकी हृदय-गुफा में स्थित है।" "वह सब धर्मों से रहित है।" "वह ब्रह्म भूत और भविष्य का शासक अर्थात् काल पर भी शासन करने वाला है।" "उस परब्रह्म में नाना भेद नहीं है अर्थात् वह एक और पूर्ण है।" " उसके भय से अग्नि आदि देवता काँपते हुये, अपना-अपना कार्य तत्परता से करते हैं।" इसी प्रकार अन्य वेद-वाक्यों में जहाँ ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण कहा गया है, वहीं उसको प्राप्त प्रकरण में ही परम दिव्य विलक्षण गुणवाला अर्थात् जीव व प्रकृति से परे अपरिणामी और विलक्षण दिव्य गुणों का आश्रय कहा है। परमात्मा युगपद परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय है अर्थात् उसमें उपर्युक्त उभयात्मक स्वरूप की उपलब्धि निरुपाधिक है, निरागन्तुक है इसलिये सर्व व्यापक और सबके अन्तर्यामी होने पर भी वह किसी स्थान और किसी पदार्थ के दोषों से उसी प्रकार नहीं लिप्त होता जैसे सूर्य सर्वत्र अपनी किरणों को विखेरते हुये भी, किसी शुभाशुभ स्थान व किसी प्रकार प्राणियों के कर्म जनित दोषों से लिप्त नहीं होता। परब्रह्म परमात्मा अतर्क्य और अनिर्वचनीय हैं। मन तथा वाणी का झंझावात उसका स्पर्श करने में असमर्थ है। वह वहाँ तो पहुंचता ही नहीं अपितु किंचित दूर जाकर लौट आता है। उस ब्रह्म को एक साथ परस्पर विरोधी उभय लक्षण वाला बताकर, श्रुति ने उसकी महिमा का दर्शन कराया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! परब्रह्म परमेश्वर एक साथ सगुण और निर्गुण दोनों कैसे हो सकता है ?

वेदव्यासजी : **न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्** ॥३।२।१२॥

व्याख्या : यह शंका जो की गई है कि जहाँ सर्वगुण सम्पन्नता कही गई है, वहाँ माया विशिष्ट अपर ब्रह्म (कार्य ब्रह्म) का वर्णन है और जहाँ निर्विशेष रूप का वर्णन है, वहां परब्रह्म का प्रतिपादन है, अस्तु, उक्त प्रकार पृथक-पृथक वर्णन

होते हुये भी, दोनों वर्णन पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा के ही हैं अर्थात् परब्रह्म को उभयलिङ्गात्मक (निर्गुण-सगुण) मानना कैसे संभव हो सकता है ? भाई ! यह शंका वेद के रहस्यार्थ न जानने की द्योतिका है। अन्तर्यामि ब्राह्मण में, पृथ्वी आदि जड़ तत्वों और जीवात्मा कहलाने वाले, सर्व चेतनों का अन्तर्यामी और अमृत एक ही परब्रह्म परमात्मा को कहा गया है। बृहदा० उप० (३-७।३ से २२ तक) तथा माण्डूकोपनिषद में एक ही परब्रह्म का प्रतिपादन करते समय उसे समस्त दिव्य कल्याण गुणगणों का निलय कहा गया है तथा माण्डू० उप० (६, ७) में निर्विशेष बताया गया है। श्वेता० उप० (३।१) से लेकर (३।१७)तक के प्रत्येक श्रुति वाक्यों में, एक परब्रह्म परमेश्वर को दोनों प्रकार के लक्षणों से निरुपाधिक संयुक्त कहा है अर्थात् परस्पर विरोधी धर्मों का युग पद आश्रय पुरुषोत्तम भगवान को बताया गया है। उक्त प्रकरण में परब्रह्म से भिन्न अपर ब्रह्म का वर्णन ही नहीं है इसलिये यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमेश्वर ही निर्गुण-निराकार है और वही सगुण साकार भी है। ये दोनों प्रकार के लक्षण उसके स्वभाव जन्य निरुपाधिक उसी प्रकार हैं जैसे आकाश में अवकाश और नीलिमा, अग्नि में ताप और प्रकाश, जल में रस और शीतलत्व, वायु में स्पन्दन ओर उसके स्वभाव जन्य गुण, पृथ्वी में स्थैर्य और वसुमय का होना सहज और निरागन्तुक निरुपाधिक हैं, अस्तु, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में निर्गुण और सगुण की एक साथ संगति, किसी उपाधि के कारण या कारण-कार्य भेद से नहीं है, यही जान लेना उक्त श्रुति वाक्यों के रहस्यार्थ को जान लेना है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! किसी अन्य श्रुति के द्वारा उक्त वार्ता को दृढ़ करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अपि चैवमेके ॥३।२।१३॥**

व्याख्या : तैत्त० उप० (२।१) में परब्रह्म परमात्मा को सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर, उसी से समष्टि-सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है तथा तैत्त० उप० (२।७) में परब्रह्म को रस स्वरूप और अपनी रसवत्ता से सबको आनन्द युक्त करने वाला कहा है पुनः परमेश्वर की निर्विशेषता बताकर उसमें स्थित लाभ लेने वाले, साधकों का निर्भयपद में स्थित होना बताया गया है पुनः वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु को परमात्मा के भय से अपने-अपने कार्य में निरत रहना कहा है,

तैत्त० उप० (२।८)। इस प्रकार तैत्तरीय शाखा के मन्त्रों द्वारा एक ही परब्रह्म के दोनों प्रकार के लक्षणों का वर्णन होने से, एक ही परमात्मा के निर्गुण और सगुण रूप स्वयं सिद्ध होते हैं, जिस परमात्मा के संकल्प से आम, सेब, मुनक्का आदि फलों में एक ही साथ खट्टा और मीठापना आया है, जिसने अपनी इच्छा से स्वप्नावस्था में, जाग्रत और सुषुप्ति दोनों की स्थिति एक साथ बनाई है तथा जिस परमेश्वर ने, संध्या समय में एक साथ दिन और रात दोनों का होना, सबके नेत्रों का विषय बनाया है, जो एक साथ एक ही देह में मनुष्य और सिंह का स्वरूप लिये हुये, खम्भे से प्रकट हो गया, वह अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ परब्रह्म परमात्मा, एक साथ निर्गुण और सगुण विशेषण से युक्त रहे, तो कौन आश्चर्य है। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्रभुता, बिना उनकी कृपा से समझ में नहीं आ सकती अतएव बुद्धिमान पुरुष को कुतर्कों की पत्थर-माला पहनकर हृदय को पीड़ित नहीं करना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपर्युक्त वार्ता को सिद्ध करने के लिये, कोई दूसरा प्रमाण भी हो सकता है ?

वेदव्यासजी : अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥३।२।१४॥

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा का अरूप, अनाम, निर्गुण, निराकार तथा निर्विशेष बताने वाले, वेद वाक्य जिस प्रकार प्रधान हैं, ठीक उसी प्रकार उसे सरूप, सनाम, सगुण, साकार और सविशेष बतलाने वाले वेद वाक्य भी प्रधान हैं। उन निर्गुण और सगुण दोनों परब्रह्म परमेश्वर के विशेषणों में किसी को मुख्य और किसी को गौण नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक ही प्रकरण और एक ही मन्त्र में, एक ही परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए, उसे 'निर्गुण और और अनन्त दिव्य गुणों से सम्पन्न सगुण' इन दो लक्षणों वाला बताया गया है। श्वेता० उप (६।११) और अन्य स्थानों में श्रुतियों के वाक्य, उक्त वार्ता के प्रमाण में देखे जा सकते हैं इसलिये रूप रहित, निर्विशेष लक्षणों की भाँति सगुण, साकार रूप की भी, प्रधानता होने से यही तथ्य निकलता है कि परब्रह्म परमात्मा युगपद दो लक्षणों वाला निरूपाधिक है जैसे, कामधेनु में पशुत्व और देवत्व परस्पर विरोधी दोनों भाव निरूपाधिक पाये जाते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अन्य दृष्टान्त के द्वारा उक्त वार्ता को पुष्ट करें ?

वेदव्यासजी : प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥३।२।१५॥

व्याख्या : जिस प्रकार अग्नि, विद्युत आदि ज्योतियों के दो रूप होते हैं एक प्रकट, दूसरा अप्रकट। उन दोनों में कोई भी व्यर्थ नहीं हैं, इसी प्रकार वेद वर्णित परब्रह्म परमात्मा के दोनों लक्षण उपादेय हैं तथा दोनों एक साथ विशेष्य ब्रह्म के विशेषण बने रहते हैं। दोनों की उपासना करने के लिये दोनों की सार्थकता है। श्रुति स्वयं सत्य प्रमाणस्वरूपा है इसलिये उसके वाक्यों की सत्यता सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है अतः श्रुति प्रमाण से परब्रह्म परमात्मा को एक साथ निर्गुण और सगुण मानना ही आस्तिकता का यथार्थ प्रमाण है जैसे कोई सिद्ध ज्ञानी योगी अपने को कर्तृत्व भाव से रहित कर, ज्ञान दृष्टया निष्क्रियता की सही स्थिति प्राप्त कर लिया हो किन्तु कभी-कभी शरीर रक्षा के लिये ईश्वर के विधान से, अहं हीन उसके शरीर से स्वाभाविक शौच, स्नान, भोजनादि कर्मों का होना भी देखा जाता है अतः उसके अहं हीन स्वरूप में निष्क्रिय और सक्रिय स्वरूप और सहज है और वह इन विशेषणों से पृथक भी है अर्थात् निष्क्रिय और सक्रिय के अभिमान से अछूता है, उसे न करने और करने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के सत्य स्वरूप में निर्गुण और सगुण नामक दोनों लक्षण एक साथ विद्यमान है, इस कारण से उसे निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों से संयुक्त वेद बतलाते हैं किन्तु वह इनसे आसक्त नहीं कि मैं ऐसा ही हूं, वह इनसे परे भी है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! क्या कोई श्रुति वाक्यों से उक्त वार्ता का विरोध है ?

वेदव्यासजी : आह च तन्मात्रम् ॥३।२।१६॥

व्याख्या : हाँ, हाँ ! तैत्त० उप० (२/१) की श्रुति परब्रह्म परमात्मा को केवल 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त स्वरूप मात्र है, बतललाती है। सत्य संकल्पत्व आदि दिव्य गुणों का नाम नहीं लेती अतः उसे दोनों लक्षणों से युक्त मानना असंगत सा प्रतीत होता है, ऐसी शंका, शंकालु हृदय वाले किया करते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : इसका उत्तर क्या है, मुने ?

वेदव्यासजी : दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥३।२।१७।

व्याख्या : भाई ! ऐसी बात नहीं है, की हुई शंका व्यर्थ है। तैत्त० उप० (२।१) के पूर्वोक्त मन्त्र में सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर परमात्मा के निर्विशेष स्वरूप का संकेत किया गया है किन्तु आगे चलकर, इसी मन्त्र में परमात्मा को सभी प्राणियों के हृदय में निहित कहा है पुनः (२।७,८) में रस स्वरूप, सबको आनन्द देने वाला तथा सबका संचालक कहा है इसलिये उस श्रुति को केवल निर्गुण परक कहने का अर्थ, आगे देखकर पैर न रखना है जो पतन का हेतु मात्र है, इसी प्रकार स्मृति में भी स्थान-स्थान पर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप का वर्णन उभयात्मक प्राप्त होता है। गीता (१०।३), (५।२९), (११।५४), (१५।१७) तथा (१५।१९) में भगवान कृष्ण ने सगुण स्वरूप का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है, इसके अतिरिक्त अन्य स्मृतियों, पुराणों और इतिहासों में सगुण स्वरूप के वर्णन का बाहुल्य हैं और उसे वास्तविक और निरुपाधिक बताया गया है। इसी तरह सबमें निर्विशेष निर्गुण स्वरूप का भी वर्णन प्राप्त होता है।

इससे यही सर्वभावेन सत्य की सिद्धि होती है कि परब्रह्म परमात्मा में, एक साथ निर्गुणत्व और सगुणत्व निरुपाधिक और निरागन्तुक है। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि परब्रह्म क्या है ? कहाँ है ? किसका है ? क्या करता है ? कब रहता है ? उत्तर देने वाले व्यक्ति ने कहा, पहले तुम बताओ, परब्रह्म क्या नहीं है ? कहाँ नहीं है ? किसका नहीं है ? और क्या नहीं करता ? और कब नहीं रहता ? इसलिये वेद, वेद-विद और वेद-वेद्य की वाणी को निःसन्देह प्रत्यक्ष की भाँति मान कर, उसमें प्रीति प्रतीति कर, सुरीति के साथ जीवन चर्या बनाने से ही प्राप्य वस्तु की प्राप्ति संभव है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! परमेश्वर का सगुण स्वरूप निरुपाधिक है, इसमें कोई अन्य दृष्टान्त भी समझाने के लिये सहायक है क्या ?

वेदव्यासजी : अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥३।२।१८॥

व्याख्या : उस परब्रह्म परमेश्वर का उभयात्मक (निर्गुण-सगुण) स्वरूप स्वभाव सिद्ध है जैसे सूर्य और चन्द्र का प्रकाश गुण स्वाभाविक है, औपाधिक नहीं।

उसी प्रकार परमात्मा में सत्य संकल्पात्वादि अनंत दिव्य गुणों की सम्पन्नता स्वाभाविक है। ब्रह्म में स्वभाव से हेय गुणों का, नाम मात्र न होना और दिव्यातिदिव्य गुणों का आनन्त्य निरुपाधिक है इसलिये एक परब्रह्म परमात्मा में, सगुणत्व और निर्गुणत्व रूप धर्म विशेषण रूप से युगपद परमात्मा से अभिन्न होकर, उसी प्रकार रहते हैं जैसे, सूर्य में स्वाभाविक प्रकाश, सूर्य से अभिन्न होकर रहता है। सूर्य से सारा जगत जैसे प्रकाशित है, उसी प्रकार सगुण-निर्गुण रूप निरूपाधिक विशेषणों से युक्त परब्रह्म से सारा जड़ चेतनात्मक जगत बाहर-भीतर प्रकाशित है। विषय, करण, सुर, जीव ये सब ब्रह्म के निरूपाधिक निर्गुण-सगुण लक्षणों से ही उभय लक्षण वाले प्रतीत हो रहे हैं क्योंकि कारण ही गुण, कार्य में प्रतीत होते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सूर्य और चन्द्र की उपमा से यह भ्रम होता है कि जैसे इनका प्रतिबिम्ब प्रत्येक जलाशयों में पड़ता हुआ मिथ्या ही तो है, वैसे ही प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित परमात्मा का कहा जाना, चन्द्र प्रतिबिम्ब के समान मिथ्या है क्या ?

वेदव्यासजी : अम्बुदवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।।३।२।१६।।

व्याख्या : दृष्टान्त के सब अंग ग्रहणीय नहीं होते जैसे 'चन्द्र कान्ताननं' कहा गया तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि अमुक का मुख चन्द्र के समान लांछन युक्त और घटने वाला इत्यादि दोषों से युक्त है अपितु इन सब चन्द्र के अंङ्गों को छोड़कर, चन्द्र के समान लोक प्रिय, शीतल, सुन्दर, सुखदायक, तापहर और अमृत मय के अर्थ में ग्रहण होगा तदनुसार पूर्व सूत्र में, सूर्य चन्द्र के प्रकाश के समान, परमात्मा के उभयात्मक लक्षण निरूपाधिक हैं तथा सूर्य-चन्द्र की, जल-स्थिति के समान प्रत्येक प्राणियों के हृदय-देश में ब्रह्म-स्थिति है, यह बताने के लिये उक्त उपमा दी गई है न कि चन्द्र प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या बताने के लिये, अस्तु, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये। परमात्मा का वास सबके हृदय में है। गीता (१८।६१) में (ईश्वरः सर्व भूतानां ··) कहा गया है कि ईश्वर सर्व भूतों के हृदय-देश में निवास करता है, उसी की शक्ति व प्रेरणा से सर्व भूत चेष्टा करते हैं। इससे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की भाँति ईश्वर की स्थिति नहीं है, वह सर्वत्र पूर्णतया प्रतिष्ठित है तथा सबके बाहर-भीतर स्थित होने के कारण वह अपरिछिन्न है।

दो सिद्ध संत थे, पृथक पृथक कुटिया बनाकर कालक्षेप करते थे। एक दिन एक संत ने अपने सेवकों को एक गिलास देकर कहा कि दूसरी कुटिया के संतजी के समीप तुम जाओ और गिलास देकर, उनसे कहना कि स्वामीजी ने कहा है कि इस गिलास को ब्रह्म से भरकर आप वापस लौटा दें, यह सुनकर संत ने उसी सेवक के हाथ में गिलास देकर कहा कि तुम अपने स्वामीजी से हमारा संदेश सुना देना कि वे संत कहे हैं कि प्रथम गिलास से ब्रह्म निकालकर, उसको खाली कर दें, तब हम उसको ब्रह्म से भर पायेंगे, अतः इससे सर्वथा सिद्ध है कि ब्रह्म, प्रत्येक देश-काल में परिपूर्णतया स्थित है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यह बताने की कृपा करें कि ऐसी बात है तो प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त देने की क्या आवश्यकता थी ?

वेदव्यासजी : **वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्**

।।३।२।२०।।

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा सबके हृदय देश में स्थित कहा गया है अतः यह शंका की जा सकती कि जैसा छोटाबड़ा या घटना-बढ़ना शरीर का देखा जाता होगा तदनुसार परमात्मा भी छोटा-बड़ा व घट-बढ़ जाता होगा। इस शंका को निर्मूल करने के लिये चन्द्र-प्रतिबिम्ब की उपमा दी गई कि जलाशय के छोटे-बड़े होने से तथा जल के घटने-बढ़ने से चन्द्र प्रतिबिम्ब न छोटा होता न बड़ा और न घटता है न बढ़ता। जल के प्रत्येक स्थिति में चन्द्र-प्रतिबिम्ब एक सा रहता है, जल के दोषों से लिप्त नहीं होता, तदनुसार परब्रह्म भी शरीर के सम्बन्ध से न छोटा होता न बड़ा और न घटता न बढ़ता है। अस्तु, इस विषय में दोनों का सामञ्जस्य होने से चन्द्र-प्रतिबिम्ब की उपमा देने का प्रयोजन था जैसे, कहा जाय कि इस श्याम की माता का स्वरूप गौ के समान है, यहाँ दोनों के हृदय के वात्सल्य भाव का सामञ्जस्य होने से श्याम की मां को गाय की उपमा दी गई, अन्यथा एक मनुष्य है एक पशु है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त भ्रम को दूर करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **दर्शनाच्च ।।३।२।२१।।**

व्याख्या : वेद में बहुत से दृष्टान्त ऐसे देखे जाते हैं, जिनमें परमात्मा का यथार्थ अस्तित्व प्रत्येक देश-काल में विद्यमान रहने का प्रमाण मिलता है इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा की स्थिति, प्रतिबिम्ब की भाँति आभास मात्र और अवास्तविक नहीं है। कठोपनिषद (२।२।९) में बताया गया है कि यथा एक ही अग्नि समस्त भुवनों में प्रविष्ट हुआ, नाना रूपों में उनके सदृश रूप वाला हो रहा है, उसी प्रकार सभी भूत समुदायों का अन्तरात्मा परब्रह्म परमेश्वर एक होता हुआ नाना रूपों में प्रत्येक के रूप-सादृश्य को लिये हुये दृष्टि-गोचर हो रहा है तथा उन सबके बाहर भी वैसा ही है जैसे उनके भीतर है। कठोपनिषद (२।२।१०-११) में वायु और सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा की स्थिति सभी प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति में होने पर भी, वह उनके गुण-दोषों से लिप्त नहीं होता, बताया गया है; इत्यादि श्रुति सिद्धान्तों से परमात्मा की सत्य स्थिति प्रत्येक देश-काल में सिद्ध होती है तथा उसके उभयात्मक लक्षणों का होना, उसके नित्य सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप की भाँति निरूपाधिक है। भाई ! जैसे, बेल के फल, पत्ते और छाल एक ही गन्ध से युक्त होते हैं, वैसे ही भगवान और भगवान के दिव्य कल्याणमय गुण गण तथा उनकी दिव्य देह और अलंकारादि सब चिन्मय होते हैं, इसलिये प्रभु के सगुण स्वरूप को औपाधिक मानना, श्रुति का विरोधी बनना है, वैसे ही काठ में अग्नि हैं, यह न मानने के समान भगवान के निर्गुण स्वरूप की सत्ता न स्वीकार करना, बुद्धि का शिला के समान मोटेपन की घनता प्राप्त कर लेना है अतः एक ही परमात्मा में स्वाभाविक उभय लक्षणों की स्थिति का ज्ञान हो जाना, वेदान्तियों को वेदान्त का साक्षात्कार कर लेना है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वेद ने परब्रह्म परमात्मा को उभय लक्षण बताकर पुनः नेति, नेति, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, कहा है, अस्तु, इस निषेध परक वाक्य से भेद का क्या अभिप्राय है ?

वेदव्यासजी : **प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥३।२।२२॥**

व्याख्या : बृहदारण्यकोपनिषद (२।३।१–६) में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूपों का वर्णन आया है जैसे भौतिक जगत में पृथ्वी, जल और तेज तथा इनके कार्य, मूर्त कहे गये हैं, वायु और आकाश तथा इनके कार्य, अमूर्त बताये

गये हैं। आध्यात्मिक जगत में प्राण और हृदयाकाश को अमूर्त तथा शरीर और इन्द्रिय गोलकादि को मूर्त बताया गया है। इस प्रकार विस्तार पूर्वक परब्रह्म परमात्मा के सगुण साकार और निर्गुण, निराकार रूप का वर्णन करके कहा गया है कि नेति, नेति अर्थात् इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, इससे आगे और-और परमात्मा की महिमा अनन्त है, जो वाणी के द्वारा नहीं कही जा सकती, न मन से उसका मनन किया जा सकता है। वेद कहता है कि हम ने, परमात्मा के सूक्ष्म-स्थूल, सत-असत, पर-अवर, कारण-कार्य और निर्गुण-सगुण स्वरूप का अपनी व्यवहारिक वाणी से जो वर्णन किया है, वह इतना ही है, सो नहीं, परमात्मा अनन्त है। उसकी इयत्ता को कौन कह सकता है, इसलिये वह अनिर्वचनीय कहा गया है। परमात्मा के उक्त सूक्ष्म-स्थूलादि लक्षण उसके विशेषण हैं। वह इन सबसे परे और विलक्षण भी है, जिसका वर्णन करना तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि स्वयं परमात्मा अपनी अनन्तता का अन्त नहीं पा सकता इसलिये श्रुति का निर्देश है कि परमात्मा के स्वरूप एवं महिमा का वर्णन जो किया गया है, इससे बढ़कर वर्णन (उपदेश) नहीं किया जा सकता, जो कहा जायगा, वह कहे हुये के अन्तर्गत ही होगा, अतः वेद का नेति-नेति कहना उचित ही है। गूलर वृक्ष के फल में स्थित कीड़े यह जानते हैं कि ब्रह्माण्ड इतना ही है। उन्हें यह ज्ञान नहीं कि हम जैसे फल रूपी ब्रह्माण्ड गूलर के वृक्ष में असंख्य हैं उसी प्रकार ससीम व्यक्ति, असीम का अनुभव पूर्णतया नहीं कर सकता और न अपने अल्प ज्ञान व माप से उसका ज्ञान तथा माप कर सकता जैसे, कलसी के माप से अथाह और अपार समुद्र का जल मापा नहीं जा सकता, इत्यादि बहुत से दृष्टान्त हैं इसलिये नेति शब्द का स्वतन्त्र अर्थ करके वेद का अनर्थ करना रूप दोष से बचना, विद्वानों का ध्येय होना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परमात्मा के सगुण-निर्गुण स्वरूप, अप्राकृतिक हैं तथा प्राकृत तत्वों से परे हैं, यह स्पष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **तदव्यक्तमाह हि ॥३।२।२३॥**

व्याख्या : जिस प्रकार निर्गुण निराकार रूप, मन, इन्द्रियों द्वारा उनका विषय न बनने वाला अर्थात् अव्यक्त है, उसी प्रकार परब्रह्म का सगुण स्वरूप भी अव्यक्त है, जो मन और इन्द्रियों का विषय बनने वाला नही है क्योंकि श्रुति और स्मृति में, उसे भी अव्यक्त कहा गया है। मुण्डकोपनिषद (३।१।८) में परब्रह्म

पुरुषोत्तम भगवान के सगुण स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से प्राप्त होता है कि 'यदा पश्यः पश्यते रुक्म वर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्। तदा विद्वान पुण्ये-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥' जब यह दृष्टा जीवात्मा, जगत के कर्ता, सब पर ईशन करने वाले, परम प्रकाश स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, तब उस समय पुण्य-पाप, दोनों के बीज सहित फल को सर्वभावेन प्रणष्टकर निर्मल हुआ ब्रह्मदर्शी विद्वान सर्वोत्तम समता (शान्ति) रूप सुख को प्राप्त कर लेता है। इसके पश्चात मुण्डकोपनिषद (३।१।४-७) की श्रुति में परमात्म-प्राप्ति के उपायःभूत सत्य, तप,ज्ञान आदि का कथन करके, अनेक विशेषणों द्वारा सविशेष सगुण स्वरूप का वर्णन किया गया है, अन्त में मुण्डक उप० (३।१।८) में बताया गया है कि वह परमात्मा, नेत्र, वाणी इन्द्रिय और मन का विषय नहीं बनाया जा सकता और न तप आदि कर्मों के बल से उसे प्राप्त किया जा सकता, इसी प्रकार अन्य श्रुतियों ने भी सगुण स्वरूप को, मन-इन्द्रियों से अतीत और इनका विषय न बनने वाला कहा है, इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा के निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूप प्राकृत मन, बुद्धि और इन्द्रियों से अतीत हैं। भाई ! एक सुगन्धित फूल है, उसमें सुगन्ध कहाँ से कैसे और किससे आई। जब इस प्रश्न का उत्तर देने व समझने-समझाने में बड़े-बड़े बुद्धि विशारद असमर्थ हो जाते हैं, तब सुगन्ध के रचयिता को खोजकर उसका दर्शन कर लेना, नेत्रों को असंभव है। हाँ उसकी कृपा से क्या संभव नहीं हो सकता।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! तो क्या परब्रह्म परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन किसी प्रकार संभव नहीं है ?

वेदव्यासजी : **अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥३।२।२४॥**

व्याख्या : श्रुतियों में यद्यपि ब्रह्म के सगुण-निर्गुण स्वरूप को मन और इन्द्रियों के अनुभव में न आने वाला कहा है तथापि ब्रह्म दर्शनेच्छुकों की, की हुई सम्यक् आराधना वे प्रसन्न होकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान अवश्यमेव दर्शन देते हैं, वेद और स्मृति दोनों ही, इस सत्य वार्ता का समर्थन करते है। मुण्डकोपनिषद (३।१।८) तथा श्वेता० उप० (१।३।१०), (२।१५) तथा श्रीमद्भगवत् गीता (११।५४) में प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा के दर्शन होने का प्रमाण बहुत पाया जाता है। इससे सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा के नाम का जप, स्मरण रूप का

ध्यान, लीला का चिन्तन अत्यन्त प्रीति, प्रतीति और सुरीति के साथ करे तो साधक को परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। चारो युग के भक्तों का स्मरण करने से, उनकी जीवन पद्धति तथा उनके उत्कट प्रेम का स्मरण आ जाता है, जिसके वश में होकर, भगवान ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। पुराण व इतिहास इस तथ्य वार्ता के साक्षी हैं। वर्तमान समय में भी ऐसे अनुरागी भक्त हैं जिन्हें परमात्मा ने अपने सगुण साकार विग्रह का अनुभव कराया है, अस्तु, अनीश्वर वादियों को यह मान जाना चाहिये कि परमेश्वर है, वह निर्गण और सगुण एक साथ है तथा प्रेमी आराधकों को वह प्रत्यक्ष अपना अनुभव कराता है जैसे कष्ट में व्यापक अग्नि का दर्शन अरणि-मन्थन के द्वारा अग्नि-प्रेमियों को हो जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब परब्रह्म परमेश्वर केवल आराधना से ही भक्तों को दर्शन देता है तब ऐसा लगता है कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्विशेष ही है, केवल भक्त के लिये सगुण होता है।

वेदव्यासजी : प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्
॥३।२।२५॥

व्याख्या : जिस प्रकार अग्नि, विद्युत आदि प्रकाश तत्व, प्रकाश और उष्णता से युक्त स्वरूपतः है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा निर्गुण और सगुण स्वरूप से निरुपाधिकतया युक्त है, जिस प्रकार अग्नि, प्रकट और अप्रकट दोनों अवस्थाओं में अपने स्वाभाविक प्रकाश तथा ताप आदि गुणों से युक्त रहता है, उसी प्रकार परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान अपने स्वाभाविक सगुण-निर्गुण रूप से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अवस्था में भी विद्यमान रहते हैं। भाई सूर्यकान्त मणि को चाहे किसी सम्पुट में रखकर, पृथ्वी में गाड़ दे अथवा किसी भव्य भवन के बीच, किसी आसन में रख दें, वह अपने प्रकाशादि गुणों से संयुक्त प्रति स्थिति में रहेगी। इस प्रकार परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं में एक रसता बनी रहती है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि उसका सहज स्वरूप स्वयं सिद्ध है, अपेक्षाकृत नहीं है जिस प्रकार प्रकट होने पर दिव्य गुणों से सम्पन्न रहता है वह, वैसे ही अनन्त दिव्य कल्याण गुण गणों से युक्त अव्यक्त अवस्था में भी रहता है जैसे अग्नि आदि प्रकट करने के लिये बताये हुये साधनों का अभ्यास आवश्यक है,

उसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूपगत, निरुपाधिक सगुण स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये उपयुक्त आराधना का अभ्यास आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि आराधना से परमात्मा सगुण नहीं होता अपितु अप्रगट अवस्था में भी निर्विशेष के साथ-साथ सविशेष सगुण साकार स्वरूप विद्यमान रहता है अर्थात् जहाँ सगुण है, वहीं निर्गुण भी है और जहाँ निर्गुण है, वहाँ ही सगुण भी है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि परब्रह्म परमात्मा युगपद विरोधी धर्मों का आश्रय है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अन्त का निष्कर्ष क्या है ?

वेदव्यासजी : **अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥३।२।२६॥**

व्याख्या : उपर्युक्त सूत्रों में बताये हुये कारणों से, यही निष्कर्ष निकलता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्तत्व, और सच्चिदानन्दत्व तथा सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्य, रक्षकत्व, सौहार्दत्व, विज्ञानमयत्व, असंगत्व, गुणग्राहकत्व, एवं क्षमा, कृपा, करुणा, शम, दमादि अनन्तानन्त दिव्य कल्याणमय गुणों का आकार है तथा श्रेय गुण स्वरूप होते हुये, गुण रहित होना, यह भी एक गुण ही है और निर्गुण रहते हुये, उसमें एक भी निकृष्ट गुण का न होना, (कल्याण गुणों की सम्पन्नता) निर्गुण ही है। श्रुतियों में ऐसे ही लक्षणों का प्रमाण प्राप्त होता है इसलिये परब्रह्म अनन्त दिव्य कल्याणमय गुणों से सम्पन्न है सिद्ध होता है।

जैसे, हिमोपल में जल रहता ही है, कोई कहे नहीं रहता, तो यह उसका अज्ञान जनित दुराग्रह है यदि कोई यह कहे कि बर्फ में तो जल रहता ही है इसलिये बर्फ जल बन जाता है किन्तु जल में बर्फ नहीं होता तो यह कहना भी अविचार मूलक है क्योंकि जल ही अति शीतलत्व के संयोग से, बर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाता है; इससे सिद्ध हुआ कि बर्फ में जल और जल में बर्फ के गुण विद्यमान हैं, ठीक इसी प्रकार निर्गुण के साथ सगुण और सगुण के साथ निर्गुण विद्यमान रहता है, अस्तु परमात्मा का स्वरूप युगपद उभयात्मक है। इन दोनों लक्षणों को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता, जो निर्गुण है, वही सगुण है और जो सगुण है, वही निर्गुण है। एक ही ब्रह्म युगपद उभय-लक्षणों से युक्त हो रहा है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परम पुरुषोत्तम भगवान की प्रकृति उनसे भिन्न है

या अभिन्न, बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥३।२।२७॥

व्याख्या : परब्रह्म परमेश्वर को कारण-कार्य के रूप में श्रुतियों के द्वारा वर्णन करने से, प्रकृति को परम पुरुष परमात्मा से अभिन्न और भिन्न दोनों प्रकार के कथनों को, सर्प के कुण्डलाकारत्व-दृष्टान्त से, सिद्धान्त को सिद्ध कर लेना चाहिये जैसे, सर्प कभी शरीर को संकुचित कर, कुण्डलाकार हो जाता है और कभी अपनी सहज साधारण अवस्था में लम्बाकार रहता है परन्तु दोनों अवस्थाओं में है, वह एक सर्प ही। साधारण अवस्था उसकी कारण भाव की प्रकाशिका है और कुण्डलाकार अवस्था कार्य भाव की। साधारण अवस्था में उसके कुण्डलाकर होने की शक्ति अप्रकट रुप में रहती है और कुण्डलाकार अवस्था में उसकी कुण्डलाकार बन जाने की शक्ति प्रकट हो जाती है। साधारण अवस्था में सर्प की कुण्डलाकार होने की शक्ति, उसके स्वरूप से अभिन्न और अप्रकट थी, परन्तु कुण्डलाकार अवस्था में, उसकी शक्ति प्रकट और भिन्न की प्रतीति सर्प की सत्यता से देने लगी। विचार करने पर यह निश्चय हो जाता है कि अप्रकट और प्रकट दोनों अवस्थाओं में, सर्प की शक्ति सर्प के स्वरूप के साथ थी इसलिये सर्प की शक्ति सर्प से अभिन्न है। इसी प्रकार से परब्रह्म परमात्मा जब एक ओर कारण भाव में स्थित रहता है, तब परा और अपरा नामक उसकी शक्तियाँ, उसके स्वरूप में विद्यमान रहते हुये भी, अप्रकट रहती हैं और जब वह कार्य भाव (जगत भाव) को प्राप्त होता है तब उसकी परा और अपरा दोनों शक्तियों का भिन्न नाम रूपात्मक प्राकट्य रूप, उसकी सत्यता और उसी में शक्तियों के स्थित रहने से, सबके ज्ञान का विषय बनता है, कारण-कार्य भाव को लेकर ही परब्रह्म को निराकार और साकार कहा है। वास्तव में तो दोनों अवस्थाओं में सर्प की भाँति एक ही परब्रह्म यथावत रहता है तथा उसकी शक्ति भी, उसके स्वरूप के साथ ही रहती है, उससे भिन्न कभी होती ही नहीं; शक्तिमान का साथ छोड़कर शक्ति का पृथक होना असंभव है। हाँ, शक्तिमान की महिमा व उसके शक्ति की महिम्नता का परिचायक रूप दृश्य, उसी परब्रह्म में स्थित, उसी की शक्ति से नेत्र का विषय अवश्य बनता है, इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर की शक्ति, अभिन्न रूप से, उन्हीं के स्वरूपगत सदा स्थित रहती है जैसे मकड़ी की शक्ति, मकड़ी से भिन्न कभी नहीं दिखाई देती। वह अपनी शक्ति से अपने ही, अपने मुख से तन्तु निकालकर, तन्तु-जाल का सृजन

करती और उसी जाल में विहार करती है, पुनः उस जाल-तन्तु से, अपने उदर में अपनी शक्ति से लीन कर लेती है अतः तीनों अवस्था में उसकी शक्ति, उसके स्वरूपगत अन्तर्भाव में अभिन्नतया स्थित रहती है, वैसे ही ब्रह्म और उसकी शक्ति का भव-थिति, लय तीनों में अभिन्नतया अर्थ जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से उक्त वार्ता को सिद्ध करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥३।२।२८॥

व्याख्या : जिस प्रकार प्रकाश, अपने आश्रयी सूर्य से अभिन्न है क्योंकि वह प्रकाश (तेज), प्रकाशपुञ्ज (तेजोमय) सूर्य का ही है। उसकी सूर्य से पृथक सत्ता नहीं है, इसलिये सूर्य से अभिन्न है और सदा सूर्य के स्वरूपगत अन्तर्भाव में ही उसकी स्थिति है, यही कारण है कि सूर्य के अस्त होने पर प्रकाश भी अस्त हो जाता है । व्यवहार के लिये जगत में वाणी अर्थ और जल-लहर की भाँति, सूर्य और प्रकाश कहा जाता है । इसी प्रकार परमेश्वर और उसकी शक्ति में, भेद का सर्वथा अभाव है, तो भी व्यवहारिक वाणी में समझाने के लिये, ब्रह्म और उसकी शक्ति का पृथक-पृथक प्रयोग किया जा सकता है जैसे, चन्द्र-चन्द्रिका, भानु और भानु-प्रभा अग्नि और उसकी ऊष्मा, हवा और स्पन्दन-जल और उसका शीतलत्व, शक्कर और शक्कर की मिठास तथा रूपवान और रूप सदा अभिन्न है और व्यवहार में कहने मात्र को भिन्न है वैसे ही ब्रह्म तथा ब्रह्म-शक्ति विषयक भाव को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पुनः उक्त वार्ता को ही समझाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : पूर्ववद्वा ॥३।२।२९॥

व्याख्या : पहले सूत्र (२।३।४३) में जिस प्रकार परमात्मा का अपने अंश भूत जीव समुदाय से अभेदत्व सिद्ध किया गया है, उसी भाँति, उनकी स्वरूपा-भूता शक्ति का अभेद समझना चाहिये अथवा जैसे पर और अपर ब्रह्म की एकता अर्थात् दोनों में अद्वैत सिद्ध किया गया है, वैसे ही ब्रह्म और उसकी शक्ति में सहज अभिन्नत्व

स्व सिद्ध है जैसे, देह और देह के अवयव दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान, दोनों समझने पर अभिन्न हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! शक्ति और शक्तिमान में अभेद को सिद्ध करने के लिये और कोई कारण है ?

वेदव्यासजी : **प्रतिषेधाच्च ॥३।२।३०॥**

व्याख्या : ऐत० उप० (१।१।१) में कहा गया है कि इस जगत के प्रकट काल के पूर्व, एक मात्र परब्रह्म परमात्मा ही था, दूसरा कोई चेष्टा करने वाला नहीं था, इस श्रुति-वाक्य से अन्य का प्रतिषेध होने के कारण भी यही सिद्ध होता है कि जगत रचना के प्रथम प्रलयावस्था में एक ब्रह्म अपनी अभिन्न स्वरूपा शक्ति को अपने में अन्तर्भुक उसी प्रकार किये था जैसे सुषुप्ति अवस्था में अभिन्न, अपनी शक्ति को अपने में विलीन किये हुये मनुष्य सोता है, पुनः जागने पर जैसे वह अपनी शक्ति का प्रयोग व प्राकट्य भिन्न-भिन्न कार्यों के रूप में करता है, उसी प्रकार ब्रह्म जागने पर (सृष्टिकाल में) अपनी शक्ति का प्रयोग व प्राकट्य विचित्र जगत की रचना रूप में करता है इसलिये शक्ति व शक्तिमान में कोई भेद न पाने पर, दोनों में अभेद स्वयं सिद्ध है। शक्तिमान के बिना शक्ति की और शक्ति के बिना शक्तिमान की स्थिति असिद्ध हो जायगी इसलिये दोनों अभिन्नतया एक ही हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुति में परब्रह्म परमात्मा का अपनी परा और अपरा प्रकृति (शक्ति) से श्रेष्टत्व तथा वैलक्षण्य कैसे सिद्ध किया गया है ?

वेदव्यासजी : **परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३।२।३१॥**

व्याख्या : जड़-चेतनात्मक जगत की कारणभूता, परमात्मा की जो अपरा और परा नामक दो शक्तियाँ हैं, (प्रकृतियाँ हैं) जिन्हें गीता में (७।४।५) कहा गया है तथा अन्यत्र जिन्हें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर और प्रकृति-पुरुष के नाम से बताया गया है। उन दोनों प्रकृतियों तथा उनके विस्तारतया, इस जगत रूप कार्य से परब्रह्म परमात्मा अति श्रेष्ठ और विलक्षण है क्योंकि श्रुतियों में उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करने के लिये १ सेतु २ उन्मान ३ सम्बन्ध ४ भेद, ये चार कारण संप्राप्त होते हैं। छान्दो० उप० (८।४।१) में 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः। यह

जो परमात्मा है, यही सबको धारण करने वाला सेतु है, यह प्रथम हेतु है। दूसरा हेतु है उन्मान का वर्णन, उन्मान का अर्थ है, सबसे महत परिमाण वाला। श्रुति में ब्रह्म को महतोमहीयान कहा गया है। छान्दो० उप० (३।१२।६) में कहा गया है कि समस्त भूत समुदाय परमात्मा का एक पाद है। शेष तीन पाद अमृत स्वरूप, परम धाम में हैं। तीसरा हेतु है सम्बन्ध का प्रतिपादन। श्रुतियों में ब्रह्म को पूर्व प्रकृतियों का स्वामी आदि कहकर, ब्रह्म-जीव का निरूपाधिक सम्बन्ध स्थापित किया है अर्थात् १. स्वामी-सेवक भाव २. पिता-पुत्र भाव ३. भर्तृ-भार्याभाव ४. शेषी-शेष भाव ५. भोक्ता-भोग्य भाव ६. रक्षक-रक्ष्य भाव ७. आधार-आधेय भाव ८. नियाम्यक-नियाम्य भाव ९. शरीरी-शरीर भाव, इत्यदि नव प्रकार के निरागन्तुक और निरूपाधिक सम्बन्ध, ब्रह्म के साथ वर्णन किये गये हैं और भी श्वेता० उप० (६।७) में परम महेश्वर देवों के देव, पतियों के पति, उन्हें कहा गया है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी जगत-स्त्रण्टा, सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्य का हेतु, काल का काल, समस्त कल्याण गुणगणनिलय, प्रकृति और जीव का स्वामी तथा सबका शासक, बन्ध और मोक्ष को देने वाला, इत्यादि कहने से जीव का ब्रह्म के साथ अनादि सम्बन्ध सिद्ध होता है, चौथा हेतु है भेद का प्रतिपादन। दोनों प्रकृतियों का अन्तर्यामी तथा धारक- पोषक परब्रह्म परमात्मा को बताकर, श्रुतियों में जीव और प्रकृति से परमेश्वर को भिन्न सिद्ध करके बताया है इसलिये उक्त चारों हेतुओं के द्वारा सिद्ध होता है कि अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न तथा अनन्त दिव्य कल्याण गुणों से संयुक्त, सबका धारक-पोषक, महान से महान, सबका स्वामी, परब्रह्म परमात्मा, जीव और प्रकृति (परा-अपरा) से अति श्रेष्ठ और विलक्षण है। श्रुतियों में उपाधि रहित, उस सच्चिदानन्द घन पुरुषोत्तम भगवान के जानने का फल परम शान्ति स्वरूप अमृतानन्द की प्राप्ति और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त (आवागमन रहित) हो जाना बताया गया है।

विशेष–पुरुषोत्तम भगवान की स्वरूपा शक्ति जो अचिन्त्य तथा परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न है, वह ब्रह्म की दोनों स्थितियों (कारण कार्य अवस्था) में ब्रह्म के स्वरूप से पृथक नहीं होती है अर्थात् उसके अन्तर्भुक उसी प्रकार रहती है जैसे मीठे पदार्थों में उसकी मिठास। इसी स्वरूपा शक्ति की इच्छा व शक्ति से, जगत की कारण भूता परा और अपरा शक्तियां कार्य रूप जगत बनकर दिखाई देती है। यही स्वरूपा शक्ति परब्रह्म के सत् +चित+ आनन्द स्वरूप के अन्तर्भुक होने से संधिनि, संवित् और आल्हादिनी तीन रूपों की कही जाती है, इस अपनी त्रय

विद्या स्वरूपा शक्ति से परब्रह्म अपने सत्, चित और आनन्द को स्वरूपतः सुरक्षित रखने में स्वाभाविक समर्थ रहता है तथा इसी त्रयधा शक्ति के संकेत से, जीव-जगत में कर्म प्रवृति, ज्ञानाप्ति, और आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। इसी ब्रह्म स्वरूपा भिन्न शक्ति से, शुद्ध सत्व सम्पन्न अलौकिक दिव्य परम धामों की रचना लीलामय ब्रह्म को परम आनन्द का अनुभव कराने के लिए अलौकिक और अनादिकाल से अनवरत चली आ रही है, वहां न सूर्य है, न चन्द्र है, न अग्नि और न काल की कलना ही है। वहाँ के एक क्षण में यहां के हजारों-हजारों कल्प व्यतीत हो जाते हैं। वहां नित्य, मुक्त, प्रेमी परिकर ही ब्रह्म शक्ति के सगुण साकार स्वरूप का अनुभव करते हैं, कुयोगियों के लिये वह अगम्य और अप्राप्य है। वही भगवान की स्वरूपा शति, ब्रह्म के आनन्द का अधिक अधिक विस्तार करने के लिये, मृत्यु-लोक में अधिकारी भक्तों के हृदय में प्रेम रूपिणी प्रकट होकर रसोपासना के द्वारा रसस्वरूप ब्रह्म के आनन्द की तथा प्रेमियों के आनन्द की वर्धिका अव्यक्त रूप से बनती हैं किन्तु यह स्मरण रहे कि ब्रह्म के स्वरूप से, वह स्वरूपा शक्ति उपर्युक्त कार्य करते हुये भी, कभी पृथक नहीं होती जैसे भानु की प्रभा तथा चन्द्र की चन्द्रिका, जगत में प्रकाश कार्य करते हुये तथा सूर्य व चन्द्र को प्रकाशमय रखते हुये भी, सूर्य-चन्द्र के स्वरूप से पृथक नहीं होती और न विद्युत कोष की भांति, विद्युत खर्च हो जाने से उसके कोष में कमी होती अर्थात् वह अचिन्त्य और अनन्त बनी ही रहती है। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि स्वरूपा शक्ति का स्वरूप व कार्य, परब्रह्म के आनन्दोपभोग के लिये है, अपने लिए नहीं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि लीलानन्दोपभोग काल में अभिन्न स्वरूपा शक्ति से वैलक्षण्य व श्रेष्ठत्व, भोक्ता और भोग्य की भांति परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में हैं, तत्वतः सूर्य प्रभा की भांति दोनों एक है। वास्तविकता तो यह है कि जैसे अंगी, अंग व अंगों से, अंगी के संकल्प द्वारा, कार्य कराने की शक्ति मिलकर ही पूर्ण अंगी कहा जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वर-जीव व शक्ति विशिष्ट होकर ही ब्रह्म कहा जाता है। सूक्ष्म चिद्चित विशिष्ट ब्रह्म और स्थूल चिद्चित विशिष्ट ब्रह्म, दोनों को एक करके जानना, ब्रह्म-बोध है अर्थात् कारण और कार्य ब्रह्म एक ही है, यह श्रुति का सार सिद्धान्त है किन्तु जैसे अंग व अंगी की शक्ति, अंगी को सुख पहुंचाने व सेवा से प्रसन्न करने के लिये है, वैसे ही जीव व शक्ति कार्य, परब्रह्म परमेश्वर को अपनी चर्या से सुख पहुंचाने के लिये है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुति सिद्धांत से परमात्मा का अपनी परा व अपरा

प्रकृति से अभेद और भेद दोनों सिद्ध किया गया है किन्तु जिज्ञासा होती है कि दोनों में उत्तम कौन है, अभेद या भेद ?

वेदव्यास जी : **सामान्यात्तु ॥३।२।३२॥**

व्याख्या : पूर्व सूत्र के अनुसार जिस प्रकार भेद प्रतिपादक श्रुतियां प्रमाण-भूत हैं, उसी प्रकार 'तत्वमसि' छान्दो० उप० (६।८-१६ तक) 'वह ब्रह्म तू है' 'अयमात्मा ब्रह्म' बृह० उप० (२।५।१९) 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। दोनों की प्रामाणिकता अन्तर हीन एक सादृश्य को लिये हुये हैं, इसलिये एक पक्ष को श्रेष्ठ और एक पक्ष को न्यून कहना सम्भव नहीं है, इससे दोनों पक्ष मान्य हैं जैसे, सूत्र व वस्त्र में किसी को तत्वत: अभेद मालूम होने से अभेद कहना उचित ही है और किसी को रूपतः भेद जान पड़ने से उसका भेद निरूपण करना उचित ही है, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुतियों में कहीं अपने से भिन्न मान कर, परमात्मा की उपासना करने का आदेश है और कहीं अभेद बुद्धया उपासना करने को कहा गया है जैसे, श्वेता० उप० (६।१८) में आया है कि, "बुद्धि को परमात्मा, विषयक प्रकाश से प्रकाशित करने वाले उन प्रसिद्ध परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की शरण में ग्रहण करता हूं, जिससे मुझ मोक्षकामी को भवबन्धन से मुक्ति प्राप्त हो जाय तथा (छान्दो० उप० (६।८।८) में 'तत्वमसि' 'वह ब्रह्म तू है' बृह० उप० (२।५।१९) में 'अयमात्मा ब्रह्म' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियों में भेद और अभेद दृष्ट्या परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करने का विधान बताने का अभिप्राय क्या है ?

वेदव्यासजी : **बुद्धयर्थः पादवत् ॥३।२।३३॥**

व्याख्या–जिस प्रकार एक रस रहने वाले, एक ही परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को समझाने के लिये चार पादों की (विश्व, तेजस, प्राज्ञ, परमात्मा की) कल्पना करके (मा० उप० २) की श्रुति में, उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार भेद और अभेद भाव से, परमेश्वर की उपासना करने का विधान,

वेद में बतलाने का भाव परमात्म-बोध, परमात्म-दर्शन और परमात्मा में प्रवेश करने के लिये है। साधक भिन्न-भिन्न प्रकृति के होते हैं, प्रकृति के अनुसार ही भेद और अभेद रीति से उपासक उपासना करते हैं किंतु दोनों प्रकार के उपासक एक ही लक्ष्य, एक ही तत्व-बोध और एक ही परब्रह्म की प्राप्ति करते हैं, इसलिये परमात्मा रूप महाफल की प्राप्ति के लिये उपासक की प्रकृति, योग्यता, रुचि और विश्वास के अनुसार भेद और अभेद रीति से, उपासना का विधान वेद में बताया गया है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि ब्रह्म और उसकी दोनों प्रकृतियों में अभेद है तो उसकी परा प्रकृति (जीव समुदाय) में भी परस्पर भेद सिद्ध नहीं होगा किन्तु श्रुतियों में जो जीव के नानात्व का वर्णन है, उसकी संगति कैसे बैठेगी ? कृपा करके बतायें।

वेदव्यासजी : **स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३।२।३४॥**

व्याख्या : जिस प्रकार सभी प्रकाश करने वाले, प्रकाश स्वरूप हैं तथा सभी प्रकाश रूप तत्व से सम्पन्न होने के कारण, एक ही प्रकाश के नाते सब एक ही हैं परन्तु दीपक, ग्रह, नक्षत्र, तारिका समूह, अग्नि सूर्य, चन्द्र आदि में स्थान और शक्ति की एकता न होने के कारण, सबमें परस्पर भेद तथा नानात्व है ही। उसी प्रकार परमात्मा की परा प्रकृति के सम्बन्ध से, सभी जीव परस्पर अभिन्न हैं तो भी जीवों अनादि कर्म-विभाग-संस्कार के फल स्वरूप प्राप्त शरीर, बुद्धि, शक्ति, ज्ञानादि में परस्पर भेद प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिये जीवों का परस्पर भेद व नानात्व, श्रुति में वर्णन मिलने से न कोई विरोध है और न असंगत है। लोक में एक ही पिता की संताने जो एक ही पिता के वीर्य-कार्य होने से एक हैं किन्तु शरीर-शक्ति व ज्ञानादि भेद से सबमें परस्पर भेद रहता है। वर्तमान काल में विद्युत-विभाग में अगणित प्रकाश गोलक छोटे-बड़े तथा रंग-बिरंगे और कम शक्ति व अधिक शक्ति के बनते हैं, प्रकाश सम्बन्ध से सब एक ही हैं किन्तु शक्ति व बनावट की भिन्नता होने से, सबमें परस्पर भेद है ही, ऐसे ही उक्त विषय को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : अन्य प्रकार से उक्त विषय की सिद्धि करने की कृपा हो, मुने।

वेदव्यासजी : **उपपत्तेश्च ॥३।२।३५॥**

व्याख्या : परब्रह्म परमात्मा पहले एक था, श्रुति ने बताया, पुनः उसने अपने संकल्प से जगत को उत्पन्न किया। श्रुति में परमात्मा को जगत का अभिन्नोपादान निमित्त कारण कहकर 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा अभेदत्व सिद्ध किया गया है पुनः परमात्मा को सबका धारक-पोषक बताया। भोक्ता-भोग्य, स्वामी-सेवक, आदि कहकर जीवात्मा-परमात्मा का निरूपाधिक सम्बन्ध बताया इत्यादि वर्णन से भेदत्व सिद्ध किया गया है, अतः यही सिद्ध होता है कि चेतनत्व को लेकर, ब्रह्म-जीव व जीव-जीव में अभेदत्व है तथा अनादि कर्म संस्कारों की परस्पर भिन्नता होने से, व जीव, जीव के शरीर, शक्ति ज्ञान का वैभिन्न होने से, ब्रह्म और जीव में तथा परस्पर जीव-जीव में भेद है।

मुमुक्ष सुखेन : मुने ! अन्य प्रकार से भी उक्त वार्ता की सिद्धि हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **तथान्यप्रतिषेधात् ।।३।।२।।३६।।**

व्याख्या : वेद में जहाँ-जहाँ ब्रह्म प्रकरण आया है, वहाँ-वहाँ परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है अर्थात् एक पुरुषोत्तम भगवान आदि, मध्य और अन्त में रहते हैं, अन्य तत्व का निषेध है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपनी परा और अपरा शक्ति विशिष्ट परब्रह्म परमात्मा ही, नाना रूपों में प्रकट हो रहा है। अर्थात वही जगत के रूप में दृष्टि गोचर हो रहा है दोनों प्रकृतियों के नानत्व होने पर भी, उसमें भेद का अभाव है जैसे सोने के बहुत प्रकार के अलंकार बन जाने पर भी स्वर्ण में कोई भेद नहीं है। सब अलंकारों में एक ही विशुद्ध सोना है, अलंकारों के टूटने पर भी, एक सोने की ही सत्ता रहेगी।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! पूर्वोक्त वार्ता की सिद्धि अन्य युक्त्यि से भी हो सकती है क्या ?

वेदव्यासजी : **अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्य : ।।३।२।३७।।**

व्याख्या : श्रुतियों और स्मृतियों में परब्रह्म परमात्मा को स्थान-स्थान पर,

व्यापक, और सर्वगत कहा गया है तथा वेदान्त सूत्रों में भी परमेश्वर की व्यापकता सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक है किन्तु ईश्वर को सर्वथा अभेद मान लेने से व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि नहीं होगी, इससे यही सिद्ध होता है कि परमात्मा अपनी परा-अपरा दोनों शक्तियों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। शक्तिमान अपनी शक्ति से अभिन्न होता है तथा अभिन्नोपादान निमित्त कारण से भी प्रकृतियों से परमात्मा अभिन्न है एवं अभिन्न होते हुये भी, उपर्युक्त सूत्रों में बताये हुये हेतुओं से, उनसे अभिन्न और सर्वथा विलक्षण भी है जैसे, सूत्र वस्त्रों में व्यापक होने से, वह वस्त्र से अभिन्न है किन्तु सर्वथा अभेद मानने से, व्याप्य-व्यापक भाव की प्राप्ति पूर्णतया न होने से व वस्त्रों की बनावट व पृथक-पृथक कार्यों के लिये, उनके निर्माता के हेतु से सूत व वस्त्र में तथा वस्त्र, वस्त्र में भेद लोग स्वीकार करते हैं, वैसे ही विशिष्टि अद्वैत की शिला पर, भाँति-भाँति के चित्र अंकित होने पर, लोग द्वैत का दर्शन करने लगते हैं। भेद व अभेद में किसी को स्वीकार कर, परमात्मा की जो उपासना करते हैं, वे अवश्यमेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त करते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : जीवों के यथा योग कर्मों का फल देने वाला कौन है ? जानने की जिज्ञासा हो रही है।

वेदव्यास जी : फलमत उपपत्तेः ॥३।२।३८॥

व्याख्या : जो जीवों के किये हुये सब कर्मों का साक्षी हो, जो कर्म के अनुसार फल प्रदान करने का विधायक हो, कर्मों के गहन गति का ज्ञाता हो, और जो सर्वसमर्थ हो, वही सबको उनके कर्मानुसार फल प्रदान करने वाला हो सकता है, ऐसा एक परब्रह्म परमात्मा ही है। प्रकृति जड़ है अतः वह कर्म फल देने वाली नहीं कही जा सकती। जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला, परमात्मा के परतन्त्र है अतः वह अपने से, अपने किये कर्मों का शुभाशुभ फल अपने को नहीं दे सकता तथा कर्म भी, जड़ होने के कारण जीव को कर्म-फल प्रदान नहीं कर सकते। कहीं-कहीं देवता अपने उपासक को, उसके कर्म का फल देते हैं, बताया गया है, वह भी भगवान के विधान को लेकर ही है। परमेश्वर देवताओं को निमित्त बनाकर, कर्ता को कर्म फल प्रदान करते हैं। गीता (७।२२) में स्वयं भगवान ने ऐसा कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि जीवों के कर्म-फल की व्यवस्था

करने वाला, परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य नहीं। जैसे, निरीक्षक अधिकारी अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को उनकी कार्य क्षमता के अनुसार उनको उच्च व निम्न श्रेणी में स्थान देता है तथा उनके जीवन रक्षा के लिये योग्यता के अनुसार द्रव्यमान को घटाता-बढ़ाता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सभी जीवों के कर्मों का एक साथ साक्षी तथा सर्व समर्थ होने से, जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करने वाला वेद में कहा गया है।

मुमुक्षु मुखेन : यह वार्ता केवल युक्ति से ही सिद्ध है या कोई अन्य प्रकार से भी, बतलाने की कृपा हो, प्रभो ?

वेदव्यासजी : **श्रुतत्वाच्च ॥३।२।३६॥**

व्याख्या : श्रुतियां भी उक्त वार्ता की पुष्टि करती हैं, कठो०उ० (२।२।८) की श्रुति बताती है कि जो यह जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप नाना प्रकार के भोगों का निर्माता पुरुषोत्तम है, वही प्रलय काल में सबके सो जाने पर भी स्वयं जागता रहता है, अतः वही परम विशुद्ध है, वही ब्रह्म है और उसी को अमृत कहा जाता है इसी प्रकार श्वेता० उप० (६-१३) में कहा गया है कि नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्य चेतन आत्माओं के कर्म-फल भोगों का विधान करता है इसलिये इन वेद-वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि जीवों के कर्म फल की व्यवस्था, परब्रह्म परमेश्वर के आधीन है। जीवों के अनादि कर्म संस्कारों के फल स्वरूप, उनको जो भव बन्धन में डालता है, वही सर्वसमर्थ परमात्मा जीवों की कल्याण कामना तथा तदनुरूप साधन की तत्परता देखकर, भव बन्धन से मुक्त करता है जैसे माली अपने बगीचे के वृक्षों की योग्यतानुसार किसी वृक्ष की बहुत बड़ी शाखाओं को काटता है जो दूसरे वृक्ष को कष्ट पहुचाती थी। किसी फल-भार से झुके वृक्ष की शाखाओं में टेक लगाता है कि टूटने न पाये, किसी छोटे वृक्ष को बढ़ने के लिये सहारा देता है तथा किसी से सहारा पृथक कर देता है किसी वृक्ष में नित्य पानी देता है, किसी में अन्तर देकर और किसी में कभी नहीं, इत्यादि विधियों को अपनाकर माली बगीचे की रखवाली करता है, उसी प्रकार परमात्मा अपने जगत रूपी बगीचे के, जीव रूपी वृक्षों के कर्मानुसार फल प्रदान कर, उनकी उन्नति में लगा रहता है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! इस विषय में अन्य आचार्यों का क्या मत है ?

वेदव्यासजी : **धर्मं जैमिनिरत एव ।।३।२।४०।।**

व्याख्या : जैमिनि आचार्य की मान्यता है कि युक्ति और श्रुति दोनों से यही सिद्धि होता है कि कर्म स्वयं कर्ता को फल प्रदान करने वाला है। लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है, खेती आदि कर्म करने से कृषक को अन्नोत्पत्ति रूप फल प्राप्त होता है। वेदों में भी बहुत ऐसे विधि-वाक्य पाये जाते हैं कि अमुक कामना वाले को अमुक कर्म का अनुष्ठान करने से सिद्धि रूप फल की प्राप्ति होती है। इससे यही जाना जाता है कि कर्म स्वयं फल प्रदाता है, अन्य कोई नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि का यह कथन क्या युक्त है ?

वेदव्यासजी : **पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ।।३।२।४१।।**

व्याख्या : वेद में परब्रह्म परमात्मा को ही जीवों के कर्मानुसार फल प्रदान करने वाला कहा गया है, जिसका प्रमाणीकरण पूर्व सूत्र में श्रुति आदेश के अनुसार किया जा चुका है, अतः मुझ बादरायण के मत से जैमिनि का मत अयुक्त और असंगत है, क्योंकि वेद में परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही, सबका हेतु बताया गया है, कर्म तो निमित्त मात्र है, जड़ है, स्वयं क्रिया की समाप्ति पर क्षय को प्राप्त हो जाता है अतएव वह फल की व्यवस्था नहीं कर सकता। परमेश्वर ही जीवों को उनके कर्मानुसार फल का विधान करने वाला है, यदि खेती की गई, वह फूली-फली किन्तु ओले पड़ने से सर्वथा नष्ट हो गई तो कर्म उस समय कहाँ गया, जो कृषक को उसके कर्म का फल न देकर, उल्टे उसे जीविका हीन बना दिया। श्रुतियों की जो यह विधि है कि अमुक कर्म का अमुक फल होता है, उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्म स्वयं फल देता है अपितु उसका सही अर्थ यह है कि जीव कर्म करे, चाहे सकाम हो या अकाम किन्तु फल उसका परमेश्वर के विधान से प्राप्त होता है, गीता में भी भगवान के यही वाक्य मिलते हैं।

तात्पर्यार्थ: जीवात्मा, परमात्मा की शक्ति व प्रेरणा से ही किसी कर्म में प्रवृत्त होकर, गौण रूप से उस कर्म को करने वाला बताया गया है किन्तु अहंकार के कारण विमूढ़ात्मा बनकर स्वयं को कर्ता मान बैठता है इसलिये वह कर्म के कोल्हू में पिसता हुआ, सुख का स्वप्न नहीं देखता, जन्म-मरण के चक्र में चक्कर लगाना उसका व्यापार हो गया है, अस्तु, कल्याण कामी पुरुष को, इस बन्धन से

मुक्त होने के लिये, परब्रह्म की उपासना बताई गई है। उपासना के लिये, परब्रह्म परमात्मा के नित्य निरुपाधिक युगपद रहने वाले अभिन्न निर्गुण-सगुण दो लक्षण अर्थात् स्वरूप कहे गये हैं। सगुण स्वरूप का साक्षात् दर्शन करने के लिये उनके प्रेम में आसक्त मना, उनका आश्रयण ग्रहण करके प्रीति-प्रतीति और सुरीति के साथ उनकी आराधना बतायी गई है। इसके पश्चात् परमात्मा का उनकी परा-अपारा शक्ति से अभेद सिद्ध किया गया है पुनः शरीर व कर्म-संस्कारों के सम्बन्ध से, भेद बताकर जीव, जीव में भी भेद बताया गया है, जिसका प्रयोजन परमात्मा के श्रवण-मनन, निदिध्यासन पूर्वक उनकी उपासना के लिये है। जीवात्मा का अधिकार कर्म करने में है किन्तु फल में नहीं, फल को देने वाला परब्रह्म परमात्मा कहा गया है, अस्तु, जीव को चाहिये कि आचार्य संन्निधि में रहकर स्वस्वरूप, पर स्वरूप, उपाय स्वरूप, फल स्वरूप और विरोधी स्वरूप को समझकर, परम पुरुषार्थ स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार-अनुभव, इसी देह में कर ले और स्थूल-सूक्ष्म, कारण, त्रय-शरीरों से सम्बन्ध विच्छेद कर, अपुनरावर्ती धाम की प्राप्ति करके, वहाँ परमात्मा के त्रिसाम्यता को प्राप्त करे तथा उनकी सेवा, सब प्रकार की प्राप्त कर अमृत हो जाय और सच्चिदानन्दात्मक आनन्द की अनुभूति करे। यही वेदान्त-दर्शन (ब्रह्म-सूत्र) के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद का सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत
तृतीय अध्याय का द्वितीय पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

तृतीय अध्याय का तृतीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! अध्यात्म विद्या तथा परमात्म-प्राप्ति विषयक वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से, उपनिषदों में पाया जाता है, अतः उन वर्णनों की एकता व सामञ्जस्य कैसे संभव होगा ? कृपा कर कहें ।

वेदव्यासजी : सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्य विशेषात् ।।३।३।१।।

व्याख्या : सभी उपनिषदों में जो अध्यात्म विद्या का वर्णन मिलता है, वह भिन्न-भिन्न प्रकार का अवश्य है किन्तु उन सभी विद्याओं में विधि-वाक्य की एकता है अर्थात् सभी विद्याओं द्वारा एक मात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति कही गई है इसलिये उन वर्णनों की एकता व सामञ्जस्य सहज सिद्ध है। छान्दो०उप०(१।४।१)में 'ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इसलिये इसकी उपासना करो, 'इत्यादि वाक्यों से प्रतीकोपासना अथवा ब्रह्म से अभिन्न उनके नाम की उपासना द्वारा उस परब्रह्म के ज्ञान व प्राप्ति का ही लक्ष्य कराया गया है। कहीं 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत० उप० २।१) कहकर उसके निर्विशेष रूप का वर्णन करके, उसकी प्राप्ति के लिये, उसे जानने को कहा है। कहीं सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, जगत स्रष्टा आदि कहकर, परब्रह्म परमात्मा के अनन्त कल्याण गुण गणों का लक्ष्य कराया गया है और उसकी उपासना द्वारा ही उसकी प्रत्यक्ष प्राप्ति बताई है, कहीं सूर्य को ही ब्रह्म कहा है अर्थात् इस प्रतीकोपासना द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का लक्ष्य कराया गया है । इस प्रकार विविध वर्णनों के द्वारा, ब्रह्म-प्राप्ति रूप फल में सबकी एकता है, विविधता का स्पर्श नहीं । सभी प्राकृत प्राणी पदार्थों से ब्रह्म को श्रेष्ठ तथा विलक्षण बताकर, उसकी महिमा एवं स्वरूप का ही लक्ष्य कराया गया है, जिसकी उपासना करने से उपासक जन्म-मरण से अवकाश पाकर, उपास्य की प्राप्ति रूप अमृतानन्द का उपभोग करता है । जीव अनेक हैं तथा सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि के भेद

से, सब के एक विचार व बुद्धि नहीं होती, इसलिये भिन्न-भिन्न प्रकृति, रुचि, व योग्यता के कारण, अधिकारी भेद से भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा एक ही साध्य की प्राप्ति होने से, सभी उपनिषदों के वर्णन में एकता है जैसे, बहुत से छोटे बच्चे हैं, वे भिन्न-भिन्न रोगों से ग्रस्त हैं, सत् वैद्य का लक्ष्य सबको स्वस्थ करने का है किन्तु बच्चे रोग के अनुसार दी हुई औषधि को थूक देते हैं क्योंकि औषधि उन्हें कड़वी लगती है, तब सत् वैद्य बच्चों के भिन्न-भिन्न रुचिकर खाने के पदार्थों में औषधि को मिलाकर, किसी को दूध के साथ, किसी को लड्डू के साथ, किसी को पूड़ी के साथ देता है। बालक अपनी अभिमत खाद्य वस्तु को जानकर, बड़े प्रेम से पा लेते हैं और धीरे-धीरे पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं, अतः सत् वैद्य के अनुसार वेद, जीवों की अभिमत उपासना में ब्रह्मौषधि मिलाकर, ब्रह्म-प्राप्ति की उपलब्धि कराने का लक्ष्य रखते हैं इसलिये वर्णन की भिन्नता होते हुये भी साध्य की एकता होने से परस्पर श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : वर्णन शैली में भेद होने पर भी क्या अध्यात्म विद्या में कोई भेद नहीं है, इस पर पुनः प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥३।३।२॥**

व्याख्या : जगत का जो कारण है, उसी को श्रुतियों ने ब्रह्म कहा है, अस्तु, जो सर्व समर्थ स्वतन्त्र परब्रह्म है, वही सबका उपास्य परम देव है। जगत के रचना क्रम में कहीं सत्, कहीं आत्मा, कहीं आनन्द से जगत की उत्पत्ति बताई गई है, कहीं आत्मा से आकाश आदि की उत्पत्ति क्रम से, कहीं रयि और प्राण के द्वारा जगत की उत्पत्ति वेदों में वर्णित है इत्यादि वेद वाक्यों की एकता जैसे सिद्ध नहीं होती वैसे ही अध्यात्म विद्या के वर्णन शैली में भेद होने से, उनमें एकता नहीं हो सकती। इस प्रकार तर्क करना औचित्य का निरादर है क्योंकि सभी श्रुतियों का अभिप्राय, जगत-उत्पत्ति के पूर्व उसके कारण स्वरूप एक परब्रह्म परमेश्वर को बताने के लिये है। उसी एक परब्रह्म को जैसे 'सत' 'आत्मा' 'आनन्द' 'प्रजापति' और 'अव्याकृत' नाम से कहा गया है, उसी प्रकार एक ही तत्व का प्रतिपादन करने वाली एक विद्या में वर्णन का भेद होना असंगत नहीं है। उद्देश्य और फल सबका एक होने से, उन सबकी एकता सहज सिद्ध होती है जैसे एक समर्थ राजा के पास चारों दिशाओं से बहुत से मनुष्य भिन्न-भिन्न मार्गों से भिन्न-भिन्न उपहार लेकर भिन्न-भिन्न समय में राजा के दर्शन एवं राज कर्मचारी बनकर राजधानी में

वास करने की कामना लेकर आये और अपने मनोरथ को सभी लोग सिद्ध हुआ पाये। अब विचार करें जो जहाँ है; जिस स्थिति में हैं, जिस मार्ग से जिसे आना है, राज-भेंट देने के लिये जो कुछ जिसके पास है, इन सब वर्णनों में भले ही भेद हो किन्तु राजा और राजदर्शनी विद्या में, सबका एक उद्देश्य तथा एक फल होने से, सबकी एकता स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार अध्यात्म विषयक वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! मुण्डको उप० (३।२।१०) में कहा है कि जटा शिर में धारणकर, अर्थात् शिरोव्रत लेकर जो विधि-पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया हो, उसी को इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश देना चाहिये किन्तु दूसरी शाखा वाले ऐसा नहीं कहते इसलिये इस आथर्वण शाखा और अन्य शाखाओं में कही हुई ब्रह्म विद्या में अवश्य भेद होगा, बतलाने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३।३।३॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (३।२।१०) में कहा हुआ शिरोव्रत का पालन, अध्ययन का अंग है जो आथर्वण शाखावालों के परम्परागत शिष्टाचार में, अध्ययन के अङ्गरूप से ही, उसका विधान उसी प्रकार है जैसे ब्रह्मचारी के लिये नित्य त्रिकाल संध्या करने का विधान गुरुकुल में बताया जाता है। ब्रह्मविद्या के अध्ययन में उसी का अधिकार होगा जो जटा धारण कर (शिरोव्रत लेकर) भली-भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, अन्य का नहीं, यह भी नियम केवल आथर्वण शाखा के लिये ही उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार 'सव' होम का नियम, उन्हीं के शाखा वालों के लिये है, इस लिये यह नियम अध्ययन और अध्यापन के विषय में आथर्वण शाखा वालों के परम्परागत, उन्हीं के लिये होने से, ब्रह्म विद्या की एकता में कोई विरोध नहीं है जैसे व्याकरण से आचार्य कराने वाले कई विद्यालय हैं, उनमें परस्पर अध्ययन काल, विद्यार्थियों की वेष-भूषा, एवं देव-आराधना में भेद होने के कारण 'आचार्य' कराने की विद्या में एकता ही रहेगी वैसे ही उक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! परमात्म स्वरूप को समझाने के लिये ही प्रकार भेद से, उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का वर्णन है, इसका समर्थन क्या वेद करते हैं ?

वेदव्यासजी : **दर्शयति च ॥३।३।४॥**

व्याख्या : अवश्यमेव ! श्रुति भी उक्त वार्ता का समर्थन करती है कठोपनिषद (१।२।१५) में कहा है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि । समस्त वेद जिस परम प्राप्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का प्रतिपादन करते हैं, अन्य श्रुतियाँ भी इसी प्रकार वर्णन करती हैं । श्रीमद्भगवतगीता (१५।१५) में कहा है 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'समस्त वेदों-द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ' । इसलिये सभी श्रुतियों स्मृतियों द्वारा यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म-विद्या भिन्न-भिन्न नहीं है । सभी वर्णनों में एक ही परमात्मा का वर्णन होने से सब में अभिन्नत्व है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! विभिन्न प्रकरणों में कहीं अधिक और कहीं कम निरूपण होने से, सबकी एकता कैसे सिद्ध होगी ?

वेदव्यासजी : **उपसंहारोऽर्थभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥३।३।५॥**

व्याख्या : जिस प्रकार कर्म काण्ड प्रक्रिया में प्रयोजन-भेद न होने पर, एक जगह यज्ञादि में, अग्निहोत्र विधि आदि धर्मों का ग्रहण दूसरी जगह न होने पर भी कर लिया जाता है, उसी प्रकार अलग-अलग प्रकरणों में कही हुई ब्रह्म-विद्या के वर्णन में प्रयोजन भेद न होने के कारण, एक स्थान पर अधिक कही हुई बातों का उपसंहार (अध्याहार) कम कही हुई बातों के स्थान पर कर लिया जाता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वेद-वर्णित ब्रह्मविद्या में कहीं शब्द भेद, कहीं नाम भेद, कहीं प्रकरण भेद से भिन्नता प्रतीत होती है, अतः उनकी एकता कैसे संभव है ?

वेदव्यासजी : **अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥३।३।६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।१।१) में दहर विद्या और (८।७।१) की प्राजापत्य विद्या में शब्द-भेद होने से भी दोनों में समानता है क्योंकि दोनों विद्यायें परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति की साधनभूता हैं अर्थात् ब्रह्म-मार्ग का उपदेश देने वाली हैं । इस प्रकार विधि और फल आदि में भेद न होने से वास्तव में, दोनों विद्याओं में समानता अर्थात् एकता स्वयं सिद्ध है । इसी प्रकार दूसरी ब्रह्म-प्राप्ति की हेतु भूता, विद्याओं में एकता का ही दर्शन करना चाहिये जैसे दो वैद्यक शास्त्रों

में, दो आचार्यों द्वारा लिखी हुई बातों में कुछ शब्द आदि भेद भी हो, तो भी दोनों की एकता में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि दोनों शास्त्र रोग, रोग का निदान, स्वास्थ्य, और स्वास्थ्य प्राप्त करने का ज्ञान प्रदान करने वाले हैं, इसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! दूसरी असमान विद्याओं से, उपर्युक्त दोनों ब्रह्म विद्याओं में कौन सी विशेषता है ?

वेदव्यासजी : न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत् ॥३।३।७॥

व्याख्या : छान्दोग्य उप० में जो उद्गीथ विद्या है, उसे ॐ कार अक्षर के साथ एकता करके उसका महत्व विवर्धित किया गया है, इसलिये उसका फल भी अति श्रेष्ठ कहा गया है किन्तु वृहदारण्यक उप० की उदगीथ विद्या केवल प्राणों का महत्व सूचित करने के लिये तथा यज्ञादि कर्मानुष्ठानों में उद्गीथ गान के समय स्वर की विशेषता दिखाने के लिये है, इसलिये इसका फल भी साधारण है, अत: इन दोनों में नाम मात्र समानता मिलने पर भी इनमें परस्पर समानता अर्थात् एकता सिद्ध नहीं हो सकती जैसे, देवासुर संग्राम में युद्ध की समानता होने पर भी देव और दानव एक कोटि के नहीं गिने जा सकते क्योंकि विद्याओं की समानता के लिये उद्देश्य, विधि और फल की एकता आवश्यक है, उक्त प्रकरण इस एकता से हीन है इसलिये उनमें भेद होना ही चाहिये, परन्तु पूर्वसूत्र में आई हुई दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या में उद्देश्य, विधेय, और फल की एकता होने से दोनों में अभेद है इसलिये दोनों उद्गीथ विद्या की भाँति, दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या में भेद किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता, जैसे दो यज्ञ हो रहे हैं, एक में लोक कामना पूर्ति का उद्देश्य है, विधि तामसी शास्त्रों के अनुसार मन्त्र पढ़ने और मांसादि हवन करने की है और फल संसार की वृद्धि ही है, दूसरे यज्ञ का उद्देश्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिये अनासक्त होकर, कर्तापन के अभिमान से रहित भगवदर्थ करने का है, विधि वैदिक मन्त्रों के साथ सात्विक अन्न से ही हवन करने की है, फल परमात्म-प्राप्ति है इसलिये इनमें उद्देश्य, विधि और फल की एकता न होने से, दोनों में सर्वभावेन भेद है तथा कोई दो यज्ञ निष्काम भाव से यथा विधि परमात्म-प्राप्ति के लिये किये जाते हों अत: दोनों में उद्देश्य, विधि और फल की एकता होंने से, उनमें भेद नहीं है, इसी प्रकार उक्त विद्या-विषयक वार्ता का ज्ञान करना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! विद्याओं में नाम का भेद होने से एकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

वेदव्यासजी : संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।।३।३।८।।

व्याख्या : दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या के नाम में तो भेद है किन्तु इनके उद्देश्य, विधि-वाक्य और फल में किंचिन्मात्र भेद न होने से, सहज दोनों में एकता है जैसे मोहन, सोहन नाम के दो व्यक्ति हैं परन्तु उनकी रहनी-सहनी, भजन-भाव तथा दैवी सम्पत्ति की युक्तता, खान-पान और कर्म चेष्टाओं का उद्देश्य, विधि और फल एक है इसलिये नाम भेद होने से भी दोनों एक हैं अर्थात् दोनों में समानता है यद्यपि इसका उत्तर पूर्व के सूत्र में दिया जा चुका है तथापि कुछ कहना ही पड़ता है, जिनमें उद्देश्य, विधि और फल की समानता नहीं होती है। उन विद्याओं में संज्ञा आदि के कारण, भेद होना स्वाभाविक है। दहर और प्राजापत्य विद्या में सर्वभावेन समानता होने से, उनकी एकता स्वयं सिद्ध है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! संज्ञा भेद होने से क्या ब्रह्म विद्या में एकता नहीं हो सकती ?

वेदव्यासजी : व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।।३।३।९।।

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान सर्व व्यापक, सर्वात्मा, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वेश्वर हैं अत: ब्रह्म विद्या के भिन्न-भिन्न नाम और प्रकरण व वर्णन होने पर भी, उन सबकी एकता, एक ब्रह्म होने से स्वयं सिद्ध है अर्थात् सभी विद्याओं का लक्ष्य, एक परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का नाना भाँति से प्रतिपादन करना ही है जैसे, आरोग्य प्राप्त करने के लिये, भिन्न-भिन्न भाषाओं व देशों को लेकर भिन्न-भिन्न रीतियों के द्वारा रोग दूर कर स्वास्थ्य लाभ का वर्णन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है परन्तु सबका उद्देश्य एक होने से उनमें कोई भेद नहीं है वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! विद्याओं की एकता व भिन्नता के लिये, संज्ञा, प्रकरण और वर्णन की एकता व भेद की अपेक्षा है या नहीं ?

वेदव्यासजी : सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।।३।३।१०।।

व्याख्या : ब्रह्म सबसे अभिन्न सर्व स्वरूप है अतः उसकी तत्व बोधिका विद्याओं में भेद का सर्वथा अभाव है। ब्रह्म को सर्वनामा कहा गया है, इससे सभी संज्ञायें ब्रह्म की ही हैं अतएव संज्ञा, प्रकरण और शब्द भेद से ब्रह्म विद्याओं में भिन्नता कदापि नहीं सिद्ध की जा सकती क्योंकि सभी प्रकरणों, सभी संज्ञाओं और सभी शब्दों से, उसका वर्णन होना सर्वथा संभव है किन्तु ब्रह्म विद्याओं के अतिरिक्त विद्याओं में (जिनका लक्ष्य ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं है) परस्पर भिन्नाभिन्नत्व बताने के लिये प्रकरण, संज्ञा, शब्द हेतुओं का उपयोग हो सकता है जैसे पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के सभी अवतारों के नाम, रूप, लीला और धाम में भिन्नता होने पर भी उन सभी में एकता है क्योंकि सभी नाम, रूप, लीला धाम एक ही परब्रह्म परमात्मा के हैं, सभी में उन्हीं के महत्व का वर्णन है किन्तु मनुष्यादि में उनकी परस्पर भिन्नता दर्शाने के लिये, भिन्न-भिन्न नाम,रूपादि का प्रयोग किया ही जाता है, वैसे ही उक्त तथ्य को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! सूत्र (३।३।५) में जो यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म विद्या के प्रकरण में, परब्रह्म परमात्मा के गुण कहीं अधिक और कहीं कम बताये गये हैं, अस्तु, जहां कमी हो वहाँ अधिक गुणों वाले प्रकरण से, शेष गुणों का अध्याहार कर लेना चाहिये अतः तैत्त० उप० में जहां पक्षी का रूपक देकर, आनन्दमय पुरुष का वर्णन करते समय, जिन-जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, क्या उनका भी सर्वत्र उपसंहार (संग्रह) किया जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **आनन्दादयः प्रधानस्य ॥३।३।११॥**

व्याख्या : श्रुति के एक स्थानीय प्रकरण में, परब्रह्म परमात्मा के गुणों (धर्मों) का वर्णन करते समय जो सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, सर्वगत, सर्वव्यापक और आनन्दमय विशेषण आये हों, उनका उपसंहार (संग्रह) दूसरे प्रकरण में भी किया जा सकता है अर्थात् जिस प्रकरण में जो कुछ विशेषण छूट गये हों, वहाँ उनका ग्रहण दूसरे प्रकरण से कर लेना चाहिये जैसे किसी धनिक के कई स्थानों पर अन्न-भंडार हों, उनमें कहीं अधिक प्रकार के अन्न हैं, कहीं कम प्रकार के , अस्तु, जहाँ कुछ ही प्रकार के अन्न हैं, वहाँ आवश्यकता पड़ने पर अधिक प्रकार वाले अन्न-कोष से, उसकी पूर्ति कर ली जाती है, उसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि ऐसा है तो तैत्तरीयोपनिषद में जो आनन्दमय

आत्मा का प्रकरण आया है, उसमें पक्षी के रूपक में कहा गया है कि उसका 'प्रिय ही शिर है, मोद दाहिना पंख है,' प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा हैं, अस्तु, उपर्युक्त कही हुई, आपकी वार्ता के अनुसार 'प्रिय शिरस्त्व' आदि धर्मों का भी, ब्रह्म-विद्या में सर्वत्र अध्याहार (संग्रह) किया जा सकता है ?

वेदव्यासजी : **प्रियशिरस्त्वाद्य प्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥३।३।१२॥**

व्याख्या : प्रिय रूप शिर का तथा मोद-प्रमोद पाँख का होना आदि धर्मों का वर्णन करके, पक्षी के रूपक में जो अङ्गों की कल्पना की गई है, वह ब्रह्म का स्वरूपगत धर्म नहीं है, इसलिये उक्त धर्मों का संग्रह अन्यत्र ब्रह्म विद्या के प्रकरण में नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भेद, ब्रह्म में मानने पर उसमें घटने-बढ़ने का दोष उपस्थित हो जायगा इसलिये जो ब्रह्म-धर्म के अतिरिक्त, किसी रूपक के सम्बन्ध से कहे हुये धर्म हों, उनका संग्रह दूसरी जगह कही हुई, ब्रह्म-विद्या के साथ नहीं होना चाहिये जैसे किसी से कहा गया कि एक महात्मा के दर्शन हमें हुये, वे सभी संत गुणों से सन्पन्न थे। उनका शरीर भी बड़ा सुन्दर था, वे मनुष्यों में सिंह थे, उनके बढ़े हुये नख युक्त हाथ मानों सिंह के पंजे थे, उनके आँखों का तेज ही, सिंह के आँखों की चमक थी, उनके स्कन्ध ही सिंह के स्कन्ध थे, उनकी गति मानों सिंह की गति थी, इत्यादि सिंह के रूपक को लेकर, जहाँ-जहाँ सन्तों के सहज गुणों का वर्णन आया हो, वहाँ-वहाँ नख, आँख, स्कन्ध, गति आदि रूपक के धर्मों को नहीं जोड़ना चाहिये क्योंकि ये नख आदि लक्षण, संतों के सहज स्वभाव में नहीं आते। ये शरीर के धर्म हैं, शरीर और शरीरी के स्वभाव में कोई मेल-जोल नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जो तैत्त० उप० के पक्षी-रूपक में आनन्द और ब्रह्म शब्द आया है, उसका ग्रहण दूसरी जगह किया जा सकता है या नहीं ?

वेदव्यासजी : **इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥३।३।१३॥**

व्याख्या : आनन्दादि धर्म परब्रह्म परमात्मा के स्वरूपगत हैं अर्थात् ब्रह्म से अपृथक ब्रह्म धर्म है जैसे दुग्ध में मधुरता, इसलिये इनका संग्रह प्रत्येक प्रकरण में ब्रह्म विद्या के साथ किया जा सकता है क्योंकि उन सबमें अर्थ सामन्जस्य और

सबके द्वारा प्रतिपादित एक ही ब्रह्म है जैसे संतों के सहज स्वभाव के प्रतिपादक जितने भी शम–दम–क्षमा–दया–करुणा–परोपकारादि विशेषण हैं, उनका संग्रह सर्वभावेन यदि कहीं अधिक रूप में, कहीं कम रूप में किया गया हो, तो संत स्वभाव गत न्यून विशेषणों के साथ अन्यत्र वर्णित विशेषण जोड़े जा सकते हैं क्योंकि सभी विशेषण संत स्वभाव का ही प्रतिपादन करने वाले हैं ?

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कठोपनिषद में रथ के रूपक में, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीव आदि को अश्व, लगाम, सारथी, रथी आदि की संज्ञात्मक कल्पना, उपदेश अर्थ में होने से ठीक है किन्तु तैत्त० उप० में पक्षी के रूपक की कल्पना का कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता, बतलाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी **आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥३।३।१४॥**

व्याख्या : इस पक्षी के रूपक में अन्य किसी प्रकार का प्रयोजन स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देता किन्तु वेद-वाक्यों का व्यर्थ होना भी असम्भव है, किसी न किसी हेतु से उक्त रूपक की सार्थकता का विचार करने पर यही मालुम होता है कि उस परब्रह्म परमात्मा का सम्यक् प्रकारतया चिन्तन करने के लिये, उसका तत्व पक्षी रूपक द्वारा समझाया गया है। तैत्त० उप० के उक्त प्रकरण में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों का वर्णन रहस्यात्मक है। वहाँ प्रथम के चारों कोषों का अन्तर्यामी आनन्दमय कहा गया है, पुनः आनन्दमय कोष का अन्तर्यामी स्वयं आनन्दमय है, अन्य कोई नहीं है, यही आनन्दमय परब्रह्म परमात्मा है, तथा इन सभी कोषों को, पक्षी के रूपक द्वारा समझाया गया है जैसे पक्षी के सब अंग, पक्षी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, वैसे ही आनन्दमय ब्रह्म, देह, प्राण, मन और जीव का अन्तर्यामी तथा अंगी होने से, देह, प्राण, मन और जीव सबके सब उस आनन्दमय परब्रह्म परमेश्वर के शरीर हैं, परब्रह्म के अतिरिक्त इन-की अलग से कुछ भी सत्ता नहीं है, अस्तु, जड़-चेतनात्मक जगत को और परब्रह्म को एक करके जानना ही इस रूपक का तात्पर्य है। परब्रह्म में देही-देह का विभाग नहीं परन्तु पर और अपर (कारण-कार्य) की एकता सिद्ध करने के लिये, उक्त प्रकरण का अर्थ है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आनन्दमय से परब्रह्म को ही लक्ष्य कराया गया है, अन्य तत्व को नहीं, यह निश्चय कैसे किया जाय, कहने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : आत्मशब्दाच्च ॥३।३।१५॥

व्याख्या : तैत्त० उप० के उक्त प्रकरण में आनन्दमय को बारम्बार सबका अन्तरात्मा कहकर पुनः विज्ञानमय (जीवात्मा) का अन्तरात्मा कहा गया है। तत्पश्चात् आनन्दमय का अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमय को कहा गया है, अन्य किसी दूसरे को नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आनन्दमय शब्द, ब्रह्म का ही वाचक है जैसे घी को, छांछ का, तक्र का, दही का तथा दूध का अन्तरात्मा (अन्तःसार) कहने से यह निश्चय हो जाता है कि घी शब्द, गोरस के प्रधान तत्व का वाचक है, वैसे ही उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आत्मा शब्द का प्रयोग प्रायः प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) के लिये किया जाता है, अस्तु यह कैसे मान लिया जाय कि आत्मा शब्द परब्रह्म का ही वाचक है।

वेदव्यासजी : आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥३।३।१६॥

व्याख्या : जिस प्रकार ऐत० उप० (१।१) में 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजै' 'पहले यह एक आत्मा ही था, उसने इच्छा की कि मैं लोकों की रचना करूँ।' इस श्रुति में प्रथम आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया, पुनः उस आत्मा को सृष्टि-सृजन की इच्छा करने को कहा है, अस्तु, सृष्टि उत्पत्ति करने वाला, परब्रह्म परमात्मा है इसलिये यहाँ आत्मा शब्द परब्रह्म का ही वाचक है। इसी प्रकार तैत्तरीय श्रुति में, आनन्दमय का वर्णन करके उसी समय कहा गया है, 'सोऽकामयत बहुस्याम्' 'उसने (आनन्दमय) इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।' इत्यादि वाक्यों से आनन्दमय आत्मा को समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण बताया गया है इसलिये 'आनन्दमय' आत्मा को कहकर, अन्त में उसे जगत की उत्पत्ति करने वाला कहा है, अतः सिद्ध होता है कि आत्मा शब्द परब्रह्म का ही वाचक है। इसी प्रकार आनन्दमय भी परब्रह्म का ही वाचक सिद्ध होता है जैसे, कोई मोहन नाम का लड़का है, उसे लोग उसके गुणों के अनुसार कलाधर, गायक, भोला, सुन्दर आदि कई नामों से पुकारा करते हैं। मोहन पुष्पवाटिका का निर्माण करने में कुशल था। उसने विद्यालय में, अपने घर में और मित्र के यहाँ पुष्प-वाटिका बहुत अच्छी लगाई थी, अगर कोई यह कहे कि मित्र कलाधर ने इच्छा की कि मैं अपने मामा के यहाँ, सुन्दर पुष्प-वाटिका का

निर्माण करूँगा। अब यह विचार करें कि 'कलाधर' ने बगीची लगाई, वाक्य से मोहन का वाचक कलाधर सिद्ध होगा कि नहीं, अवश्य होगा क्योंकि बगीचा निर्माण करना, मोहन का कार्य है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : तैत्त०उप० की श्रुति में आत्मा शब्द का अन्वय प्रत्येक वाक्य में होने के कारण, कैसे मान लिया जाय कि 'आनन्दमय' ब्रह्म का वाचक है ?

वेदव्यासजी : **अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥३।३।१७॥**

व्याख्या : आत्मा शब्द का संयोग जिस अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय के साथ किया गया है, वह ब्रह्म का वाचक नहीं है अपितु श्रुति के द्वारा निर्धारित किया हुआ 'आनन्दमय' ही ब्रह्म का वाचक है। अन्नमय आदि आत्माओं को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म को उन सबका अन्तरात्मा बतलाने के लक्ष्य से श्रुति में सबके साथ आत्मा शब्द का अन्वय किया गया है। उन सबका अन्तर्यामी आत्मा आनदमय सिद्ध करके, आनन्दमय का आत्मा स्वयं आनन्दमय है, अन्य कोई नहीं अर्थात् सबकी स्थिति आनन्दमय के आधीन है, परन्तु आनन्दमय स्वयं स्वरूप में प्रतिष्ठित है तदनन्तर आनन्दमय से ही सृष्टि का होना, श्रुति ने बताया। इससे यही सिद्ध होता है कि आनन्दमय ही परब्रह्म का वाचक है, अन्नमय आदि शब्द नहीं, यही श्रुति का विनिश्चय है।

मुमुक्षु मुखेन : इस प्रकार के उत्पत्ति क्रम में, अन्त में अन्न से पुरुष की उत्पत्ति कही गई है, पुनः यह कहा गया है कि निश्चय ही यह पुरुष अन्न रसमय है, अस्तु, यहाँ के वर्णन के अनुसार 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ही अन्न रसमय पुरुष है या उससे भिन्न, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **कार्याख्यानादपूर्वम् ॥३।३।१८॥**

व्याख्या : परब्रह्म का कार्य होने से यह अन्न रसमय पुरुष, पूर्वोक्त 'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' नहीं हो सकता अपितु अन्न का परिणाम भूत, यह जीवयुक्त मनुष्य शरीर ही वहाँ अन्न रसमय पुरुष के नाम से बताया गया है क्योंकि आकाशादि उत्पत्ति क्रम से, इस अन्न रसमय पुरुष को, ब्रह्म का कार्य बताया गया है और इसका अन्तरात्मा प्राणादि क्रम से विज्ञानमय जीवात्मा को कहा है। अन्न में

विज्ञानमय का आत्मा, आनन्दमय को निर्धारित करके ब्रह्म का पर्याय, उसको (आनन्दमय) माना है इसलिये जिसके सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूपतः धर्म है जो आत्मा और आनन्द नाम से, जगतकारण कहा गया है। वह परब्रह्म परमेश्वर इस अन्न रसमय पुरुष से सर्वथा भिन्न सबका अन्तरात्मा है, जैसे एक कमरा है, कमरे के भीतर एक बड़ा सन्दूक है, सन्दूक के भीतर एक बड़ा डिब्बा है और डिब्बे के भीतर एक स्वर्ण डिब्बी है तथा डिब्बी के भीतर एक अनमोल हीरा है यद्यपि हीरे के अंशभूत धन से ही गृह-कक्षादि का निर्माण हुआ है तो भी कमरे में हीरे के अंशभूत धन के स्थित होने पर भी, कमरे को हीरा नहीं कह सकते। हीरा उन सबसे सर्वथा भिन्न है और सबका कारण है। उसी प्रकार अन्नमयादि कोषों के विषय में समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने जिस प्रकार आप प्रथम दहर और प्राजापत्य नामक दोनों ब्रह्म विद्याओं की एकता सिद्ध कर आये हैं, उसी प्रकार एक शाखा में कही हुई, विद्याओं में क्या अन्तर नहीं होता, बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **समान एवं चाभेदात् ॥३।३।१९॥**

व्याख्या : एक ही शाखा में कही हुई (शत० ब्रा० १०।६।३।२) और बृह० उप० (५।६।१) की विद्याओं में कोई भेद नहीं है। दोनों में एकता है क्योंकि इनमें उपास्य का भेद नहीं है। दोनों स्थानों में एक ब्रह्म को उपास्य बताया गया है इसलिये जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या की एकता और गुणों का अध्याहार, एक स्थान से दूसरे स्थान पर कर लेना उचित माना गया है, वैसे ही एक शाखा में कही हुई, विद्याओं में एकता माननी चाहिये जैसे, एक ही विषय का अध्ययन कराने वाले विद्यालयों में एकता की स्पष्ट प्रतीति होती है, वैसे ही उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! इस विषय को लेकर पूर्व पक्षी क्या कहते हैं ?

वेदव्यासजी : **सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥३।३।२०॥**

व्याख्या : उक्त प्रकार सम्बन्ध का सामञ्जस्य बृह० उप० (५।५।१-२) में देखा जाता है। वहाँ पहले कहा गया है कि सत्य ही ब्रह्म हैं, पुनः इसी सत्य

(ब्रह्म) की एकता सूर्य-मण्डल में स्थित पुरुष के साथ और आँख में स्थित पुरुष के साथ बताई गई है, तदनन्तर दोनों का रहस्यमय नाम क्रमश: 'अहर' और 'अहम्' कहा गया है, अस्तु, इस प्रकरण में एक ही उपास्य का सम्बन्ध होने पर भी स्थान भेद से भिन्न-भिन्न दो उपासनायें कही गई हैं, अतएव इनमें भेद है या नहीं, यही पूर्व पक्षी का प्रश्न है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **न वा विशेषात् ॥३।३।२१॥**

व्याख्या : इन दोनों उपासनाओं की व्याख्या में स्थान और नाम पृथक-पृथक कहे गये हैं। सूर्य मण्डल स्थित सत्य पुरुष का रहस्यमय नाम 'अहर' है और नेत्र में स्थित सत्य पुरुष का रहस्यमय नाम 'अहम्' कहा गया है, अत: दोनों में स्थान और नाम का भेद होने से, इनमें परस्पर एकता नहीं मानी जा सकती और न एक के नाम व गुण का उपसंहार (संग्रह) दूसरे पुरुष में किया जा सकता जैसे, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की स्थिति दस स्थानों में बताई गई (दशावतारों में शास्त्र बताते हैं) सब में एक ही परब्रह्म परमात्मा की उपासना का ध्येय रख कर, उनके भिन्न-भिन्न रूप से चरित्र कहे गये हैं किन्तु परस्पर स्थान और नाम का भेद होने से, एक के लक्षण-गुण-धर्म आदि का अध्याहार, दूसरे में नहीं किया जा सकता क्योंकि एक के लक्षणों का उपसंहार, दूसरे में करने से, स्वरूप वैपरीत्यादि दोषों की उपस्थिति हो जायगी जैसे, वाराह अवतार में उनके बड़े-बड़े दाँत बड़े रोयें, विकराल मुख आदि लक्षणों का अध्याहार, मनुष्यावतार भगवाव में करें तो ठीक नहीं होगा, इसी प्रकार राम-कृष्ण अवतार में बहुत से यज्ञादि कर्म, दक्षिणादि ब्राह्मणों को देना तथा समय पर तीर्थ यात्रा को जाना आदि धर्मों का अध्याहार वाराह, नृसिंह, मत्स्य, कूर्म भगवान के साथ करें तो उचित न होगा क्योंकि स्थान और नाम का भेद है, वैसे ही उक्त विद्याओं का उपास्य एक होने पर भी, उनमें स्थान और नाम का भेद होने से, एक के गुणों का अध्याहार, दूसरे में नहीं हो सकता और न उनमें एकता ही सिद्ध होगी।

मुमुक्षु मुखेन : उक्त सिद्धान्त की पुष्टि श्रुति प्रमाण से भी हो सकती है क्या ?

वेदव्यासजी : **दर्शयति च ॥३।३।२२॥**

व्याख्या : जहाँ स्थान व नाम भेद हो, वहाँ एक स्थान पर कहे हुये, गुणों का संग्रह दूसरी जगह नहीं किया जाता है, यह वार्ता श्रुति में इस प्रकार दर्शायी गई है। छान्दो० उप० में अधिदैविक सामके प्रसङ्ग में सूर्यस्थ पुरुष के वर्णनोपरान्त, आध्यात्मिक सामके प्रसङ्ग में नेत्रस्थ पुरुष का वर्णन किया गया है और वहाँ सूर्यस्थ पुरुष के नाम-रूप आदि का, नेत्र में स्थित पुरुष में विधान करके, श्रुति ने स्वयं दोनों की एकता सिद्ध की है। छान्दो० उप० (१।७।५), इससे यह जाना जाता है कि विद्या की एकता होने पर भी एक स्थान से गुणों का अध्याहार करने का नियम नहीं है, जहाँ विद्या की एकता से गुणों का संग्रह करना अभीष्ट होता है, वहाँ श्रुति स्वयं विधान कर देती है जैसे, इसी सूत्र की व्याख्या में सूर्यस्थ पुरुष के गुणों का, नेत्र स्थित पुरुष में किया है जैसे एक ही परमार्थ वस्तु के अन्वेषक, परमार्थ में लगे हुये संत स्वभाव से युक्त दो महापुरुषों के गुणों का अध्याहार, दोनों में नाम स्थानादि का भेद होने पर भी, एक स्थान से दूसरे स्थान पर, आवश्यकतानुसार किया जा सकता है किन्तु साधारणतया नियम नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! नेत्रस्थ तथा सूर्यस्थ आदि पुरुषों में ब्रह्म के किन गुणों का उपसंहार नहीं किया जा सकता ?

वेदव्यास जी : **सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥३।३।२३॥**

व्याख्या : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान, द्युलोकादि अनन्त ब्रह्माण्डों के बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त करके स्थित हैं तथा द्युलोकादि सभी नीचे, ऊपर तथा मध्य के लोकों को धारण करने वाले हैं, यह गुण प्रतीक उपासना के लिये सीमित स्थानों में, स्थित कहे हुये पुरुष में नहीं पाये जाते हैं इसलिये ब्रह्म के सर्व व्यापकत्व और सर्वधारकत्व दोनों गुणों का अध्याहार, सूर्य मण्डलवर्ती पुरुष तथा नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष में नहीं करना चाहिये क्योंकि इनमें समस्त ब्रह्माण्डों में व्यापक होने की शक्ति तथा सबको धारण करने की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ परब्रह्म का पूर्ण वर्णन नहीं है, उन प्रतीकों में उक्त गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता। बृहदारण्यक में (३।८।३,४,७,८,९) में श्री याज्ञवल्क्यजी ने गार्गी के पूछने पर, परब्रह्म के सर्व व्यापकत्व और सर्व धारकत्व गुणों का वर्णन बृहद रूप से किया है, जो दृष्टव्य है जैसे, गौण रूप से पृथ्वी में अपने ऊपर स्थित जड़-चेतन, सभी प्राणी-पदार्थों को धारण करने की शक्ति है किन्तु पृथ्वी के इस धारकत्व गुण का

अध्याहार, किसी अवसर पर पृथ्वी की प्रतीक मूर्ति (चित्र या मिट्टी की, सोने की या हीरे ही की क्यों न हो) के साथ नहीं हो सकता क्योंकि प्रतीक मूर्तियों में सब के धारण करने की शक्ति नहीं होती।

मुमुक्ष् मुखेन : सूर्य मण्डलवर्ती तथा नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष के साथ परब्रह्म के व्यापकत्वादि गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता, यह वार्ता उचित है किन्तु पुरुष विद्या में बताये हुये, पुरुष गुणों का अध्याहार जहाँ-तहाँ अन्यत्र पुरुषों के वर्णन में कर लेना चाहिये या नहीं ?

वेदव्यासजी : **पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्** ॥३।३।२४॥

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (२।१।२ से १० तक) अक्षर ब्रह्म का पुरुष के नाम से वर्णन किया गया है। वहाँ पुरुष (अक्षर ब्रह्म) से जगत का उद्भव, पालन और प्रलय होना, उसी में कहा गया है तदनन्तर उसे दिव्य अमूर्त पुरुष कहा है। इस प्रकार जगत के सभी प्राणी-पदार्थों की उत्पत्ति पुरुष (ब्रह्म) से वर्णन करके अन्त में कहा है, वही तप, कर्म और 'अमृत ब्रह्म' है। हृदय गुफा में निहित इस अन्तर्यामी पुरुष को जो जानता है, वह यहीं इस मनुष्य शरीर में अविद्याजनित ग्रन्थि को नष्ट कर देता है। इस प्रकार पुरुष विद्या में, पुरुष के सर्वोत्पादकत्व, परापरत्व, सर्वव्यापकत्व तथा अविद्यानिवारकत्व, आदि जो दिव्य गुण कहे गये हैं, उनका भी अध्याहार, सूर्यस्थ व नेत्रस्थ आदि पुरुषों में तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का वर्णन, जहाँ पुरुष के नाम से किया गया है, वहाँ नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति में ब्रह्म जैसे गुणों का वर्णन कहीं भी, सूर्यस्थ आदि पुरुष का नहीं किया गया है, उनके प्रकरणों में सर्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान को लक्ष्य कराने के लिये, उनको पुरुष संज्ञा दी गई है जैसे, भैंस, बकरी, भेड़, गदही, ऊँटनी आदि सभी गृह-पशुओं तथा वन्य-पशुओं में और थूहा, अकवन आदि वृक्षों में भी दूध पाया जाता है, सभी की संज्ञा दुग्ध है, सभी का वर्ण श्वेत होता है किन्तु सुर-सुरभी कामधेनु के दूध के दिव्य गुणों का अध्याहार उपर्युक्त दूधों के साथ नहीं किया जा सकता क्योंकि भैंस आदि के दूध में, कामधेनु के दूध के दिव्य गुणों का सर्वथा अभाव है, वैसे ही उपर्युक्त विषय जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : इसी प्रकार कहीं अन्यत्र भी अध्याहार न करने का नियम है ?

वेदव्यासजी : **वेधाद्यर्थभेदात् ॥३।३।२५॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद (२।२।३) में कहा है कि सौम्य ! उपनिषद का सार भूत प्रणव (ओम्) रूप धनुष को लेकर, उसमें उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बुद्धि का बाण चढ़ाना चाहिये पुनः ब्रह्म भाव को प्राप्त हुये चित्त के द्वारा उस बाण को खींचकर, तुम परम अक्षर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को लक्ष्य बनाकर, उसी को बींधो। आगे के मन्त्र में 'शरोह्यात्मा' रूपक में आत्मा को ही बाण बनाया गया है। इस प्रकार ॐ ब्रह्म रूप लक्ष्य को, आत्म रूप बाण के द्वारा बींधने का आदेश दिया गया है। उसके वेधत्व आदि गुणों का तथा ओंकार रूप धनुर्भाव का और आत्मा के बाणत्व भाव का अध्याहार, वहाँ न करना चाहिये जहाँ ओंकार के द्वारा, परब्रह्म की उपासना करने का प्रकरण हो क्योंकि यहाँ परमात्मा के चिन्तन-ध्यान में तन्मयता का स्वरूप समझाने के लिये उक्त रूपक लिया गया है, इसलिये इस प्रकार के कल्पनात्मक रूपों की बात जहाँ हो, उनका ग्रहण अन्य ब्रह्म-विद्याओं के साथ अनुपयुक्त है जैसे, मानसिक पूजन की मनोमयी महान दिव्य पूजन सामग्री का अध्याहार, नित्य प्रत्यक्ष मूर्ति के पूजन की विधि में करना असंगत है क्योंकि मनोमय साम्राज्य असीम है तथा प्रत्यक्ष शालीग्राम भगवान की पूजा, सीमित वस्तुओं के द्वारा शक्ति के अनुसार ही होना संभव है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ब्रह्म विद्या के फल में भेद है या नहीं ? कहीं श्रुतियों में ब्रह्म विद्या का फल, दुःख-शोक-बन्धन तथा कर्मों की निवृत्ति कही गई है और कहीं परम समता, परमधाम और परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति बताई गई है, इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥३।३।२६॥**

व्याख्या : जिस श्रुति में केवल प्रकृति सम्बन्ध व प्रकृति जन्य दोषों की हानि ही कही गई हो, वहाँ ब्रह्म विद्या के फल श्रुति में, ब्रह्म विद्या के परम फल स्वरूप, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति जो अन्यत्र श्रुति में कही गई है, उसका अध्याहार कर लेना चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या की फल श्रुति में, जहाँ केवल ब्रह्म प्राप्ति, परमधाम प्राप्ति मात्र कही गई है, वहाँ अन्यत्र कही हुई प्रकृति संबंध

व प्रकृति जन्य दोषों के हानि विषयक वाक्यों व शब्दों का अध्याहार कर लेना चाहिये। दृष्टान्त रूप से कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान की भाँति, इस वार्ता को समझ लेना चाहिये। पूर्व मीमांसा में उक्त कुशादि चारों के वर्णन में एक जगह से दूसरी जगह आवश्यक अध्याहार कर लेने की प्रक्रिया देखी जाती है। छान्दों० उप० (५।२४।३) कठ० उप० (१।२।१२) मुण्ड० उप० (२।१।१०) श्वेता० उप० (१।१२।२१) आदि में अविद्यादि दोषों की हानि, मृत्यु की हानि, कर्म बीजों का नाश, शोक-मोह की हानि इत्यादि बातें, ब्रह्म विद्या के फल श्रुति में कहीं गई हैं और मुण्ड० उप० (३।२।८) मुण्ड० उप० (३।२।४) मुण्ड० उप० (३।२।६) और छान्दो० उप० (४।१५।५) आदि के श्रुतियों में ब्रह्म विद्या की फल श्रुति में, ब्रह्म-धाम की प्राप्ति, ब्रह्म में लीन होना, ब्रह्म लोक में अमृत स्वरूप होना और ब्रह्मलोक से पुनः न लौटना बताया गया है, अस्तु, परस्पर उक्त प्रकारेण, एक स्थान से दूसरे स्थान में, वाक्य-शेष का अध्याहार कर लेना चाहिये जिससे ब्रह्म विद्या के फल में कोई विकल्प व फल भेद न रहे जैसे, कौषीतकि शाखा में, सामान्यतः वनस्पति मात्र की कुशा लेने को कहा है परन्तु शाट्यायन शाखा में उसके स्थान पर गूलर के काठ की बनी हुई कुशा लेने को कहा है, इसलिये उनका यह वचन कौषीतकि शाखा के सामान्य वचन का वाक्य शेष माना जाता है और दोनों शाखाओं में उसे स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार एक शाखा वाले समान भाव से कहते हैं 'छान्दोभिः स्तुवीत' (देव-असुरों के) छन्दों द्वारा स्तुति करें किन्तु पैङ्गी शाखा वाले विशेष रूप से क्रम निश्चित करते हैं कि 'देवों के छन्द प्रथम बोलने चाहिये, अतः उस क्रम को पूर्व कथन का वाक्य शेष मानकर सभी स्वीकार करते हैं। इसी तरह 'षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' (षोडषी का स्तवन करे) किसी शाखा का सामान्यतः कथन है, परन्तु तैत्तरीय शाखावाले इस कर्म को ब्रह्मबेला(तारे छिपने के बाद, सूर्योदय के प्रथम) में करना कर्त्तव्य बतलाते हैं, अतः यह काल विशेष का नियम पूर्व कथित वाक्य का शेष समझकर सबको मान्य है। इसी प्रकार एक शाखा वाले, स्तुति गान के विषय में सामान्यतः कहते हैं कि 'ऋत्विज उपगायन्ति' ऋत्विज लोग स्तोत्र गान करें, परन्तु दूसरी शाखा वाले कहते हैं कि 'नाध्वर्युरूप गायति' अध्वर्यु को स्तोत्र गान नहीं करना चाहिये, अतः इसे भी वाक्य-शेष समझकर सब स्वीकार करते है कि अध्वर्यु को छोडकर, सभी ऋत्विजों को स्तोत्र गान करना चाहिये। उसी प्रकार जहाँ दोष-हानि की बात हो, वहां ब्रह्म-प्राप्ति की वार्ता और जहाँ ब्रह्म-विद्या के फल श्रुति में केवल ब्रह्म प्राप्ति ही कही गई हो, वहाँ प्रकृति सम्बन्ध व प्रकृति-दोषों की हानि को वाक्य-शेष

समझकर, संग्रह कर लेना चाहिये ।

मुमुक्ष् मुखेन : मुने ! देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को जाने वाले महा-पुरुष तो अपहृतपाप्मा होकर ही गमन करते होंगे किन्तु पुण्यकर्म तो साथ ही रहते होंगे क्योंकि वहाँ शुभ-कर्मा ही पहुँच पाते होंगे ।

वेदव्यासजी : **साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥३।३।२७॥**

व्याख्या : ब्रह्म धाम की प्राप्ति पुण्य कर्मों से नहीं अपितु ब्रह्मज्ञान से होनी, श्रुतियों में बताई गई है इसलिये ज्ञानी के लिये अपने किये हुये पुण्य कर्मों के फल (भोग) स्वरूप परलोक (ब्रह्मलोक) यात्रा नही कही जा सकती, अतः संसार से पार होकर, भगवद्धाम जाने योग्य कोई कर्म-फल शेष नहीं रहते अर्थात् ब्रह्म प्राप्त पुरुष के उभय कर्म यहीं समाप्त हो जाते हैं। अन्य शाखा वालों की भी यही मान्यता है। बृह० उप० (४।४।२२) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'उभे उ हैवैष एते तरति' अर्थात् यह ज्ञानी निश्चय यहाँ ही पुण्य-पाप से पार हो जाता है अर्थात् शरीर त्यागने के बाद, उसका शुभाशुभ कर्मों से कोई सम्बन्ध रह नहीं जाता क्योंकि ज्ञानी पुरुष, कर्तापन के अभिमान से रहित आसक्ति और कर्म फल की कामना का सहज त्याग करके ही ब्रह्मविद होते हैं, अस्तु, उन्हें करने न करने तथा ग्रहण-त्याग और पुण्य-पाप से कोई लगाव व प्रयोजन नहीं रहता। प्रकृतिवश वे कुछ करते हुये भी, कुछ नहीं करते, इसलिये उनके संचित और क्रियामाण कर्म यहीं रह जाते हैं अर्थात् कर्म-बीज ही समाप्त हो जाते हैं। यही बात मुण्ड० उप० (३।१।३) में भी कही गई है कि 'तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य मुपैति' ब्रह्मधाम जाते समय ज्ञानी पुरुष पुण्य और पाप दोनों का त्याग करके निर्मल हो, परम साम्य स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जैसे विवाहोपरान्त पति-घर जाते समय कन्या पितृ-गृह ही में कन्यात्व और कन्यावेष दोनों छोड़ देती है, तदनन्तर पालकी में चढ़कर, श्वसुरालय को प्रस्थान करती है, वैसे ही ब्रह्मलोक यात्रा विषयक वार्ता समझनी चाहिये ।

मुमुक्ष् मुखेन : मुने ! ब्रह्मज्ञान से शुभाशुभ कर्मों का विनाश तथा ब्रह्म-प्राप्ति तत्काल यहीं हो जाती है, तो देवयान मार्ग से जाकर ब्रह्मलोक में ब्रह्म-प्राप्ति रूप फल मिलने की बात क्यों कही गई ?

वेदव्यासजी : **छन्दत उभयथाविरोधात् ॥३।३।२८॥**

व्याख्या : ज्ञानी पुरुष के संकल्पानुसार, यहाँ ही ब्रह्म सायुज्यभाव को प्राप्त होने और ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मदर्शन करने के संकल्प से देवयान मार्ग से ब्रह्म-लोक जाने की, इन दोनों स्थितियों में कोई विरोध नहीं है। इसलिये ब्रह्मलोक में जाने का विधान, देवयान मार्ग द्वारा श्रुतियों में कहा गया है, जिस ज्ञानी पुरुष का संकल्प साधन काल से यह हो जाता है कि हम यहीं ब्रह्मभाव को (सायुज्य स्थिति) प्राप्त हो जांय, उसे कहीं जाना नहीं पड़ता, वह यहीं ब्रह्मभाव में देह त्याग के पश्चात् स्थित हो जाता और जिसका संकल्प ब्रह्मलोक में जाकर, ब्रह्म दर्शन का होता है, वह शरीर शान्त होने पर, देवयान मार्ग से जाकर ब्रह्मधाम की प्राप्ति करता है, जहाँ से लौटकर पुनः आना नहीं होता जैसे किसी राजभृत्य की इच्छा होती है कि हम अपने नगर के राजकार्यालय में ही राज-सेवा करते रहें तो राजा अपने निर्मल भृत्य के संकलपानुसार, उसे उसके ग्राम वाले राज-कार्य की सेवा में नियुक्त कर देता है और किसी भृत्य की प्रबल इच्छा यह होती है कि हम राजधानी में रहकर, राज-सेवा करें तो राजा उसे अपनी राजधानी में वास देकर, अपनी सेवा में नियुक्त कर देता है, उसी प्रकार उक्त दोनो ब्रह्मज्ञानी की स्थितियों को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! बिना ब्रह्मलोक गये, यहाँ ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति मान ली जाय, तो क्या आपत्ति है ?

वेदव्यासजी : **गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥३।३।२९॥**

व्याख्या : कठ० उप० (२।३।१४-१५) की श्रुति में तत्काल ही ब्रह्म की प्राप्ति होना कहा है और मुण्ड० उप० (३।२।६) की श्रुति में देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक जाने पर ब्रह्म-प्राप्ति कही गई है, अस्तु, दोनों प्रकार से ब्रह्म-प्राप्ति की व्यवस्था नहीं स्वीकार करने पर, दोनों स्थितियों की निर्देशिका श्रुतियों में विरोध उत्पन्न होगा और गति बोधक (देवयान मार्ग द्वारा जाकर ब्रह्मधाम में प्राप्ति परक) श्रुति की सार्थकता तभी सिद्ध होगी जब उसको स्वीकार कर, उसमें श्रद्धा विश्वास किया जायगा, इसलिये दोनों प्रकार से ब्रह्म-प्राप्ति मानना सर्वथा उचित है जैसे, कोई सिद्ध योगी अपने आसन पर बैठा हुआ, ध्यानस्थ होकर संकल्पापुसार कैलाश पर्वत का दृश्य दर्शन कर लेता है और तदाकार बन जाता है, कोई योगी अपनी सिद्धि की शक्ति से, सशरीर मार्ग के दृश्यों को देखता हुआ, अपने संकल्प से बात

की बात में कैलाश पर पहुँच जाता है और दिव्य दृश्यों का दर्शन, मंदाकिनी, गंगा का अवगाहन तथा श्री महेश्वर भगवान भोलेनाथ व जगज्जननी पार्वती जी का दर्शन, कृपा, स्नेह और सेवा प्राप्त करता है, इसी प्रकार उपर्युक्त श्रुति सम्मता ब्रह्म-प्राप्ति की दोनों स्थितियों को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन: : मुने ! दूसरे प्रकार से उक्त वार्ता को पुष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३।३।३०॥**

व्याख्या : ब्रह्म-प्राप्ति की मात्र कामनावाले (अनन्य प्रयोजन वाले) साधन-सिद्ध पुरुषों को देवयान मार्ग द्वारा, ब्रह्मधाम जाने का कथन, जहाँ श्रुतियों में किया गया है, वहाँ ही ब्रह्म-लोक जाने की सूक्ष्म शरीरादि उपकरण सामग्रियों का भी वर्णन है। प्रश्नोपनिषद (३।१०) में बताया गया है कि यह जीवात्मा जिस संकल्प वाला होता है, उसी के अनुसार मुख्य प्राण में स्थित हो जाता है। मुख्य प्राण, उदान में स्थित हो मन, इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा को, उसके संकल्पानुसार लोक में ले जाता है। इसी प्रकार छान्दो० उप० (५।१०।१-२) में अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होता हुआ, ब्रह्मलोक में ब्रह्म-प्राप्ति, जीवात्मा करता है, कहा गया है। इस प्रकार सब कर्मों के अभाव से, कारण शरीर का अभाव होकर, उसको दिव्य देह (सच्चिदानन्दात्मक विग्रह) की प्राप्ति कही गई है परन्तु जिन ज्ञानी पुरुषों की स्थिति भावातीत हो चुकी है, तुरीया स्वरूप बन गई है, ब्रह्म-प्राप्ति, ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-प्राप्ता की त्रिपुटी का विनाश हो चुका है, ऐसे संकल्पहीन, आप्तकामातीत विज्ञानी को, आने-जाने का संकल्प समाप्त होने के कारण, कहीं नहीं जाना पड़ता। यहां ही उसका ब्रह्मभाव, ब्रह्म में उसी प्रकार मिल जाता है जैसे, घट के फूट जाने से, घटाकाश बिना आये-गये महदाकाश में मिल जाता है। बृह० उप० (४।४।६) में यह सिद्धान्त देखा जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि साधक के संकल्पानुसार श्रुतियों में दो स्थितियों से ब्रह्म-प्राप्ति का वर्णन सर्वथा उचित है। लोक में भी देखा जाता है कि अन्यत्र प्रवास में जाने वाले यात्री से साथ, यात्रोपयोगी संबल रहता ही है, उसी प्रकार देवयान मार्ग से, ब्रह्म-धाम जाने वाले ज्ञानी पुरुष सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह से युक्त हो ब्रह्म-धाम की प्राप्ति करते हैं और वहाँ सगुण-साकार परब्रह्म का साक्षात् दर्शन, स्नेह पाकर

कृतकृत्य होकर, ब्रह्मानन्द, परमानन्द, प्रेमानन्द, सेवानन्द, अमृतानन्द का पान करते हैं 'यथा सर्वकामान् श्नुते ब्रह्मणा सह विपश्चित:'।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सभी ब्रह्मवेत्ता देवयान मार्ग से जाकर ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं या जिस उपासना द्वारा देवयान मार्ग से जाने को श्रुति ने बताया है, वही उपासना वाले जाते हैं, अन्य नहीं ?

वेदव्यासजी : **अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३।३।३१॥**

व्याख्या : श्रुति में कई स्थान पर परब्रह्म धाम की प्राप्ति, देवयान मार्ग से जाकर कही गई है और कहीं-कहीं ब्रह्म-प्राप्ति का वर्णन तो है किन्तु वहाँ देवयान-मार्ग की चर्चा नहीं की गई है, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जहाँ देवयान-मार्ग का कथन नहीं है, वहाँ की उपासना पद्धति वाले, देवयान से न जाते होंगे, सभी ब्रह्मधाम को प्राप्त करने वालों के लिये, देवयान मार्ग कहा गया है, अस्तु, जहाँ ब्रह्म-प्राप्ति के कथन में देवयान-मार्ग की बात न आई हो, वहाँ भी अन्यत्र वर्णित देवयान मार्ग का ग्रहण कर लेना चाहिये, अतः यह नियम नहीं है कि जहाँ देवयान मार्ग का वर्णन हो, वहां के प्रकरण में कही उपासना करने वाले ही देवयान मार्ग से ब्रह्मधाम जाते हैं। सभी प्रकार के उपासक जो ब्रह्मधाम जाकर ब्रह्म-प्राप्ति करते हैं, वे देवयान मार्ग से ही जाते हैं, यही ब्रह्मवेत्ताओं का विनिश्चय है, जैसे गंगासागर जाने वाले कई यात्री कहते हैं कि हम कलकत्ता से गंगासागर गये थे और कई यात्री कहते हैं कि हम कलकत्ता से जलयान के द्वारा, गंगासागर गये थे, अतः जो यात्री यह चर्चा नहीं किये कि हम जल-जहाज द्वारा कलकत्ता से गंगासागर यात्रा किये थे, उन्हें भी जलयान से ही गंगासागर गया समझना चाहिये क्योंकि कलकत्ता से गंगासागर जाने के लिये, अन्य साधन संभव ही नहीं है, उसी प्रकार सभी ब्रह्मधाम प्राप्त करने वाले ज्ञानी पुरुषों को देवयान मार्ग से ही जाना समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जो जीवनमुक्त वशिष्ठ और व्यास आदि ऋषि प्रवर हैं, उन्हें ब्रह्मधाम जाने के लिये अर्चि मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है कि वे इसी शरीर से ब्रह्म लोक जा सकते हैं ;

वेदव्यासजी : **यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३।३।३२॥**

व्याख्या : जो वशिष्ठ, व्यास आदि महापुरुष, परब्रह्म परमेश्वर की आज्ञा

से अधिकार प्राप्त लोक कल्याण के लिये, समय-समय पर धरा धाम में आते हैं, वे साधारण जीवों से दिव्य व विलक्षण होते हैं, वे इच्छानुसार शरीर धारण करने में समर्थ होते हैं, जितने दिन के लिये अधिकार, परमेश्वर से लेकर यहाँ आते हैं, उतने समय तक यहाँ लोक-सेवा में तत्पर रहते हैं। आवश्यकतानुसार सभी लोकों में, उनका आना-जाना बिना बन्धन के स्वतन्त्रता पूर्वक होता रहता है तथा ब्रह्म-धाम जाने के लिये उन्हें अर्चिरादि मार्ग के देवताओं की सहायता की आवश्यकता नहीं होती है। अन्त समय में वे परब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जैसे सूर्यास्त समय में सूर्य की किरणें सूर्य के अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाती हैं। परमात्मा के अवतार जैसे निर्पेक्ष लोक में अवतरित होकर कार्य करते हैं और अन्त में उन्हें अर्चिमार्ग के देवताओं की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही अधिकार प्राप्त महापुरुषों के विषय की वार्ता भी समझनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे! परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के निर्गुण-निराकार-निर्विशेष आदि लक्षणों का अध्याहार, सभी स्थानों के परब्रह्म विषयक वर्णनों के साथ कर लेना चाहिये या नहीं?

वेदव्यासजी : **अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद-वत्तदुक्तम् ॥३।३।३३॥**

व्याख्या : अक्षर परब्रह्म के निर्गुण, निराकार, निर्विशेष आदि प्रबोधक लक्षणों का अध्याहार, सर्वत्र ब्रह्म विषयक वर्णन के साथ कर लेना सर्वथा उचित है क्योंकि ब्रह्म के सगुण-निर्गुण स्वरूप का लक्ष्य कराने वाले सभी विशेषण समान हैं और सभी परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को समझाने वाले हैं इसलिये कर्म-संबंधी मन्त्रों की भाँति, उनका अध्याहार कर लेना उचित है, यह वार्ता श्रुतियों में बताई गई है। बृह० उप० (३।८।८) मुण्ड० उप० (१।१।५-६) में निर्गुण निराकार एवं सगुण-साकार ब्रह्म के विशेषण बतलाये गये हैं, उनको ब्रह्म के वर्णन में सभी स्थान पर ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि सभी परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को, अपने भाव व संकेत से समझाने वाले हैं, जैसे बिन्दु (.) न छोटी है न लम्बी है न चौड़ी है न सकरी है इत्यादि शब्द बिन्दु (.) के विशेषण हैं, इनके द्वारा बिन्दु का स्वरूप समझा जा सकता है अतः जहाँ बिन्दु विषयक वार्ता हो, वहाँ इन विशेषणों का ग्रहण, बिन्दु को समझने के लिये सर्वथा उचित है, वैसे ही उक्त विषय को

समझें ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! मुण्ड० उप० (३।१।१) व श्वेता० उप० (४।६) में पक्षी का उदाहरण देकर, जीव और ईश्वर को मनुष्य के हृदय में स्थित कहा है और कठोपनिषद में छाया-धूप की भाँति, जीव-ईश्वर को मनुष्य के हृदय में स्थित कहा है, अत: उक्त श्रुतियो में जिस विद्या व विज्ञान का वर्णन है, उसमें परस्पर भेद है या अभेद ?

वेदव्यासजी : **इयदामननात् ।।३।३।३४।।**

व्याख्या : मुण्डक और श्वेताशतर में कहा गया है, एक ही शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर, दो पक्षी (जीवात्मा-परमात्मा) निवास करते हैं। उनमें एक तो वृक्ष में आसक्त रहता हुआ, उसके फलों को (कर्म-फल के स्वरू के सुख-दु:खों को) खाता है और दूसरा न वृक्ष में आसक्त रहता और न उसके फलों को ही खाता, साक्षी मात्र केवल देखता रहता है । इस प्रकार यह जीवात्मा देहाभिमानी व देहासक्त होकर असमर्थ और माया से मोहित बना रहता है । यदि यह, भक्तों से सेव्यमान अपने परम सुहृद परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को अपने पास ही देख ले तो इसके सारे असहय कष्ट तत्क्षण दूर हो जांय । कठोपनिषद में भी कहा है कि परब्रह्म परमेश्वर के उत्तम निवास स्थान, मनुष्य शरीर के हृदय गुहा में छिपे हुये तथा स्वस्वरूप का अनुभव करने वाले दोनों (जीव-ईश्वर) हैं जो छाया और धूप की भाँति भिन्न स्वभाव वाले हैं ऐसा ब्रह्मवेत्ताओं का कथन है । इन सभी स्थानों में द्विवचनांत शब्दों का प्रयोग करके, जीव और ईश्वर का निवास हृदय गुफा में बतलाया गया है । इससे सिद्ध होता है कि तीनों श्रुतियों में कही हुई विद्या एक है। इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित विद्याओं में भी, जहाँ हृदय में स्थित जीव और ईश्वर की बात आई हो, वहाँ एकता का ही दर्शन करना चाहिये, जैसे जहाँ भी पिता-पुत्र के धर्म का विवेचन किया गया हो, चाहे प्रकरण व वक्ता तथा शास्त्र में भिन्नता क्यों न हो, वहाँ पिता-पुत्र का धर्म बताने वाली एक ही विद्या का वर्णन समझा जाता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुतियों में जो आत्मारात्मा कहा गया है, वह जीवात्मा के अर्थ में हैं या परमात्मा के । बृह० उप० (३।४।१-२) तथा (३।५।१)

में श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने जनक जी की सभा में चक्रायण के पुत्र उषस्त और कहोल ऋषि से कहा है कि जो तेरा अन्तरात्मा है, वही सबका अन्तरात्मा है, अतः उसे समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥३।३।३५॥**

व्याख्या : जिस प्रकार भूतसमुदाय में पृथ्वी का अन्तरात्मा जल है, जल का तेज तथा तेज का वायु है और वायु का आकाश है। उसी प्रकार समस्त जड़ तत्वों का अन्तरात्मा जीवात्मा है और जो जीवात्मा के अपने आत्मा का अन्तर्यामी है, वही सबका अन्तरात्मा है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है, सबके अन्तरात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही हैं, जीवात्मा सबका अन्तर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि उसका अन्तरात्मा भी परब्रह्म परमात्मा है, ऐसा याज्ञवल्क्यजी ने वहाँ पर कहा है तथा प्रत्येक वाक्य के अन्त में यह कहा है कि 'यही तेरा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा है'। श्वेता० उप० (६।११) में भी कहा गया है कि समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, यह एक देव सर्वव्यापी और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है। सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सबका निवास स्थान, सर्वसाक्षी सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है, इसलिये सबका अन्तरात्मा परमात्मा ही है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! इस प्रकार के वर्णन से तो जीवात्मा और परमात्मा में उपाधिकृत भेद न मानकर, वास्तविक भेद मान लेना सिद्ध होता है, अस्तु, अन्य स्थान की भाँति अभेद की सिद्धि नहीं होगी ?

वेदव्यासजी : **अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३।३।३६॥**

व्याख्या : जिस प्रकार अन्य स्थानों पर कार्य-कारण भाव से परब्रह्म परमात्मा के साथ समस्त जड़-स्वरूप प्रकृति-प्रपञ्च और जीवात्मा का अभेदत्व सिद्ध किया गया है, तदनुसार यहां भी अभेद की सिद्धि हो जायगी, जैसे छान्दोग्योपनिषद (६।८।१ से ६।१६।३ तक) में श्वेतकेतु को उसके पिता ने मिट्टी, लोहा, सोना आदि नव दृष्टान्तों के द्वारा कार्य-कारण की एकता सिद्ध करके कहा था कि यह जो अणिमा अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्म परमात्मा है, इसी का स्वरूप समस्त जगत है, वही सत्य है, वही आत्मा है और वह तू है अर्थात् कार्य कारण की भाँति

तेरी और उसकी एकता है। इसी प्रकार सब स्थानों में जान लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यदि जीवात्मा और परमात्मा का उपाधिकृत भेद और वास्तविक अभेद मान लिया जाय तो क्या हानि होगी ?

वेदव्यासजी : **व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥३।३।३७॥**

व्याख्या : (ऐ० आ० २।४।३) में श्रुति का कथन है कि 'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्।' अर्थात् 'जो मैं हूँ, सो वह है और जो वह है, सो मैं हूँ तथा वराहोपनिषद (२।३४) में श्रुति वाक्य हैं, 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' अर्थात् 'हे भवगन् ! हे देव ! निश्चय ही 'तुम' मैं हूँ और मैं तुम हो'। इस प्रकार व्यतिहार तथा अर्थात् एक में दूसरे के धर्मों का विनिमय (एक में दूसरे के धर्मों का विशेषतम् प्राचुर्य) करते हुये एकता का वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतिपादन उन्हीं स्थानों पर किया जाता है, जहाँ इतर वस्तु की भाँति, भेद होते हुये भी प्रकारान्तर से, अभेद बतलाना आवश्यक हो, जैसे छान्दों० उप० (१।५।१) की श्रुति में देखा जाता है, 'अथ खलु य उग्दीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उग्दीथः।' अर्थात् निश्चय ही जो उग्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है वह उद्गीथ है। यहाँ पर प्रणव और उद्गीथ में भेद होने पर भी उपासनार्थ श्रुति ने व्यतिहार वाक्य से दोनों की एकता सिद्ध की है। तदनुसार उक्त वर्णन में भी उपासना सिद्धयर्थ, परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता कही गई है। कहा है, 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' मन्त्रों में न्यास आदि का विधान भी तदाकार होकर, ध्यान आदि करने के लिये है, जिससे इष्ट देवता का सम्प्रयोग शीघ्र सिद्ध हो जाय। जहाँ उपाधिकृत भेद होता है, वहाँ इस प्रकार का कथन असंगत होता है इसलिये जीवात्मा का परमात्मा के साथ उपाधिकृत भेद नहीं कहा जा सकता और न वास्तविक अभेद ही कहते बनता। अगले सूत्र में इसका प्रतिपादन किया जायगा, जैसे मिट्टी के घट आदि नाना प्रकार के बर्तन बनते हैं, विचार करने पर मिट्टी और मिट्टी के बर्तन में कारण-कार्य भाव से एकता है और घटादि रूप उपाधि हट जाने पर, घट मिट्टी के रूप में बदल जाता है, इस प्रकार घटादि रूप उपाधि हट जाने पर, घट मिट्टी के साथ उपाधि कृत भेद है और उपाधि हट जाने पर अभेद है किन्तु जीव में ब्रह्म के साथ उपाधिकृत भेद नहीं है, सहज अचिन्त्य भेद है अर्थात् कारण शरीर रूप उपाधि हट जाने पर भी जीव, परब्रह्म पुरुषोत्तम नहीं बन जाता (जीव और ब्रह्म

में भेद स्वरूपतः बना रहता है, आत्यन्तिक अभेद नहीं हो पाता, कारण-कार्य भाव से ही श्रुति एकता का वर्णन करती है, वास्तविक अभेदता सिद्ध नहीं होती, इसका भी वर्णन श्रुति के द्वारा किया गया है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से औपाधिक भेद की मान्यता का निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३८॥**

व्याख्या : परमात्मा और जीवात्मा का औपाधिक भेद तथा वास्तव में आत्यान्तिक अभेद मानने पर, पूर्वसूत्र जैसी अनुपपत्ति इस सूत्र में भी प्रकारान्तर से दिखाई जाती है। वह यह कि जहाँ भी परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का वर्णन श्रुति में किया गया है, वहाँ उसे सत्यकाम, सत्य संकल्प, अपहृत पाप्मा, विज्वर, विशोक, अमृत, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, सर्व समर्थ, सर्वाधार और सबका परम कारण कहा गया है। ये सत्यकामादि धर्म जीवात्मा के धर्मों से सर्वथा विलक्षण हैं। जीवात्मा में इनका पूर्ण रूप से सहज होना संभव नहीं है, जब परमात्मा और जीवात्मा के धर्मों में सहज सादृश्य का अभाव है, तब दोनों का अत्यन्त अभेद सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये जीवात्मा और परमात्मा का उपाधिकृत भेद मानना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब जीव-ब्रह्म का अभेदत्व ही सिद्ध नहीं हो रहा है, तब उपाधिकृत भेद असिद्ध ही रहेगा। उपाधिकृत भेद तब सिद्ध हो सकता था, जब उपाधि के हटने से अत्यन्त अभेद सिद्ध हो जाता। जैसे गंगा का मीठा पानी, समुद्र के खारे पानी से सर्वथा विलक्षण है, खारे पानी से नमक भाग निकालने पर भी, गंगा के सहज मीठे पानी के गुणों से, उसमें कुछ हेयता स्वाभाविक बनी रहेगी अर्थात् उपाधि हटने पर भी अत्यन्त अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। तब दोनों में औपाधिक भेद और उपाधि के हटने पर अत्यन्त अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है, उसी प्रकार उक्त रहस्य को समझें।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी का कथन है कि परब्रह्म के सत्यकामादि गुण उपाधि के सम्बन्ध से हैं अन्यथा ब्रह्म का स्वरूप निर्विशेष है इसलिये इन धर्मों के कारण, जीव से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

वेदव्यासजी : **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३।३।३९॥**

व्याख्या : वेद वेद्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के जो सत्य कामत्व, सर्व संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्व धारकत्वादि दिव्य गुण वेदों में वर्णित हैं, उन सब कल्याण गुण-गणों का वर्णन वहाँ भी है, जहाँ श्रुति निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करती है। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्यजी ने गार्गी से, जहाँ अक्षर स्वरूप परब्रह्म का वर्णन किया है, वहाँ पहले 'अस्थूलमनणु' अर्थात् वह ब्रह्म न स्थूल है, न सूक्ष्म है इत्यादि प्रकार से निर्विशेष ब्रह्म के लक्षणों का विवेचन करके अन्त में कहा है कि 'इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा धारण किये हुये हैं तथा इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी धारण किये हुये हैं। इस प्रकार बृह० उप० (३।८।८-९) में अक्षर परब्रह्म को, समस्त जगत का धारक अर्थात् आधार कहा गया है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद (१।१।६) में 'जानने में न आने वाला' पकड़ में न आने वाला कहकर, अक्षर ब्रह्म के निर्विशेष रूप का वर्णन किया गया है और अन्त में उस अक्षर ब्रह्म को नित्य, विभु, सर्वगत अतिसूक्ष्म और समस्त प्राणियों का कारण कहकर, उसे विशेष धर्मों से सम्पन्न भी बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा युगपद निर्विशेष और सविशेष धर्मों का आश्रय है अर्थात् सर्वधारकत्व सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्वादि दिव्य गुण परब्रह्म परमात्मा के निरुपाधिक हैं, अतः जहाँ के वर्णन में सविशेष धर्म कम हो, वहाँ उन गुणों का अध्याहार दूसरी जगह से कर लेना चाहिये। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में उक्त स्वाभाविक गुणों की समानता न होने से, उनमें सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है, जैसे लौकी एक होते हुये भी गुण में दो प्रकार की होती है किन्तु उनमें गुण की समानता न होने से अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी कहा करते हैं कि यदि जीव-ब्रह्म का भेद उपाधिकृत नहीं माना जायगा, तो अनेक दृष्टाओं के मानने का दोष उपस्थित हो जायगा क्योंकि श्रुति निर्देशानुसार परमेश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य दृष्टा नहीं है।

वेदव्यासजी : **आदरादलोपः ॥३।३।४०॥**

व्याख्या: जहां यह कहा गया है कि इसके अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, वहां पुरुषोत्तम भगवान का सर्व परतत्व सर्व प्रेरकत्व आदि दिखाने के लिये (आदरार्थ) है, अन्य के दृष्टापन का निषेध नहीं है। श्रेष्ठ द्रष्टा वास्तव में परमात्मा ही है, जीव गौण रूपेण द्रष्टा है क्योंकि उसमें देखने की शक्ति, ईश्वर की शक्ति व प्रेरणा से ही प्राप्त है। प्रलय समय में जीव न किसी को देखता और न सुनता कि

बहुना स्वयं को नहीं जानता, उस समय एक परब्रह्म परमेश्वर अपने अखण्डज्ञानैक रस स्वभाव से सभी जड़-चेतनात्मक अनंत जीवों के अनन्तानन्त कल्पों के अनन्तानन्त जन्मों के अनन्तानन्त शुभाशुभ कर्मों का ज्ञान, बिना ध्यान के जानता है, इसलिये परब्रह्म ही पूर्ण द्रष्टा है। अन्य का द्रष्टापन उनके समक्ष नहीं के समान है, जो है, वह ईश्वर की सकाशता व इच्छा से है, स्वतन्त्र नहीं। ऐत० उप० (१।३।११) तथा प्रश्न उप० (४।९) में उक्त तथ्यों का प्रमाण द्रष्टव्य है। अग्निदेव तथा वायुदेव सामर्थ्यशाली होते हुये भी, यक्ष रूपधारी परब्रह्म को स्वशक्ति-प्रवाह के रुक जाने पर, एक सूखे तिनके को न जला सके और न उड़ा सके, अन्त में हतप्रभ होकर, इन्द्र के पास लौट आये तथा इन्द्र के पूछने पर, यक्ष का परिचय न बता सके, अस्तु अल्प शक्तिवाले मनुष्यादि की क्या कथा कही जाय। अगर जीव स्वतन्त्र द्रष्टा होता तो असंख्य जन्मान्ध अपनी आखों से दृश्य का दर्शन करने लगते।

मुमुक्षु मुखेन : उपर्युक्त कथन को प्रकारान्तर से सिद्ध करने की कृपा हो प्रभो !

वेदव्यासजी : **उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥३।३।४१॥**

व्याख्या : बृह० उप० (३।७।२३) में जहां परमात्मा से अतिरिक्त अन्य द्रष्टा–श्रोता आदि का निषेध है, वह कथन परमात्मा के आदरार्थ ही है क्योंकि उस वर्णन में बार-बार 'अत:' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे यही सिद्ध होता है कि परमात्मा ही सर्व श्रेष्ठ द्रष्टा है तथा सर्वश्रेष्ट श्रोता है, जैसे यह कहा जाय कि रामदत्त के समान कोई विद्वान नहीं है, अस्तु, इसका अर्थ यही होता है कि रामदत्त सर्व श्रेष्ठ विद्वान है। यह मतलब नहीं होता कि संसार में अन्य विद्वान हैं ही नहीं। यहाँ रामदत्त की श्रेष्ठता दर्शाने के लिये आदर सूचक वाक्य है, तदनुसार उक्त अर्थ को समझना चाहिये। जीवात्मा को परमात्मा का शरीर और परमात्मा को जीवात्मा का अन्तर्यामी वेद में बताया गया है, अत: यदि अन्य द्रष्टा का निषेध होता तो दोनों श्रुतियों की संगति कैसे बैठ सकती थी इसलिये 'अन्य द्रष्टा का न होना' कहना परमात्मा की सर्व श्रेष्ठता बतलाने के लिये है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! छान्दो० उप० (८।२।१ से १० तक) में ब्रह्मविद्या की फल श्रुति में यथाकाम सर्वभोगों को भोगने की बात बताई गई है किन्तु अन्यत्र नहीं कही गई, अस्तु, जिज्ञासा यह है कि यह बात सभी ब्रह्म-प्राप्त ब्रह्मविदों के

लिये है कि इसमें कोई विकल्प है ?

वेदव्यासजी : **तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्**
॥३।३।४२॥

व्याख्या : ब्रह्मलोक की प्राप्ति करने वाले सभी ब्रह्मविद पुरुषों के लिये यह नियम नहीं है कि उनको, उस लोक के दिव्य भोगों का उपभोग करना ही पड़ता है क्योंकि श्रुति में जहाँ-जहाँ ब्रह्म लोक की प्राप्ति विषयक वर्णन आता है, वहाँ-वहाँ भोगों के उपभोग की बात नहीं आई है, इसके विपरीत जहां बात कही गई है, वहाँ भी 'यदि' शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् यदि साधक की इच्छा हो, तो उसके विकल्प अर्थ में इस भोगोपभोग वाली वार्ता का वर्णन समझना चाहिये। ब्रह्म विद्या की स्तुति के लिये, यह अनुषाङ्गिक वर्णन है। ब्रह्म विद्या का फल भोगों का उपभोग करना नहीं है। भवबन्धन (प्रकृति सम्बन्ध) से मुक्त होकर, परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करना ही, ब्रह्म विद्या का परम फल है। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का विकसित मुखारविन्द ब्रह्म प्राप्त जीवों का परम् भोग है, अतः साधकों को दिव्य-लोक के भोगों की कामना का सर्वथा परित्याग किये रहना चाहिये, जैसे बहुत से सिद्ध योगी, सिद्धियों के लोभ में पड़कर, केवलीभूत होने के मार्ग पर स्वयं विघ्न उपस्थित कर लेते हैं और बहुत से सिद्ध योगी, सिद्धियों की ओर से वितृष्ण होकर, पीठ फेर लेते हैं, उनके प्रलोभन में न पड़कर केवलानन्द का अनुभव करते हैं, कोई यह नियम योगियों के लिये नहीं है कि सिद्धियों के भोग को भोगना ही पड़ेगा। साधक की इच्छानुसार ही सिद्धियों के उपभोग की वार्ता, योग विद्या की स्तुति के लिये ही, योग शास्त्र में कही गई है, वैसे ही उपर्युक्त शंका की समाधान कर लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : यदि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के साक्षात्कार में विलम्ब रूप विघ्न उपस्थित करने वाले हैं, तो श्रुति में ऐसे फलों का विधान क्यों किया गया ?

वेदव्यासजी : **प्रदानवदेव तदुक्तम** ॥३।३।४३॥

व्याख्या : जिस प्रकार भगवान या कोई ब्रह्मादि देव प्रसन्न होकर, अपने आराधक को उसके इच्छानुसार वरदान देते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म लोक में 'सर्वकामान्श्नुते' इत्यादि वाक्यों के द्वारा सकामी पुरुषों को भी ब्रह्म-धाम जाने की

रुचि विवर्धन हेतु श्रुति का तात्पर्य है। सकामी पुरुष स्वर्ग प्राप्ति को ही, पुरुषार्थ समझते हैं, इसलिये ब्रह्म विद्या के वर्णन में, स्वर्ग-सुख की हेयता तथा ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों की श्रेष्ठता बतलाकर मनुष्य को प्रकृति सम्बन्ध छुड़ाने का मात्र प्रयोजन है, जैसे ग्राम्य सुख में निमग्न विषयी पुरुषों को, विषय से निवृत्त होने के लिये सगुण साकार परब्रह्म परमात्मा के साथ जीव का शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और श्रृंगार रस-सम्बन्ध शास्त्रों में बताकर, तज्जनित परमानन्द की अनुभूति बताई गई है, जिससे कितने नर-नारी, संसारी सम्बन्ध-सुख को छोड़कर, पुरुषोत्तम भगवान से सम्बन्ध स्थापित किये हैं और प्रेम में उन्मत्त होकर, इसी देह में प्रभु का दर्शन व तदनुभूति प्राप्तकर' कृतकृत्य हो गये हैं। उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कोई अन्य युक्ति बतायें।

वेदव्यासजी : लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।।३।३।४४।।

व्याख्या : औपनिषदीय ब्रह्म-विद्या में जहाँ-तहाँ ब्रह्मज्ञान के फल का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ-वहाँ जन्म-मरण रूप संसार (प्रकृति-सम्बन्ध) से मुक्त होकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त हो जाना रूप परम फल का वर्णन, बाहुल्य रूपेण किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान का फल, ब्रह्म-प्राप्ति है, इससे श्रेष्ठ कोई फल नहीं है, अतः यदि किसी प्रकरण में ब्रह्मलोक के दिव्य कामोपभोग रूप फल कहा गया है, वह परमात्म प्राप्ति रूप फल की श्रेष्ठता बताने के लिये है तथा ब्रह्म-प्राप्ति से सब पाया हुआ हो जाता है, आदि श्रुति-वाक्यों की सफलता-सिद्धि के विश्वास के लिये है, जैसे यह कहा जाय कि किसी को, कि भाई! यदि तुम राजा को सेवा से प्रसन्न कर लोगे तो राजा तुम्हें अपने भवन में वास दे देगा, सदा के लिये, अपनी प्राप्ति रूप फल को प्रदान कर देगा, साथ ही तुम्हें मन चाही उपभोग सामग्रियों को देकर, सब भावेन तृप्त कर देगा। उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! पूर्व पक्षी लोग अग्निहोत्र आदि कर्म को भी, मुक्ति का हेतु बतलाते हैं?

वेदव्यासजी : पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ।।३।३।४५।।

व्याख्या : नचिकेतोपाख्यान से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार उपासना सम्बन्धी शारीरिक क्रिया, कर्ता को फल देने में समर्थ है, उसी प्रकार मानसिक क्रिया भी, अतः अधिकारी भेद से, दोनों क्रियाओं के कर्त्ताओं को समान फल की प्राप्ति सर्वथा संभव है, इस लिये अग्निहोत्र कर्म भी, ब्रह्म विद्या की भाँति, मुक्ति का हेतु हो सकता है। नचिकेता ने स्वयं यमराज से कहा है कि स्वर्गलोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, वहाँ न मृत्यु का भय है, न बुढ़ापे का और न भूख-प्यास का। इनसे पार होकर शोक रहित मनुष्य स्वर्ग में जाकर बहुत सुखी होता है, अतः स्वर्ग प्रदायिका अग्निहोत्र विद्या के रहस्य को आप भली-भाँति जानते हैं, वह मुझे बताइये। कठ० उप०(१।१।१२-१३) तत्पश्चात् यमदेव ने नचिकेता को अग्नि विद्या का रहस्य बताकर कहा है, कि जो इस अग्नि विद्या का तीन बार अनुष्ठान करता है, वह जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर, परम शान्ति को प्राप्त होता है, इसलिये इस अग्निहोत्र रूप कर्म को, मुक्ति का साधन स्वीकार करने में कौन हानि है, जिस प्रकार पीछे कही हुई, ब्रह्म-विद्या मुक्ति का हेतु है, उसी प्रकार पूर्व कही हुई, अग्निहोत्र विद्या भी मुक्ति का हेतु हो सकती है, यही पूर्व पक्ष वालों का कथन है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी अपनी वार्ता की पुष्टि करने के लिये, क्या कुछ और प्रमाण देते हैं ?

वेदव्यासजी : **अतिदेशाच्च ॥३।३।४६॥**

व्याख्या : पूर्व पक्ष का कथन है कि केवल उक्त प्रकरण से ही कर्म, मुक्ति की प्राप्ति में हेतु होना सिद्ध होता है, सो बात नहीं, श्रुति में भी ब्रह्म विद्या के समान कर्म को मुक्ति का हेतु बताया है, यथा कठ० उप०(१।१।१७) में 'त्रिकर्म-कृत्तरति जन्म मृत्यू' अर्थात् यज्ञ, दान, और तप रूप तीन कर्मों का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य, जन्म-मृत्यु से पार हो जाता है, इससे कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना सिद्ध होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! दो सूत्र में कही हुई वार्ता का उत्तर सिद्धान्त पक्ष की ओर से, क्या है ?

वेदव्यासजी : **विद्यैव तु निर्धारणात् ॥३।३।४७॥**

व्याख्या : श्वेता० उप०(३।८) की श्रुति उपदेश करती है कि 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥' अर्थात् उस परब्रह्म परमात्मा के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करके ही, मनुष्य मृत्यु से पार हो सकता है (परम पद स्वरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है)। इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का कोई मार्ग नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म-ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है इसलिये ब्रह्म विद्या ही, मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धोपाय है, कर्म नहीं। नचिकेतोपाख्यान में स्वयं यमराज ने कठ० उप०(२।२।१२) में कहा है कि जो सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, जो एक अद्वितीय है, जो सबको अपने वश में रखने वाला है, जो अपने एक ही रूप को बहुत प्रकार से बना लेता है, उस परब्रह्म परमात्मा को जो अपने ही हृदय में स्थित देखते हैं, उन्हीं ज्ञानी पुरुषों को शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है, अतः अग्नि विद्या के प्रकरण में जो जन्म-मरण से छूट कर शान्ति पाने की बात कही गई है, वह स्वर्ग लोक की स्तुति करने के लिए गौण रूप से है। सकामी पुरुषों को स्वर्ग स्तुति सुना कर यज्ञ, दान, तप आदि कर्म में लगाने के लिये है पश्चात् पुण्य प्रभाव से, मन जब पवित्र हो जायगा, तब मुमुक्षुओं को ब्रह्म-विद्या से ही मुक्ति प्राप्त होती है, सहज ही समझ में आ जायगा, अस्तु, यह कथन वैसे ही है, जैसे लोक में बच्चों को लड्डू का लोभ देकर, उसका मुण्डन करवाना ही मुख्य प्रयोजन होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! किसी प्रमाण से उक्त वार्ता को सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **दर्शनाच्च ॥३।३।४८॥**

व्याख्या : मुण्डक उप० (१।२।६, १०) की श्रुति में बताया गया है कि यज्ञादि कर्मों का फल स्वर्ग में जाकर, स्वर्ग-सुख भोगना है किन्तु पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्यु लोक लौटना पड़ता है और मुण्ड० उप०(३।२।५, ६) में ब्रह्मज्ञान का फल, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर, परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाना बताया गया है, इससे भी यही सिद्धान्त निकलता है कि एक मात्र ब्रह्म विद्या ही मुक्ति का हेतु है, कर्म नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से उक्त वार्ता की पुष्टि करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥३।३।४९॥

व्याख्या : वेद को रहस्यार्थ का निर्णय करने में, प्रकरण की अपेक्षा श्रुति वचन और लक्षण आदि अधिक बलवान होते हैं, इसलिये प्रकरण-सिद्ध वार्ता का निराकरण करने के लिये बहुत से श्रुति प्रमाण हों तथा प्रकरण के विरुद्ध लक्षण भी पाये जाते हों, तो सिद्धान्त में बाधा उत्पन्न करने में, प्रकरण समर्थ नहीं हो सकता, इसलिये यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा की साक्षात् प्राप्ति के लिये तथा प्रकृति-विनिर्मुक्त करने के लिये एक मात्र ब्रह्म विद्या ही परमोपाय है, कर्म मात्र नहीं। जैसे सुवर्ण की प्राप्ति के लिये, स्वर्ण का ज्ञान होना अति आवश्यक है अन्यथा तपस्यादि साधन से स्वर्ण कहीं आते-जाते रास्ते में मिल भी गया तो स्वर्ण का ज्ञान न होने के कारण, वह हाथ में न आकर, अप्राप्ति का ही चिन्तन करायेगा।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सभी ब्रह्म विद्याओं का फल प्रकृति एवं प्रकृति जन्य सभी दुखों से मुक्त होकर, परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाना है किन्तु किसी विद्या का फल, ब्रह्म लोक की प्राप्ति और किसी का फल देह-अक्षत ब्रह्म की प्राप्ति, इत्यादि बताकार फल में भेद क्यों कहा गया है ?

वेदव्यासजी : अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥३।३।५०॥

व्याख्या : जैसे उद्देश्य भेद से भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रति की हुई, उपासना की भिन्नता तथा उनका फल-भेद होता है, उसी प्रकार इस एक उद्देश्य से की जाने वाली, ब्रह्म-विद्या में भी ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षुओं की भिन्न-भिन्न भावना के कारण साधना (उपासना) के प्रकार में और उसके फल में आंशिक भेद होना स्वाभाविक है। सब साधक एक मति व एक रुचि के नहीं होते। स्वभाव-जन्य भिन्नता उनमें स्वाभाविक होती है, जैसे एक ब्रह्मोपासक 'आर्त' है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के अभाव का कारण, अपने देह में स्वयं की स्थिति को समझता है इसलिये वह अपने देह को नहीं सहता, शीघ्र देह छूट जाने की प्रार्थना, परमेश्वर से करता हुआ, तीव्र संवेग से साधना में निमग्न रहता है। दूसरा ब्रह्मोपासक 'दृप्त' है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा तो प्रबल है, पर वह संस्कारानुसार व्यवहार

करता हुआ प्रसन्नता पूर्वक साधना में रत रहता है, अति आतुरता उसे वरण नहीं किये रहती। एक ब्रह्मोपासक त्रिगुणात्मिक सभी प्राणी पदार्थों व भोगों से वितृष्णा होकर, सभी सिद्धियों व सभी सुख-साधनों से पीठ फेर लेता है। एक संस्कार वश बिना आसक्ति के भोगों का उपभोग करता है, इत्यादि भेद साधकों में स्वाभाविक होने से, उनके भावानुबन्धानुसार फल में भेद होने की बात, उन-उन प्रकरणों में स्पष्ट रूप से पाई जाती है। जहाँ-जहाँ भिन्न-भिन्न रुचि वाले, ब्रह्म ज्ञानियों की चर्चा की गई है, जैसे छान्दो० उप० (८।७।३) में बताया गया है कि इन्द्र व विरोचन, ब्रह्माजी के पास, ब्रह्म-विद्या सीखने के लिये गये। ब्रह्मा ने ब्रह्म विद्या की फल श्रुति में कहा कि जो ब्रह्म-विद्या से, परब्रह्म परमात्मा को जान जाता है, वह समस्त लोकों व भोगों को प्राप्त कर लेता है। इस अपनी अभीष्ट फल श्रुति को सुनकर, दोनों बड़े प्रसन्न हुये क्योंकि यही उन दोनों का लक्ष्य था किन्तु विरोचन उस विद्या का अधिकारी न होने के कारण स्वयं उसमें टिक न सका और इन्द्र ने उस विद्या को ग्रहण तो किया, पर उसके मन में समस्त लोकों के तथा भोगों के प्राप्ति की ही प्रधानता थी, यह वहाँ के प्रकरण में स्पष्ट है, अस्तु, जिनके मन में ब्रह्म-लोक के सुख भोगने की कामना है, उन्हें तत्काल ब्रह्म की प्राप्ति कैसे संभव है और जिन्हें ब्रह्म-प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ न चाहिये, सबसे वितृष्ण हो चुके हैं, उन्हें ब्रह्म-साक्षात्कार में विलम्ब नहीं होता। आर्ताधिकारी को तो शरीर रहते ही, ब्रह्म दर्शन सुलभ हो जाता है, इसलिये भावना के भेद से, भिन्न-भिन्न अधिकारियों के फल में भी भेद होना स्वाभाविक है, जैसे शिल्प कला के विद्वानों की कला एक होते हुये भी, परस्पर भिन्नता लिये रहती है तथा उनके कला की फल-श्रुति में धन की प्राप्ति तथा धन कमाने का उद्देश्य भी भिन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान विषयक वार्ता को समझें, इस विषय को पूर्व में कहा जा चुका है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त वार्ता को दृढ़ करने की कृपा की जाय।

वेदव्यासजी : **न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्ति :**
३।३।५१॥

व्याख्या : यद्यपि सभी ब्रह्म विद्यायें समान भाव से, मोक्ष-प्राप्ति की हेतु भूता हैं तथापि ब्रह्म प्राप्ति के प्रथम, बीच में जो उनमें परस्पर फल-भेद प्रतीत

होता है, उसका निषेध नहीं है, क्योंकि वह भेद ब्रह्मोपासकों की भावना के भेद से है, जैसा कि उपर्युक्त पूर्व सूत्र में बताया जा चुका है। जो आप्तकाम हो चुका है, अनन्य प्रयोजनत्व भाव में स्थित है, जिसका भव-बीज, मृत्यु के पहले ही विनष्ट हो गया है जो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका है, जो सब प्रकार से लोक-पर लोक के सुखों से वितृष्ण हो गया है, वह ब्रह्म-दर्शनाभिलाषी शरीर शान्त होने के पश्चात् तत्काल ब्रह्म लोक की प्राप्ति कर लेता है। बृह० उप० (४।४।६) तथा कठ० उप० (२।३।१४) में उक्त प्रमाण देखा जा सकता है। ब्रह्मोपलब्धि काल में ब्रह्म ज्ञानी का सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर से, उसी प्रकार से विच्छेद हो जाता है जैसे मरने के पश्चात्, मनुष्य का सम्बन्ध, पंचतत्वात्मक स्थूल शरीर से टूट जाता है। मुण्ड० उप० (३।२।७) में श्रुति वचन एवं अनुभव का यही सत्य है, जैसे बद्रीनारायण के यात्रियों में जिन्हें बीच बीच के नगरों, वनों, पर्वतों, सर-सरिताओं की प्रकृति प्रभा का दर्शन करते हुये, बद्रीनारायण पहुँचने की इच्छा है, वे क्रमशः सब को देखते हुये विलम्ब से, बदरीवन पहुँच पाते हैं और जो इच्छा शून्य केवल नारायण चित्त वाले हैं, वे कहीं न रुककर शीघ्र बद्रिकाश्रम पहुँच जाते हैं, तदनुसार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता को और सप्रमाण स्पष्ट करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः।**

॥३।३।५२॥

व्याख्या : वेदान्त विज्ञान के द्वारा जिन ब्रह्मविदों ने वेदान्त प्रतिपाद्य अर्थात् वेदान्त के अर्थ स्वरूप, परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान का साक्षात्कार कर लिया है और कर्म फल स्वरूप समस्त लौकिक-पारलौकिक भोगों के त्याग रूप योग से, जिनका अन्तःकरण सर्वथा विशुद्ध हो गया है, वे मुमुक्षुगण मृत्यु के पश्चात्, ब्रह्म-लोक में जाकर, परम अमृत स्वरूप मुक्त भाव को प्राप्त हो जाते हैं। मुण्डक० (३।२।६) में यह कहा गया है। इसके बाद जिनको मृत्यु के पहले ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, उसके विषय में अगले मन्त्र में कहा गया है कि उन ब्रह्मज्ञानियों की पन्द्रह कलायें अर्थात् प्राणों के सहित सर्वेन्द्रियाँ, अपने-अपने देवताओं में विलीन हो जाती हैं और जीवात्मा तथा उसके कर्म संस्कार, सबके सब परम अविनाशी परब्रह्म परमात्मा में एक हो जाते हैं, इसके पश्चात् नदी-समुद्र के दृष्टान्त द्वारा

बताया गया है कि वह ब्रह्मवेत्ता विद्वान, नाम-रूप को यहीं त्यागकर, परात्पर परब्रह्म में विलीन हो जाता है। मुण्ड० उप० (३।२।८)। इस प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण वाले ब्रह्म-जिज्ञासुओं की ब्रह्मलोक प्राप्ति का कथन करके, साक्षात्त् ब्रह्मानुभवी विद्वान का नाम-रूप को त्यागकर, यहीं परब्रह्म में विलीन हो जाना सूचित करने वाले शब्द समुदाय, पूर्व कही हुई वार्ता को स्पष्ट करते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिनके हृदय में ब्रह्मलोक की प्रतिष्ठा है और वहाँ जाने का संकल्प, जिनका अनन्यता लिये हुये हैं, सगुण-साकार ब्रह्म के दिव्य दर्शन, प्रेमालाप व सेवा-सम्प्रयोग की इच्छा प्रबल है, अस्तु, इस अनुबन्ध से उनका ब्रह्म-लोक में जाना होता है और जिनको यहाँ-वहाँ से कोई प्रयोजन नहीं है, निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कार हो चुका है, वे यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, यह अवान्तर फल-भेद होना उचित है।

मुमुक्षु मुखेन : नास्तिक लोग, परलोक जाना नहीं मानते हैं क्या, प्रभो ?

वेदव्यासजी : एक आत्मनः शरीरे भावात् ३।३।५३॥

व्याख्या : कई एक नास्तिक लोग कहा करते हैं कि जब तक शरीर है, तभी तक आत्मा के चेतनत्व की प्रतीति होती है। शरीर की अभाव दशा में आत्मा की प्रतीति के कोई लक्षण प्रयत्क्ष नहीं पाये जाते; इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न, आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिये मृत्यु के पश्चात् आत्मा, पर-लोक में जाकर कर्म-फल भोगता है या ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाता है, यह मान्यता सर्वथा असंगत है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! सिद्धान्त पक्ष की ओर से, इसका क्या उत्तर है ?

वेदव्यासजी : व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥३।३।५४॥

व्याख्या : अहो ! नास्तिकों की यह मान्यता कि 'शरीर ही आत्मा है' सर्वथा असत्य व अनुचित है। आत्मा शरीर से भिन्न और पंचभूतों तथा उसके कार्यों को जानने वाला है अतः वह अवश्य है, मरणोपरान्त पड़े हुये शरीर में सभी प्राकृत पदार्थों को जानने वाला चेतन आत्मा नहीं रहता, अतः यह सिद्ध है कि यह जीवात्मा, शरीर रहते हुये भी उसमें नहीं रहता, इसलिये वह शरीर से भिन्न

है और शरीर के न रहने पर भी, आत्मा का अस्तित्व बना रहता है क्योंकि वह अविनाशी, अमल और नित्य है, यदि नास्तिकों के कथनानुसार चेतन आत्मा, शरीर से भिन्न न होता तो वह अपने और दूसरे का ज्ञान कदापि न रख सकता क्योंकि जानने की शक्ति, जड़-पदार्थों में नहीं है, जैसे घटादि जड़ पदार्थ अपने आपको या परस्पर एक दूसरे को जानने की शक्ति नहीं रखते । जिस प्रकार सभी जड़ वर्गों का ज्ञाता होने से, ज्ञाता रूप में आत्मा की उपलब्धि प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार शरीर का ज्ञाता होने से, आत्मा अपने ज्ञेय रूप शरीर से भिन्न प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है, जैसे लोक में कहा करते हैं कि हमारा अंग पीड़ित है, हमारा शरीर दुर्बल है, हम औषधि सेवन करते हैं, जिससे हमारा शरीर स्वस्थ्य रहे । पहले हमारा शरीर मजबूत था इत्यादि । इससे स्पष्ट है कि हम शरीर नहीं हैं अपितु शरीर से भिन्न हैं क्योंकि हम और हमारा एक नहीं हैं । 'हम' का प्रयोग चेतन के लिये और 'हमारे' का प्रयोग जड़ के लिये किया गया है यहाँ, अत: आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है तथा शरीर के न रहने पर भी, वह रहता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! भिन्न-भिन्न शाखाओं में यज्ञों के उद्गीथ आदि अङ्गों में भेद है, अत: एक शाखा में वर्णित यज्ञादि-सम्बन्धित उपासना के प्रकार को दूसरी शाखावालों के लिये ग्रहण करना उचित है या नहीं ?

वेदव्यासजी : **अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।।३।३।५५**

व्याख्या : यज्ञाङ्गभूता उद्गीथ आदि से सम्बन्धित जो प्रतीकोपासना वेद वर्णित हैं, उनका अनुष्ठान केवल उस शाखा के लिये नहीं है कि जिस शाखा में वह बताई गई है; अपितु प्रत्येक वेद शाखा वाले, उसका अनुष्ठान कर सकते हैं, जैसे छान्दो० उप० (१।१।१) में 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ॐ एक अक्षर की उदगीथ के रूप में उपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार छा० उप० (२।२।१) में 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' पांच प्रकार के साम की उपासना लोक के साथ सम्बन्ध जोड़कर करनी चाहिये, इत्यादि प्रकार से प्रतीकोपासना कही गई हैं । इनका ग्रहण प्रत्येक वेद शाखावालों को ग्रहण करके, अनुष्ठान करने में कोई विरोध नहीं है, जैसे ॐ अक्षर को किसी देवता के उपासक द्विज लोग किसी भी मन्त्र में जोड़ कर, उसका उच्चारण व अनुष्ठान कर सकते हैं, उसी प्रकार उक्त विषय को जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता को किसी अन्य दृष्टान्त से पुष्ट करने

की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **मन्त्रादिवद्वाविरोधः ॥३।३।५६॥**

व्याख्या : जिस प्रकार एक शाखा में पठित मन्त्र और यज्ञ के काम में आने वाली सामग्रियाँ, दूसरी शाखा के अनुयायी, अपनी आवश्यकतानुसार अपने यज्ञ सम्बन्धी व्यवहार में लाते हैं; उसी प्रकार पूर्व कही हुई, यज्ञ की अङ्गभूता उपासनाओं के अनुष्ठान में कोई आपत्ति नहीं है। सरलता से समझने के लिये दूसरा दृष्टान्त यह है कि, जैसे एक वैद्यक ग्रन्थ के अनुसार, औषधि निर्माण कोई सतवैद्य करता है किन्तु आवश्यकतानुसार रोगी को स्वास्थ्य लाभ कराने के लिये दूसरे ग्रन्थों में कहे हुये पाठ, विधि, अनुपान और औषधि-सेवन प्रकार को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : वैश्वानर विद्या की भाँति अन्य स्थलों में बताई हुई, एक-एक अङ्ग की उपासना करनी चाहिये या अङ्ग समुच्चय करके एक साथ की जा सकती है ?

वेदव्यासजी : **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥३।३।५७॥**

व्याख्या : जैसे किसी यज्ञ के किसी अंश का अनुष्ठान करना और किसी अंश का न करना, श्रेष्ठ नहीं माना गया है; अपितु यज्ञ की पूर्णता में विघ्नकर है, सर्वाङ्गीण अनुष्ठान ही श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वैश्वानर विद्या आदि में वर्णित उपासना का अनुष्ठान भी सर्वाङ्ग रूप से करना ही श्रेष्ठ है। उसके एक अङ्ग का अनुष्ठान पूर्ण फलप्रद नहीं है। वैश्वानर विद्या की भाँति सभी स्थानों में उक्त सिद्धान्त ग्रहणीय है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही भाव, वैश्वानर विद्या के वर्णन में दिखाया है। राजा अश्वपति के पूछने पर, प्रचीन शाल आदि ऋषियों ने वैश्वानर विद्या के एक-एक अंग की उपासना करने की बात कही है तब राजा ने एक-एक करके, ऋषियों को बताया कि तुम अमुक अङ्ग की उपासना करते हो, तुम अमुक अङ्ग की और यह भी कहा कि एक अङ्ग की उपासना का साधारण फल है, पूर्णता को प्रदान करने वाला नहीं है, साथ ही सबको भयभीत करते हुये कहा कि यदि तुम मेरे पास न आते, तो तुम्हारा सिर गिर जाता, तुम अन्धे हो जाते इत्यादि (छान्दो० उप० (५।११ से १७ तक) पुनः छान्दो० उप० (५।१८।१) में बताया

है कि तुम लोग वैश्वानर परमात्मा के एक-एक अंग के उपासक हो, जो इस तथ्य को समझकर सर्वाङ्गीण परमात्म रूप से, इस वैश्वानर विद्या की उपासना करता है, वह समस्त लोकों, समस्त प्राणियों और समस्त आत्माओं में अन्न भक्षण करने वाला हो जाता है अर्थात् समस्त प्राणी-पदार्थ, परिस्थिति, लोक-परलोक उसको सुख प्रदाता बन जाते हैं, इससे यही सिद्ध होता है कि विद्या के एक-एक अङ्ग की उपासना से सर्वाङ्गीण उपासना श्रेष्ठ है अत: पूर्णाङ्ग उपासना ही करना अति उत्तम है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! नाना प्रकार से प्रतिपादित ब्रह्म-विद्या भिन्न-भिन्न हैं कि एक ही है?

वेदव्यासजी : **नाना शब्दादिभेदात् ॥३।३।५८॥**

व्याख्या : सद्-विद्या, भूमविद्या, दहरविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्य विद्या, वैश्वानर विद्या, आनन्दमय विद्या, अक्षर विद्या, इत्यादि पृथक-पृथक नाम व विधि-विधान की पृथकता से संयुक्त है, किसी मुमुक्षु अधिकारी के मनोनुकूल कोई विद्या है, किसी के कोई अर्थात् अधिकारी-रुचि भेद से, इन विद्याओं का ग्रहण होता है, इसलिये सब विद्याओं का फल, एक ब्रह्म की प्राप्ति होते हुये भी, सब विद्यायें परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, जैसे एक महानगर में पहुँचने के लिये सब ओर से बहुत मार्ग हैं, उन मार्गों के नाम पृथक-पृथक हैं तथा भिन्न-भिन्न दृश्य, उन मार्गों में आने-वाले लोगों को आकर्षित करते हैं तथा भिन्न-भिन्न दिशाओं से नगर में पहुँचते हैं, अस्तु, सभी मार्ग, महानगर में पहुँचाने वाले होने पर भी, नाम, दिशा और दृश्य की भिन्नता से सभी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही उक्त विद्याओं की भिन्नता समझनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे! इन सब विद्याओं को मिलाकर, अनुष्ठान करने की विधि है या प्रत्येक की पृथक-पृथक है?

वेदव्यासजी : **विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥३।३।५९॥**

व्याख्या : जैसे स्वर्ग प्राप्ति के साधन भूत अनेक यज्ञ-याग शास्त्र में बताये में बताये गये हैं, उनमें जिन-जिनकी फल श्रुति एक है, उन सबका समुच्चय नहीं

किया जाता। यजमान स्वर्ग-कामना से युक्त, स्वेच्छा पूर्वक, किसी भी एक यज्ञ का अनुष्ठान कर सकता है, उसी प्रकार ऊपर्युक्त सभी विद्याओं का फल, एक ब्रह्म-प्राप्ति होने के कारण उनका समुच्चय करने की आवश्यकता मुमुक्षु को नहीं है। किसी भी एक विद्या का अनुष्ठान अपनी सुख-सुविधा के अनुसार, साधक कर सकता है। उदर पूर्ति की आवश्यकता वाले कई भूखे लोग, विविध प्रकार के बने हुये अन्नों में इच्छानुसार किसी व्यञ्जन के द्वारा, अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं, वैसे ही उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अलग-अलग फल बताने वाली, सकाम उपासनाओं के अनुष्ठान के विधि, प्रकार को समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्**
॥३।३।६०॥

व्याख्या : सकाम उपासनाओं का फल एक नहीं बताया गया है। भिन्न-भिन्न उपासनाओं का फल भी भिन्न-भिन्न उसी प्रकार होता है, जैसे भिन्न-भिन्न जाति के वृक्षों के फल भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं इसलिये ब्रह्मविद्याओं के समान, सबका फल एक न होने से,सकाम उपासक अपनी कामना के अनुसार,किसी भी उपासना को अनुष्ठेय बना सकता है। जिन-जिन मनोरथों की सिद्धि के लिये, जिन जिन उपासनाओं का अनुष्ठान बताया गया है, उन-उनके लिये कही हुई, उपासनाओं का समुच्चय और पृथक-पृथक करना, साधक अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, जैसे कृषक अपने एक खेत में चाहे तो कई प्रकार के अन्न का वपन कर के कृषि-लाभ प्राप्त करे या चाहे तो एक ही प्रकार का अन्न पूरे खेत में बोकर फसल प्राप्त करे, अपनी इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यज्ञ के उद्‌गीथ आदि अंगों में, की जाने वाली उपासना के विषय में पूर्व पक्षी का क्या कथन है ?

वेदव्यासजी : **अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥३।३।६१॥**

व्याख्या : यज्ञ कर्म के अङ्गभूत उद्‌गीथ आदि में की जाने वाली, जिन उपासनाओं का विधान है, उनमें जो उपासना, जिस अङ्ग का आश्रयण ग्रहण किये हुये हैं, उस आश्रय के अनुसार उसकी व्यवस्था होनी चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है, कि जिन-जिन यज्ञ कर्मों के अङ्गों का समुच्चय हो सकता है, उन उन

अङ्गों में की जाने वाली, उपासनाओं का भी, उन कर्मों के साथ समुच्चय होना कोई अनुचित नहीं है, यह पूर्व पक्षी का कथन है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पुनः उनका कोई तर्क है क्या ?

वेदव्यासजी : **शिष्टेश्च ॥३।३।६२॥**

व्याख्या : उद्गीथ आदि स्तोत्रों के समुच्चय की विधि, जिस प्रकार श्रुति में पाई जाती है, उसी प्रकार उनके आश्रित उपासनाओं के एकत्रीकरण का विधान भी उनके साथ ही सिद्ध हो जाता है, इसलिये यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्मों के अङ्गों के अनुसार, उनकी आश्रयभूता उपासनाओं के समुच्चय में कोई विरोध नहीं है, जैसे किसी राजा का आमन्त्रण किया गया, राजा के आश्रय में रहने वाले कई राज-सेवक भी आये, अस्तु, राजा के भोजन काल में, राजा के अङ्ग रक्षकों को भी राजा के साथ पंगत में बैठाकर, भोजन पवाने में कोई आपत्ति नहीं है, वैसे ही उक्त वार्ता जाननी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी प्रकारान्तर से और कुछ कहते हैं क्या ?

वेदव्यासजी : **समाहारात् ॥३।३।६३॥**

व्याख्या : उद्गीथ उपासना में निर्देश मिलता है कि होता के कर्म में जो स्तोत्र-सम्बन्धी त्रुटियाँ हो जाती हैं, उसका संशोधन स्तोत्र गान करने वाला पुरुष कर लेता है (छान्दो० उप० १।५।५)। इस प्रकार प्रणव और उद्गीथ की एकता जानकर, उद्गान करने की महिमा बताई है, अस्तु, इस समाहार से भी कर्म-अङ्ग की आश्रयभूता उपासना के समुच्चय का संकेत मिलता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्षी पुनः कुछ कहते हैं क्या ?

वेदव्यासजी : **गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥३।३।६४॥**

व्याख्या : 'ॐकार' उपासना का सारभूत गुण है, उसका प्रयोग श्रुति में प्रत्येक कर्मों में, समान भाव से दृष्टिगोचर होता है। ओम अक्षर से ही त्रयी विद्या की प्रवृत्ति होती है यथा ॐ ऐसा कहकर ही आश्रावण कर्म करता है, ओम

ऐसा कहकर ही होता कथन करता है, ओम ऐसा कहकर ही उद्‌गाता स्तोत्रगान करता है। छा० उप० (१।१।६)। इसी प्रकार कर्माङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले उद्‌गीथ आदि गुण हैं। उनका भी प्रयोग समान भाव से श्रुति में बताया गया है, इसलिये भी उपासनाओं का, उनके आश्रयभूत कर्माङ्गों के संग, समुच्चय होना पाया जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! चार सूत्रों में कहे हुये, पूर्व पक्षी के कथन का उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥३।३।६५॥**

व्याख्या : उपासनाओं के आश्रयभूत जो उद्‌गीथ आदि अङ्ग हैं, उन अङ्गों के समाहार के समान, उनके साथ उपासनाओं का समाहार का प्रतिपादन करने वाली कोई श्रुति नहीं है, इसलिये यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उन-उन आश्रय भूत अङ्गों के समुच्चय की भाँति, उनकी आश्रयभूता उपासनाओं का भी समुच्चय होना चाहिये क्योंकि उपासनाओं का उद्देश्य अलग है, जिस उद्देश्य व जिस फल के लिये, यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, उनके अङ्गों में की जाने वाली उपासना, उनसे भिन्न उद्देश्य को लेकर की जाती है, इसलिये कर्माङ्गों के साथ, उपासना के समुच्चय का सम्बन्ध नहीं है, अतः उनका अनुष्ठान, अलग-अलग करना ही श्रेयस्कर है, जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान किया गया, उसमें यावत यज्ञाङ्ग है, उनका समुच्चय होने से ही, यज्ञ-पूर्ति एवं फल की प्राप्ति होना संभव है, किन्तु किसी अङ्ग के आश्रयभूत रहने वाली, उपासना का फल शत्रु नाश है, किसी का कीर्ति-लाभ है, किसी का धन-लाभ है इत्यादि। अस्तु, इन उपासनाओं का समुच्चय नहीं हो सकता क्योंकि एकत्र करने से, किसी भी फल की प्राप्ति संभव नहीं है, उपासना के समिश्रण से। अतः फल कामना के अनुसार, उनका प्रयोग अलग-अलग ही करना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त सिद्धान्त को दृढ़ करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **दर्शनाच्च ॥३।३।६६॥**

व्याख्या : छान्दोग्योपनिषद (४।१७।१०) की श्रुति में बताया गया है कि

पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञ-रहस्य-वेत्ता ब्रह्मा अवश्यमेव यज्ञ की, यजमान की और अन्य ऋत्विजों की रक्षा करता है, इस प्रकार वेद में विद्या के महत्व-वर्णन के साथ-साथ यह बताया गया है कि इन उपासनाओं का कर्माङ्गों के साथ समुच्चय नहीं हो सकता है यदि उपासनाओं के सर्वत्र समाहार का नियम होता तो दूसरे ऋत्विक भी उस तत्व के ज्ञाता होते और अपनी रक्षा स्वयं कर लेते। ब्रह्मा को उनका रक्षक न बनना पड़ता। इससे यह सिद्ध होता है कि उपासनाओं का समाहार कर्माङ्गों के साथ नहीं करना चाहिये क्योंकि श्रुति का निर्देश ऐसा ही है अतएव उनका अनुष्ठान अलग-अलग ही करना कल्याण प्रद है। श्रुति अभिप्राय को न जानकर, किये जाने वाले कर्म, कर्त्ता को हानिप्रद ही सिद्ध होते हैं।

तात्पर्यार्थ : वेदान्त वाक्यों में एक ही आत्म विद्या का वर्णन जो अनेक प्रकार से किया गया है, उन सबमें ऐकता है क्योंकि सबका फल ब्रह्म प्राप्ति है तथा अनेक स्थलों में कहे हुये, भगवत् प्राप्ति विषयक भिन्न-भिन्न वाक्य हैं। उनके विरोध को हटाकर, उनमें एकता का दर्शन करना, ब्रह्म-वेत्ता ब्रह्मोपासकों का ब्रह्म ज्ञान है। जहाँ ब्रह्म विद्या के नाम व विधि में भेद है, वह अधिकारी भेद से है क्योंकि सब अधिकारी एक रुचि के नहीं होते, अतः किसी रुचिपरक रीति से ब्रह्म-साक्षात्कार करना, साधक का परम प्रयोजन होना चाहिये। अनवरत अभ्यास से साधक को, सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त पर प्रतीति करके, सादर निरन्तर दीर्घकाल के किये हुये, तीव्र संवेग अभ्यास के द्वारा इसी देह में ब्रह्म का साक्षात् सुलभ हो जाता है। वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद का यही सारतम संदेश हैं।

॥श्री वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत तृतीय अध्याय
का तृतीय पाद समाप्त॥

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

तृतीय अध्याय का चतुर्थ पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि केवल ज्ञान से होती है, या कर्म समुच्चय से ?

वेदव्यासजी : पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ॥३।४।१॥

व्याख्या : परब्रह्म प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि केवल ब्रह्मज्ञान से होती है, यही श्रुति का सिद्धान्त है, तदनुसार ऐसी अपनी (बादरायणः) मान्यता है। छान्दो० उप० (७।१।३) में कहा गया है कि 'तरति शोकमात्मवित्' 'आत्मज्ञानी शोक-मोह से तर जाता है' तथा मुण्ड० उप० (३।२।८) में आया है कि 'तथा विद्वान नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' 'ज्ञानी महात्मा नाम रूप से मुक्त होने पर, परात्पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है' तैत्त० उप० (२।१) में आया है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' 'ब्रह्मवेत्ता भगवान को प्राप्त हो जाता है।' श्वेता० उप० (५।१३) में कहा गया है कि 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।' 'परम देव को जानकर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।' इस प्रकार वेद-वाक्यों द्वारा प्रतिपादित किये हुये, सिद्धान्त से यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि केवल ब्रह्मज्ञान से ही संभव है, अन्य साधन द्वारा नहीं। जैसे लकड़ी के खिलौने बनाना रूप पुरुषार्थ की सिद्धि, लकड़ी के खिलौने बनाने के पूर्ण ज्ञान से ही संभव है, बिना ज्ञान के व्यर्थ लकड़ी के इधर-उधर छीलने रूप कर्म से नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में अन्य आचार्य का मत क्या है ?

वेदव्यासजी : शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥३।४।२॥

व्याख्या : जैमिनि आचार्य का मत है कि आत्मा कर्म का कर्ता है इसलिये आत्म स्वरूप का ज्ञान कराने वाली, विद्या भी कर्म का अङ्ग है अतः उस आत्म

विद्या को, पुरुषार्थ का साधन बताना उसकी मात्र प्रशंसा है। पुरुषार्थ का एक मात्र साधन कर्म है, जिस प्रकार कर्म के अन्य अङ्गों की फल श्रुति प्रशंसा मात्र मानी जाती है, वैसे ही इसे भी जानना चाहिये।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! जैमिनि आचार्य किस कारण से, आत्मविद्या को कर्म का अङ्ग मानते है ?

वेदव्यासजी : **आचारदर्शनात् ॥३।४।३॥**

व्याख्या : श्रेष्ठ पुरुषों का आचार देखने से भी, यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्म विद्या कर्मों का अङ्ग है यथा बृह० उप० (३।१।१) में कथा आती है कि राजा जनक जी ने एक समय बहुत बड़ी दक्षिणा वाले, यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु व पाञ्चाल देश के बहुत से विद्वान ब्राह्मण एकत्र हुये थे। छान्दो० उप० (५।११।५) में आया है कि राजा अश्वपति ने अपने धर्ममय राज्य-प्रजा का वर्णन करते हुये, अपने पास ब्रह्म विद्या सीखने की इच्छा रखने वाले ऋषियों से कहा है कि पूज्य मुनिगणों मैं अभी एक यज्ञ करने वाला हूं, एक-एक ऋत्विज को जितना धन दूंगा, उतना ही आप लोगों को सम्मान पूर्वक दूंगा, तब तक आप यहीं रुकने की कृपा करें। छान्दो० उप० के पूरे छठवें अध्याय में महर्षि उद्दालक की कथा आती है, जो यज्ञ कर्म के अनुष्ठान में लगे रहते थे, जिन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को, ब्रह्म-विद्या का उपदेश प्रदान किया था। इसी प्रकार श्री याज्ञवल्क्य जी भी, जो ब्रह्म-ज्ञानियों में ब्रह्मवादियों में सर्वश्रेष्ठ कहलाये हैं, गृहस्थ थे और यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले थे। इस प्रकार वेद-वर्णित महापुरुषों के आचरण का अवलोकन करने से, यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म-विद्या-कर्म का ही अङ्ग है और कर्मों के बिना, वह अकेले पुरुषार्थ का साधन नहीं हो सकती।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! क्या जैमिनि जी इस पर श्रुति प्रमाण भी देते हैं।

वेदव्यासजी : **तच्छ्रुतेः ॥३।४।४॥**

व्याख्या : हाँ, हाँ ! जैमिनि कहते हैं कि श्रुति भी, इसी विषय पर अपना प्रमाण देती है। उनका कथन है कि छान्दो० उप० (१।१।१०) में श्रुति वचन है

कि जो ओंकार रूप अक्षर के तत्व का ज्ञान रखता है और जो नहीं रखता, वे दोनों ही कर्म के अनुष्ठाता हैं परन्तु जो कर्म, विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है, वह प्रबलतम होता है, इस प्रकार वेद में विद्या को कर्म का अङ्ग कहा है, इससे यही निश्चय होता है कि केवल ब्रह्मविद्या ज्ञान का हेतु नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पुन: अपनी बात को दृढ़ करने के लिये जैमिनि क्या कहते है ?

वेदव्यसाजी : **समन्वारम्भणात् ॥३।४।५॥**

व्याख्या : जैमिनि आचार्य का पुन: कथन है कि जब आत्मा प्राण के साथ शरीर से उत्क्रमण करता है, तब उसके साथ सूक्ष्म अन्त: करण व इन्द्रियाँ तो जाती ही हैं विद्या और कर्म भी उसके साथ ही जाते हैं। बृह० उप० (४।४।२) में यह तथ्य वार्ता स्पष्ट है; इस प्रकार विद्या और कर्म के साथ, जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करना, श्रुति में बताया जाने से भी, यही सिद्ध होता है कि विद्या, कर्म का अङ्ग है।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! जैमिनि पुन: कोई प्रमाण देते हैं क्या ?

वेदव्यासजी : **तद्वतो विधानात् ॥३।४।६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।१५।१)की श्रुति में ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का विधान, उसके अनुष्ठान का विधान तथा उसकी फल श्रुति जिस प्रकार कही गई है, उसके अनुसार यही सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान युक्त अधिकारी के लिये कर्मों का विधान श्रुति में बताया जाने से, ब्रह्मविद्या को कर्म का अङ्ग मानना ही उचित है तथा कर्म के साथ उसका ग्रहण होने से ही ब्रह्म प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

छान्दो० उप० की श्रुति ने ब्रह्म विद्या की परम्परा के वर्णन में बताया है कि उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश ब्रह्मा ने प्रजापति को दिया, प्रजापति ने मनु को दिया और मनु ने प्रजा-वर्ग को सुनाया, उस संदर्भ में ब्रह्म विद्या के प्राप्ति का

विधान बताया है। कि प्रथम ब्रह्मचारी नियमानुसार ब्रह्मचर्य पालन करते हुये, गुरु की सेवा आदि परम कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान सम्यक् प्रकारेण करते हुये, वेदाध्ययन को समाप्त करे, पुनः आचार्य कुल से समावर्तन संस्कार पूर्वक स्नातक बनकर लौटे और परिवार में रहता हुआ, पवित्र स्थल में स्वाध्याय परायणादि कर्म का अनुष्ठान करता रहे। पुत्र और शिष्यादि को धार्मिक बनाकर, इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थापित करे अर्थात् वश में करे; इस प्रकार अनुशासन करके, फलश्रुति में कहा गया है कि इस प्रकार आचरण करने वाला मनुष्य अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, अतः इन श्रुति-वचनों से ब्रह्मविद्या, कर्म का अङ्ग ही सिद्ध होती है, जैसे कोई कहे कि मन्त्रार्थ का अनुसंधान करके ही, मन्त्र-जाप करना चाहिये, तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्र के अर्थ का ध्यान, मंत्र जाप रूप कर्म का अङ्ग है, उसी प्रकार उपर्युक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इतना ही कि कुछ और जैमिनि का कथन है ?

वेदव्यासजी : **नियमाच्च ॥३।४।७॥**

व्याख्या : (ईशा० उप० २) में श्रुति का निर्देश है कि शास्त्रोक्त विहित आचरण एवं कर्मों का अनुष्ठाता मनुष्य, इस जगत में सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे; इस प्रकार जीवन यात्रा का निर्वाह (निष्काम कर्म करने पर, तुच्छ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त कर्म में लिप्त न होने का कोई उपाय नहीं है; इस प्रकार आजीवन कर्मानुष्ठान का आदेश (नियम) होने से, यही निश्चय होता है कि केवल ब्रह्मज्ञान, पुरुषार्थ का हेतु नहीं हो सकता, जैसे कृषि-विद्या के केवल ज्ञान से अन्न की उपज नहीं मिल सकती। कृषि करने के सर्वाङ्ग साधनों को जुटाकर तदनुसार खेत में बीज बोना आदिकर्म से ही अन्न की उपज प्राप्त हो सकती है; उसी प्रकार उपर्युक्त कथन को समझना चाहिये, इस प्रकार जैमिनि का मत है।

मुमुक्षु मुखेन : महर्षे ! सिद्धान्त पक्ष से जैमिनि कथन का उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥३।४।८॥**

व्याख्या : वेदों के अध्ययन से इस सत्य का दर्शन सबको सुलभ हो जाता है कि श्रुति में कर्मों की अपेक्षा ब्रह्मविद्या का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णन किया

गया है, इससे व्यासजी का सिद्धान्त मत, जैमिनि के कर्म प्रशंसा से प्रभावित नहीं हुआ, वह वैसे ही है, जैसे पहले था अर्थात् व्यासजी, पूर्व जैसे ब्रह्मज्ञान से ही मुक्ति (ब्रह्म-प्राप्ति) होती है, अन्य से नहीं, कह आये हैं। वही सिद्धान्त उनका एक रस सुरक्षित है। जैमिनि का ब्रह्मविद्या को कर्म का अङ्ग बताना, सिद्धान्त पक्ष को अनर्गल सा लगता है, अपने मत की सिद्धि के लिये कही हुई युक्तियाँ भी आभास मात्र हैं, यद्यपि ब्रह्मज्ञानी भी लोक-संग्रह व शरीर निर्वाहार्थ बिना आसक्ति और बिना अहं के स्वभावानुसार कर्म करते देखे जाते हैं, तथापि कर्म और ज्ञान का समुच्चय या केवल कर्म, परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म-प्राप्ति का साधन नहीं है। परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का परम साधन एक मात्र ब्रह्मज्ञान है क्योंकि मुण्डकोपनिषद् (१।२।१०) की श्रुति में कहा गया है कि 'इष्ट और पूर्त कर्मों को ही वरिष्ट मानने वाले मूढ़ लोग उससे भिन्न यथार्थ श्रेय को नहीं जानते, अतः वे अपने किये हुये, शुभ कर्मों का फल स्वर्ग में भोगकर, पुनः मृत्यु लोक व उससे भी नीचे के लोक में गिरते हैं, अतः जीव कल्याण के लिये मुण्डक उप० (१।२।१२-१३)की श्रुति का उपदेश है कि इस प्रकार कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों की अनित्यता तथा जन्म-मरण रूप महाकष्ट का भली-भाँति विचार करके ब्राह्मणादि को उन कर्मों तथा उनसे मिलने वाले, स्वर्गादि सुख से सर्वथा वितृष्ण हो जाना चाहिये और 'वह अकृत' अर्थात् 'परब्रह्म परमात्मा' जो स्वतः सिद्ध है, 'कृतेन' अर्थात् कर्म के साधन से नहीं मिल सकता, ऐसा दृढ़ निश्चय करके जिज्ञासु पुरुष को उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये, समिधा हाथ में लिये हुये, श्रुति-निष्णात ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिये; इस प्रकार अपने शरण में आये हुये, परीक्षित सत शिष्य को, सद्गुरु ब्रह्मोपदेश करें। इस प्रकार से श्रुति ने कहकर पुनः ब्रह्म स्वरूप का वर्णन किया है और उसे ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने योग्य बताया है, तत्पश्चात् मुण्ड० उप० (२।२।७) में कहा है कि कारण-कार्य (पर-अवर) स्वरूप परब्रह्म का साक्षात् अनुभव कर लेने पर, हृदय की जड़-चेतनात्मक ग्रन्थि का भेदन हो जाता है संशय-समुदाय विनष्ट हो जाते हैं और कर्मों के बीज का विनाश हो जाता है; इस प्रकार श्रुति में ब्रह्मविद्या का महत्व स्थान-स्थान पर बहुत अधिक बताया जाने से, ब्रह्मविद्या कर्मों का अङ्ग नहीं मानी जा सकती। लोक में जैसे बहुत से ऋषि-मुनि-देव व कुन्ती तथा सूर्य, कर्ण को कुन्ती-पुत्र व सूर्य पुत्र कहते हैं, अस्तु, यही मानना सर्वथा उचित है किन्तु कुछ लोग कर्ण को, राधा सुत व अधिरथ सुत भी कहते हैं परन्तु अप्रकट, सर्वथा सत्य वार्ता का ज्ञान न रखने वाले कुछ लोगों के कथन के अनुसार कर्ण को, विद्वान

लोग सूर्य पुत्र व कुन्ती कुमार ही कहेंगे। वैसे ही उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि के 'आचार दर्शनात्' का उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **तुल्यं तु दर्शनम् ॥३।४।९॥**

व्याख्या : आचार से भी यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्म विद्या कर्म का अङ्ग है क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार के आचार का दर्शन होता है। लोक संग्रह के लिये एक ओर ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ राजा जनक जी आदि यज्ञ-याग आदि कर्म करते हुये देखे जाते हैं तो दूसरी ओर बहुत से विरक्त संन्यासी, शुक–सनकादि, नारद, लोमश, दत्तात्रय आदि महात्मा, यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का त्याग, लोक संग्रहार्थ ही करते देखे जाते हैं क्योंकि उनको कर्म करने और न करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है, वे ब्रह्मज्ञान निष्ठ महात्मा सर्वदा ब्रह्म चिन्तन में लगे रहते हैं; इस प्रकार आचार विषयक उपलब्धि, दोनों ओर समान होने से, कर्म की प्रधानता नहीं सिद्ध हो सकती। गीता (३।१७) में भी कहा गया है कि जिन्हें वस्तुतः ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई है, उन्हें न तो कर्म करने से प्रयोजन है और न कर्म-त्याग से। कौ० उप० (२।५) की श्रुति में कहा है कि 'इसीलिये पूर्व के विद्वानों ने अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया' तथा बृह० उप० (३।५।१) में कहा है कि 'इस आत्मा का साक्षात् अनुभव करके ही, विद्वान ब्राह्मण लोग पुत्रादि कामना का परित्याग करके विरक्त हो गये और भिक्षा वृत्ति से देह निर्वाह करते विचरते हैं। बृह० उप०(४।५।१५) में बताया है कि याज्ञवल्क्य जी ने भी, दूसरों में वैराग्य भावना भरने के लिये अन्त में संन्यास ग्रहण किया। इस प्रकार वेद में कर्म त्याग के आचार का दर्शन, स्थान-स्थान में होने से, यही सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म प्राप्ति का हेतु केवल ब्रह्मज्ञान ही है और वह कर्म का अङ्ग नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्ष की ओर से जो श्रुति प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **असार्वत्रिकी ॥३।४।१०॥**

व्याख्या : जैमिनि ने छा० उप० (१।१।१०) इत्यादि श्रुति का प्रमाण

दिया है, वह सभी ब्रह्म-विद्याओं से सम्बन्धित न होने से, एक देशीय है, अतः उसका सम्बन्ध उस प्रकरण में आई हुई उद्गीथ विद्या मात्र से है, अस्तु, उस उद्गीथ विद्या को ही वह श्रुति कर्म का अङ्ग बताती है, अन्य प्रकरणों में कही हुई, ब्रह्म विद्याओं से, उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उस एक देशीय श्रुति से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि ब्रह्म विद्या कर्म का अङ्ग है, जैसे कहा गया कि अमुक मन्दिर में भगवान को प्रणाम न करके, मंगलानुशासन करने की विधि है, इस से यही सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य में, भगवान को प्रणाम न करने का नियम एक देशीय है। सभी मन्दिरों में यह नियम लागू नहीं किया जा सकता, वैसे ही 'यदेव विद्यया करोति' छान्दो० उप० की श्रुति का वाक्य-नियम केवल उद्गीथ विद्या के लिये है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि के पाँचवें सूत्र में दिये हुये, श्रुति प्रमाण का उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **विभागः शतवत् ॥३।४।११॥**

व्याख्या : जिस प्रकार किसी व्यक्ति से कहा जाय कि ये सौ (१००) मुद्रायें हैं। इनको इस नगर के बने हुये मंदरों में बाँट दो तो बाँटने वाला व्यक्ति मंदिरों की सेवा-पूजा, अतिथि-सेवा आदि अधिकार की जानकारी कर, यथा योग मुद्राओं का विभाजन करेगा; उसी प्रकार जैमिनि की कही हुई श्रुति के कथन का अभिप्राय, अधिकारी की स्थिति के अनुसार विभाग पूर्वक जानना चाहिये। ब्रह्मविद वरिष्ठों के कर्म तो यहीं नष्ट हो जाते हैं, अतः वे ब्रह्मज्ञान में एक रस स्थिति के प्रभाव से ही ब्रह्मधाम पहुँचते हैं। मुण्ड० उप० (१।२।११) की श्रुति इस बात को प्रमाणित करती है और जो सांसारिक साधक व साधनभ्रष्ट हैं, उनके साथ विद्या व कर्म दोनों के संस्कार साथ जाते हैं। वहाँ कही हुई विद्या का अर्थ, अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नहीं है। केवल श्रवण, मनन आदि का अभ्यास समझना चाहिये, अतः इससे भी यही सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि की ओर से छठे सूत्र में, प्रजापति के वचनों का, जो प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **अध्ययन मात्रवतः ॥३।४।१२॥**

व्याख्या : प्रजापति के उपदेश में विद्याध्ययन के पश्चात् कुटुम्ब में रहकर,

कर्मानुष्ठान की जो वार्ता आई है, वह गुरुकुल में मात्र अध्ययन करके लौटने वाले ब्रह्मचारी के लिये कही गई है, यह सर्वथा उचित है क्योंकि जिसने केवल ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया है, मनन निदिध्यासन पूर्वक अनुष्ठान नहीं किया, उसके अन्तः करण की शुद्धि के लिये, कर्मों का विधान बताकर, उसको अनुष्ठान में लगाना ही श्रेयस्कर है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्मविद्या कर्म का अङ्ग है, जैसे किसी ने किसी से स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया, औषधि द्वारा सुन तो ली किन्तु श्रवण मात्र से सोना नहीं बन जायगा, अतः स्वर्ण सिद्ध करने के लिये, उसकी प्रक्रिया रूप कर्म करना, वक्ता के अनुसार उचित ही है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वर्ण-ज्ञान, स्वर्ण बनाने के विधि रूप कर्म का अङ्ग है, उसी प्रकार उपर्युक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि के दिये हुये अन्तिम श्रुति प्रमाण का उत्तर क्या है ?

वेदव्यासजी : **नाविशेषात् ॥३।४।१३॥**

व्याख्या : वहाँ जो त्यागपूर्वक आजीवन कर्म करने का उपदेश है, वह ब्रह्म का साक्षात् न किये हुये, सभी साधकों के लिये समान रूप से है परन्तु ब्रह्मानुभवी ज्ञानियों के लिये विशेष रूप से नहीं है अतः इससे ब्रह्म-विद्या, कर्म का अङ्ग है, यह सिद्ध नहीं होता और न यही सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्मज्ञान से, पुरुषार्थ रूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, जैसे कहा जाय कि सभी को चतुर्मास के निर्वाह के लिये लकड़ी, नमक, अन्न आदि एकत्रित करके रख लेना चाहिये। यह विधान सभी सामान्य लोगों के लिये है। उनके लिये नहीं है जो मधुकरी या उञ्छन वृत्ति से निर्वाह करने वाले हैं। उसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उस श्रुति को समान भाव से सबके लिये मान लिया जाय तो ज्ञानी के लिये भी कर्म का विधान हो ही जाता है।

वेदव्यासजी : **स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥३।४।१४॥**

व्याख्या : यदि इस श्रुति को समान भाव से, ज्ञानी के लिये भी ग्रहण किया जाय तो उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी, लोक संग्रह के लिये अनासक्त भाव

से आजीवन कर्मानुष्ठान करते रहे तो भी ब्रह्मविद्या के प्रभाव से, उसमें कर्म लिप्त नहीं होते। ज्ञानी कर्मफल से सदा सम्बन्ध विच्छेद किये रहता है, अत: यह श्रुति ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये, ज्ञानी को कर्म करने की सम्मति मात्र देती है, जिससे बड़ों के आचरण को देखकर, साधारण लोग बिना ब्रह्मज्ञान के ही कर्म न छोड़ दें, कर्मानुष्ठान करता रहे। ज्ञानी को कर्म करने के लिये बाध्य करना, श्रुति का प्रयोजन नहीं है। इससे ब्रह्मविद्या को कर्म का अंग नहीं कहा जा सकता जैसे शास्त्र में यज्ञावशिष्ट मांसाहार का विधान समान भाव से जो कहा गया है, वह मांस भोजियों के लिये है, अहिंसक अन्नाहार व फलाहार करने वाले सात्विक पुरुषों के लिये नहीं है। वहाँ अहिंसकों को बाध्य करने के लिये समान भाव का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार उपर्युक्त वार्ता को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता कोई युक्ति द्वारा सिद्ध करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **कामकारेण चैके ॥३।४।१५॥**

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२२) की श्रुति कहती है कि विद्वानों का कथन है, 'हम पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा प्रजा उत्पन्न कर, उससे अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे।' जिनका परब्रह्म परमात्मा ही लोक (ब्रह्म चिन्तन में निमग्न रहकर, ब्रह्म में ही निवास है) है, उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ज्ञान के अतिरिक्त और किसी कर्मानुष्ठानादि के करने न करने में कोई आग्रह नहीं है; इस प्रकार श्रुतियों में कितने विद्वानों का ग्रहस्थाश्रम व कर्मों का त्याग कहा है, अत: यही सिद्ध होता है कि कोई ब्रह्मविद विद्वान अपनी प्रकृति के अनुसार स्वेच्छापूर्वक जीवन पर्यन्त संकलपहीन, निष्काम, कर्तापन के अभिमान से रहित, अनासक्त भाव से कर्म करता रहता है और कोई त्याग देता है, इसमें विद्वानों की स्वतन्त्रता है, इसलिये यह सिध्य नही होता कि ब्रह्म विद्या कर्म की अङ्ग भूता है, जैसे कोई फलाहारी साधु अपने आप अन्न का भगवत् प्रसाद प्राप्त होने पर, प्रसाद की महिमा-विस्तार के लिये कुछ अन्न-कणों को ग्रहण कर लेता है और कोई अन्न लेता ही नहीं, चाहे वह प्रसाद ही क्यों न हो। इसमें फलाहारी साधु की स्वतन्त्रता है; इस आचरण से अर्थात् भगवत् प्रसादांश ग्रहण करने वाले साधु के व्यवहार से, फलाहार को अन्नाहार का अङ्ग नहीं कह सकते, वैसे उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त विषय की सिद्धि करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **उपमर्दं च ॥३।४।१६॥**

व्याख्या : मुण्डकोपनिषद की (२।२।८।।) श्रुति में कहा गया है कि उस परब्रह्म परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर, इसके (मनुष्य के), समस्त कर्म बीज नष्ट हो जाते हैं तथा गीता (४।३७) में भी, परमात्मा के ज्ञान का फल कर्मों का भली-भांति विनष्ट हो जाना बताया गया है इसलिये श्रुति-स्मृति के वचनानुसार, ब्रह्मज्ञान को कर्म का अङ्ग कहना अनुचित सिद्ध होता है तथा केवल ब्रह्मविद्या से, परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, कहना किसी प्रकार नहीं बन सकता, जैसे सम्यक् स्वास्थ्य लाभ हो जाने पर, औषधि निर्माण करना व उसका सेवन कार्य स्वतः बन्द हो जाता है, वैसे हो परमात्म ज्ञान से, कर्म अपने आप विनष्ट हो जाते हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि आचार्य के कहे हुये सूत्रों का उत्तर आप श्री के द्वारा दिया जा चुका है किन्तु पुनः उसी वार्ता की पुष्टि की जाय ।

वेदव्यासजी : **उर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥३।४।१७॥**

व्याख्या : जैसे गृहस्थाश्रम में ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान करने के अधिकार का विधान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में भी, ब्रह्म विद्या के अनुष्ठान का अधिकार, वेद में वर्णित है यथा मुण्ड० उप० (१।२।११) में कहा है कि जो बन में निवास करने वाले वानप्रस्थ हैं, शान्त स्वभाव सम्पन्न विद्वान सद्गृहस्थ तथा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले, ब्रह्मचारी और सन्यासी जो तप एवं श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे रजोगुण से रहित साधक, सूर्यमार्ग से वहाँ चले जाते हैं, जहाँ अमृतमय अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान निवास करते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य श्रुतियों में भी, ऐसा ही वर्णन मिलता है । प्रश्न उप० (१।१०) में भी देखा जा सकता है । इससे यही सिद्ध होता है कि विद्या, कर्मों का अङ्ग नहीं है क्योंकि यज्ञादि कर्मों के अनधिकारी संन्यासी के लिये भी, ब्रह्म विद्या का अधिकार वेद वर्णित है; यदि ब्रह्मविद्या, कर्म का अङ्ग होती तो कर्म के अनधिकारी को, ब्रह्मविद्या के अधिकार का प्रतिपादन वेद कैसे करता अतः

ब्रह्मविद्या, स्वतन्त्रोपाय है, कर्म का अङ्ग नहीं कही जा सकती, जिस गंगा में सुर-मुनि-नाग-नर को परम पूत्यर्थ स्नान की विधि है, उस गंगा को शरीर मात्र निर्मल करने का अङ्ग कहना जैसे अनुचित है, वैसेही ब्रह्म विद्या को कर्म का अङ्ग कहना, वेद के रहस्य को न जानना है।

मुमुक्षु सुखेन : प्रभो ! जैमिनि अपने कथन के विरोध उपस्थित होने पर क्या वे पुनः कुछ कहते हैं ?

वेदव्यासजी : **परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥३।४।१८॥**

व्याख्या : जैमिनि आचार्य उक्त श्रुति में सन्यास आश्रम का अनुवाद मात्र स्वीकार करते हैं, विधि परक नहीं। उनका कथन है कि संन्यास आश्रम अनुष्ठेय नहीं है अर्थात् उसमें किसी प्रकार के कर्मानुष्ठानादि की विधि नहीं है। गृहस्थाश्रम में ही रहकर, कर्मानुष्ठान के द्वारा ही, मनुष्य का परम पुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त श्रुति में संन्यास ग्रहण का निषेध भी किया गया है जैसे तै० सं० (१।५।१।१) में स्पष्ट कहा है कि 'जो अग्निहोत्र का त्याग करता है' वह देवों के वीरों को मारने वाला है तथा तैत्त० उप० (१।११) में कहा है कि 'आचार्य को उनकी इच्छानुसार धन-दक्षिणायें देकर, संतान परम्परा को बनाये रखो, उसका उच्छेद मत करो।' इन प्रमाणों द्वारा संन्यास आश्रम का प्रतिवाद होने से यही सिद्ध होता है कि संन्यास आश्रम आचरणीय नहीं है इसलिये संन्यासी का ब्रह्मविद्या में अधिकार बताकर, ब्रह्मविद्या को कर्म का अङ्ग स्वीकार न करना ठीक नहीं है।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! आचार्य जैमिनि के उक्त कथन का उत्तर सिद्धान्त पक्ष की ओर से क्या है ?

वेदव्यासजी : **अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥३।४।१९॥**

व्याख्या : व्यासजी का उत्तर है कि उक्त श्रुति में, चारों आश्रमों का अनुवाद है किन्तु अनुवादीय वही होता है जो अन्यत्र विहित हो, अन्य श्रुतियों में जैसे गृहस्थ आश्रम का विधान बताया गया है; उसी प्रकार अन्य तीन आश्रमों का विधान भी श्रुतियों में किया गया है, अतः जैसे गृहस्थाश्रम के धर्मों का अनुष्ठान

करने योग्य है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सभी धर्म अनुष्ठेय हैं। जैमिनि ने श्रुति प्रमाण देकर जो संन्यास का निषेध बताया है, उसका अर्थ अन्य ही है, वहाँ अग्निहोत्र कर्म की प्रतिष्ठा बनी रहने के लिये, उसके त्याग न करने का महत्व बढ़ाया गया है. यह सिद्धान्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, और वानप्रस्थ पर ही लागू करके, उनके अधिकार के अनुसार, उन्हें अग्निहोत्र का त्याग कभी न करने का उपदेश दिया गया है, यही श्रुति को अभीष्ट है। संतान परम्परा का उच्छेद न करने का आदेश, उन्हीं अधिकारी लोगों के लिये हैं, जिनका मन भोगों से पूर्णत: वितृष्ण (विरक्त) नहीं हुआ है, जिनका मन सर्व भोगों से सर्वथा (विरक्त) हो गया है, उनके लिये स्वयं श्रुति आज्ञा प्रदान करती है यथा 'यदहरेव विरजेत्त-दहरेव प्रव्रजेत' अर्थात् जिस दिन परम वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण कर ले, अत: संन्यासी का भी, ब्रह्मविद्या में अधिकार होने से, ब्रह्मज्ञान को कर्म का अङ्ग नहीं कह सकते क्योंकि संन्यासी को कर्मानुष्ठान का निषेध और ब्रह्मविद्या का विधान ऐसा ही सिद्ध करता है, जैसे अन्य भाषाओं में संस्कृत भाषा के शब्द पाये जाते हैं किन्तु संस्कृत भाषा में, इतर भाषाओं के शब्द न पाये जाने से, देववाणी (संस्कृत भाषा) को, अन्य भाषाओं का अङ्ग नहीं कह सकते, उसी प्रकार उक्त अर्थ को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त सिद्धान्त को दृढ़ करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **विधिर्वा धारणवत् ॥३।४।२०॥**

व्याख्या : जैमिनि के कहे हुये, प्रमाण परक मन्त्र में गृहस्थाश्रम की भाँति अन्य आश्रमों की भी, विधि ही माननी चाहिये, अनुवाद नहीं, जैसे अग्निहोत्र कर्म के समिधा धारण सम्बन्धी वाक्य में ऊपर 'धारण' की क्रिया को, अनुवाद न मान-कर, विधि रूप में स्वीकार किया गया है। अग्निहोत्र कर्म के विधान में आता है कि 'स्त्रुगदण्ड के नीचे समिधा-धारण करके, अनुद्रवण करे किन्तु देवताओं के लिये ऊपर धारण करे' इस वाक्य में स्त्रुगदण्ड के अधोभाग में, समिधा धारण की विधि के साथ एक वाक्यता की जानकारी होने पर, ऊपर धारण की क्रिया को प्रथम कहीं न कहीं जानकर, विधि रूप में स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार पूर्वोक्त श्रुति में, चारों आश्रमों का सांकेतिक वर्णन है, उसे अनुवाद न मानकर, विधि रूप में ही स्वीकार करना, वेद रहस्य के ज्ञाताओं की पहचान है। आश्रम-विधायिका

(जावा० उप० ४) श्रुति में स्पष्ट है कि 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।' अर्थात् 'मनुष्य को क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश कर, तद्धर्मों का पालन करना चाहिये अथवा तीव्र इच्छा हो तो दूसरे प्रकार से (ब्रह्मचर्य से, गृहस्थ से व वानप्रस्थ से) भी संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये अर्थात् क्रम की प्रतीक्षा न करके, किसी भी, आश्रम से संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी, आश्रमों का विधान उपलब्ध होता है, अतः जहाँ संकेत मात्र से भी आश्रमों का वर्णन हो, वहाँ संकेत से ही आश्रमों की विधि भी ग्रहण कर लेनी चाहिये। इसी प्रकार यज्ञादि कर्मानुष्ठानों का परित्याग कभी न करना चाहिये'––बताने वाली श्रुति कर्मासक्त पुरुषों के लिये ही है, विरक्तों के लिये उस श्रुति का शासन नहीं है, इससे यही सिद्ध होता है कि कर्मों के बिना, केवल ब्रह्म ज्ञान से ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है, जैसे किसी नगर के राजा का वृतान्त, नगर में जाकर, बिना पूछताछ रूप कर्म के किये, सिद्ध योगी ध्यान से ही राजा के पूर्ण व्यवहार से अवगत हो सकता है, उसी प्रकार उक्त विषय को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्व पक्ष का कथन है कि छान्दो० उप० (१।१।३) में जो यह कहा गया कि 'जो यह उद्गीथ है, वह रसों का भी श्रेष्ठ रस है' परमात्मा का आश्रय स्थान और पृथ्वी आदि रसों में, सर्वश्रेष्ठ आठवाँ रस है, अतः उद्गीथ का इस प्रकार वर्णन केवल प्रशंसा मात्र है क्योंकि यज्ञाङ्ग होने से ही, उद्गीथ की ऐसी स्तुति की गई है। इस प्रकार सभी कर्माङ्ग भूत उपासनाओं में अङ्गी स्वरूप यज्ञ के सम्बन्ध से जिन-जिन विशेष गुणों का वर्णन है,वह स्तुतिमात्र है इसलिये ब्रह्म-विद्या कर्म का अङ्ग है, इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥३।४।२१॥**

व्याख्या : पूर्व पक्षी का उद्गीथ आदि उपासनाओं के विषय में, उपर्युक्त कथन उचित नहीं है क्योंकि वे उपासनायें और उनके रसतमत्व आदि गुण अपूर्व हैं। इन उपासनाओं और उनके गुणों का, न तो अन्यत्र वर्णन उपलब्ध होता और न अनुमान आदि से ही, उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता, इसलिये वे अपूर्व हैं, अतः यह कथन स्तुति मात्र नहीं है, अपितु उद्गीथ आदि को प्रतीक के स्थान पर

स्थापित कर, उनमें उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा की भावना करने के लिये प्रेरणात्मक विधि-वाक्य है, इससे ब्रह्म विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है, जैसे वाल्मीकि रामायण में कथा आती है कि श्री भरतजी ने, श्री पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामजी की चरण-पादुकाओं में श्रीरामजी की भावना करके, प्रतीकोपासना की थी। श्रीरामजी के पदत्राणों की महिमा भी, यत्र-तत्र विशेष रूप से वर्णित है, कोई कहे कि चरण-पादुका के उपासना का महत्व-वर्णन स्तुति मात्र है, यह कथन कितना गलत है। विचार करने पर यह कहना, श्री परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीरामजी के महत्व वर्णन को ही, प्रशंसा मात्र कहना है। श्री भरतजी ने स्वयं चरण-पादुकाओं की महिमा का अनुभव ही नहीं किया अपितु उनके महत्व को श्रीरामजी के सदृश कहा है। चौदह वर्ष में अयोध्या राज्य के सर्व कोषादि विभागों को दशगुण हो जाना, चरण-पादुका के प्रभाव से कहा है, इसी प्रकार उद्‌गीथ विषयक प्रतीकोपासना को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! प्रकारान्तर से उक्त विषय को ही पुष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **भावशब्दाच्च ॥३।४।२२॥**

व्याख्या : केवल अपूर्व होने से ही उद्‌गीथ की उपासना को विधि-वाक्य में माना गया हो सो नहीं। श्रुति प्रमाण से भी सिद्ध है, छान्दो० उप० (१।१।१) के उस प्रसंग में 'उद्‌गीथ की उपासना करनी चाहिये' यह विधि पाई जाती है तथा छा० उप०(२।२।१) में भी 'साम की उपासना करनी चाहिये' यह विधि वाक्य पाया जाता है, जो स्पष्ट विधि अर्थ में प्रयोग किये गये हैं। उन उपासनाओं की 'विधि' और 'फल' दोनों अपूर्व हैं। छान्दो० उप० (१।१।७), (१।७।९) और (२।२।३) में देखा जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह कथन कर्म के अङ्गभूत उद्‌गीथ आदि के लिये नहीं है, अपितु उद्‌गीथ आदि को प्रतीक बनाकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करने के लिये है, अतः ब्रह्मविद्या कर्म का अङ्ग नहीं है, जैसे 'श्रीरामजी प्रभाव की प्रकाशिका रामतापनी में श्रीरामजी की पूजा, इस विधि से बनाये हुये, रामयन्त्र में करनी चाहिये' की विधि बताई गई है और उसके पूजन के फल का भी निरूपण किया गया है, इस प्रकार की प्रतीकोपासना की विधि व फल जैसे महान बताये गये हैं, उसी प्रकार उद्‌गीथ की प्रतीकोपासना के विषय में जानना चाहिये, जैसे प्रतीक रूप, यन्त्र-पूजा का प्रभाव

यन्त्र का नहीं है परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीराम का है, वैसे ही प्रतीक रूप उद्गीथ का महत्व प्रकरण, उद्गीथ का नहीं, परब्रह्म का है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी का कथन है कि उपनिषदों में कहे गये ज्ञानोत्पादक आख्यान पारिप्लव नामक कर्म के लिये हैं, इसलिये ये ब्रह्म विद्या कर्म का अङ्ग है।

वेदव्यासजी : **पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥३।४।२३॥**

व्याख्या : उपनिषद वर्णित ज्ञान कथायें, जो वक्ता-श्रोता के सम्बन्ध से आती हैं, उन्हें पूर्व पक्षी पारिप्लव के अर्थ बताकर विरोध कर रहे हैं। अश्वमेध याग में रात्रि काल, सकुटुम्ब बैठे हुये राजा को जो अध्वर्यु उपाख्यान सुनाता है, वही 'पारिप्लव' कहा जाता है, अस्तु, इस पारिप्लव कर्म के लिये ही, उपनिषदीय कथायें हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि पारिप्लव प्रकरण के प्रारम्भ काल में, श्रुति ने 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्यादि वाक्यों द्वारा कुछ विशेष उपाख्यानों को ही, वहाँ सुनाने योग्य कहा है, उनमें यमराज, निचिकेता, जनक, याज्ञवल्क्य, अश्वपति, प्रतर्दन आदि की ब्रह्मविद्या प्रदायिनी कथायें नहीं आती हैं, अतः वे आख्यायिकायें पारिप्लव कर्म की अङ्गभूत नहीं हैं। ये सब आख्यान ब्रह्मविद्या के रहस्यार्थ को समझाने के लिये, ब्रह्म विद्या के अङ्ग हैं, अतः इन सबका विशेष माहात्म्य कहा गया है। कठ० उप० (१।३।१६) में द्रष्टव्य है, जैसे प्रेतकर्म में प्रेत संस्कार करने वाले को, गरुण पुराण की कथा पुरोहित को सुनाना चाहिये, यह विधि है। गरुण पुरुण सुनाने की विधि को लेकर, सभी पुराणों को प्रेत कर्म के दिनों में सुनाना चाहिये और सब पुराण प्रेत कर्म के अङ्ग हैं, कहना जैसे उचित नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानमयी आख्यायिकाओं को पारिप्लव कर्म का अङ्ग कहना ठीक नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रकारान्तर से उक्त बातों को पुष्टि करने की कृपा हो, मुने ?

वेदव्यासजी : **तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥३।४।२४॥**

व्याख्या : एवं प्रकारेण यमराज, नचिकेता, जनक, याज्ञवल्क्य आदि की आख्यायिकाओं को, पारिप्लवार्थक न मानकर, ब्रह्म विद्या का अङ्ग मानना सर्वथा

उचित है क्योंकि ब्रह्मविद्याओं का वर्णन-अर्थ जैसे ब्रह्म निरूपण, ब्रह्म ज्ञान व ब्रह्म-प्राप्ति विषयक चर्चा होती है, उसी प्रकार उपर्युक्त आख्यायिकाओं में ब्रह्म निरूपण ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म-प्राप्ति विषयक वार्ता का ही विनियोग किया गया है इसलिये ब्रह्मविद्या और उन उपाख्यानों की एक वाक्यता सहज सिद्ध है, अस्तु, उक्त उपाख्यान ब्रह्मविद्या के अङ्ग, है, पारिप्लव कर्म के नहीं, यही सिद्धान्त सर्वोत्तम है, जैसे योग विद्या का अध्ययन किसी सिद्ध योगी से किया गया, उसमें दृढ़ता व निखार लाने के लिये कपिल देव, गोरखनाथ, ज्ञानदेव आदि योगियों के आख्यान को सुनाकर, उनकी योग-प्रक्रिया, त्याग, विरति व चमत्कार पूर्ण चरित्र के द्वारा, साधक के मन में योग-साधना के प्रति विशेष श्रद्धा और उत्साह उत्पन्न कर दिया गया तो योग विद्या और आख्यान का अर्थ एक ही हुआ, अतः आख्यान योग का ही अङ्ग है; उसी प्रकार उक्त आख्यायिकाओं का सम्बन्ध, ब्रह्मविद्या से जानना चाहिये।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! ब्रह्म विद्या बिना किसी सहायता के पुरुषार्थ सिद्ध करने में समर्थ है क्या ?

वेदव्यासजी : अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥३।४।२५॥

व्याख्या : यह ब्रह्मविद्या रूप यज्ञ पूर्ण होते ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि में, बिना किसी की सहायता के स्वयं समर्थ है, इस लिये इस यज्ञ में अग्नि, समिधा आदि यज्ञीय साधन सामग्रियों की अपेक्षा नहीं है। इसमें एक परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का ही प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भगवतगीता (४।२४) में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने, इस यज्ञ का स्वरूप बताया है, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' कि इस ब्रह्म यज्ञ में, ब्रह्म ही स्त्रुवा है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्म ही अग्नि है, जिसमें ब्रह्म रूप होता द्वारा, ब्रह्मरूप हवन क्रिया की जाती है। इस ब्रह्म यज्ञ को समाहित चित्त से सादर करने से, ब्रह्म रूप साधक को, ब्रह्म रूप फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह ब्रह्मविद्या, ब्रह्म प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि में सर्वथा स्वतन्त्र है, अतः वह कर्म की अङ्ग नहीं कही जा सकती, जैसे अमृत, पीने वाले को, देवताओं की भाँति विरुज और अमर बनाने में स्वय समर्थ है, उसे किसी अन्य अनुपान व औषधि की आवश्यकता नहीं है, इसलिये अमृत को चिकित्सा सम्बन्धी कर्म का अङ्ग नहीं कह सकते; उसी

प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! तो ब्रह्म विद्या में किसी यज्ञ-याग व शम-दम आदि व्रतों की कोई आवश्यकता नहीं है क्या ?

वेदव्यासजी : सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।।३।४।२६।।

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२२) की श्रुति निर्देश करती है कि 'जो पर-ब्रह्म परमेश्वर सब का स्वामी है, सबका कारण है, उस परमात्मा को ब्राह्मण लोग निष्काम होकर किये हुये, स्वाध्याय यज्ञ, दान और तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं । इसी परमेश्वर को जानकर, मनुष्य मननशील होता है तथा इस संन्यासियों के लोक को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्यगण संन्यास ग्रहण करते हैं । इसी प्रकार कठ० उप० (१।२।१५) की श्रुति में कहा है कि जिस परम पद का वेद बार बार वर्णन करते हैं तथा समस्त तपों का आचरण, जिसे लक्ष्य बनाकर किया जाता है और जिसकी प्राप्ति के लिये लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुझे संक्षेप से बताता हूं । गीता (१८।५।६) में भगवान श्री कृष्ण ने भी कह है, कि 'यज्ञ दान, तप ये कर्म त्याज्य नहीं है, अनुष्ठेय हैं क्योंकि ये यज्ञादि कर्म मनीषी पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं, अतः इनका अनुष्ठान फल-आसक्ति को त्यागकर, बिना अहं के करना चाहिये ।' यही मेरा निश्चित मत है । इस प्रकार श्रुति-स्मृति के कथनानुसार, अपने अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार, कर्म करना सर्वथा उचित है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये निष्काम भाव से कर्म करना आवश्यक है । बिना निष्काम कर्म के मन शुद्ध नहीं होता और बिना विशुद्ध मन के ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति असंभव है, जैसे बिना क्षेत्र को परिष्कृत किये, अन्न की उत्पत्ति अच्छी नहीं होती, परन्तु ब्रह्म प्राप्ति में कर्म की अपेक्षा नहीं है । ब्रह्मविद्या से ही उस परम फल की सिद्धि होती है, जैसे योग्यतानुसार घोड़ा, सवारी के काम में लिया जाता है, प्रासाद पर चढ़ने के कार्य में नहीं; उसी प्रकार कर्मानुष्ठान, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सहायक है ब्रह्म के साक्षात्कार में नहीं ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! ब्रह्म प्राप्ति के लिये वे कौन से विशेष साधन हैं, जो सभी वर्णों और आश्रमों के साधकों को समान रूप से अपनाना आवश्यक है ?

वेदव्यासजी : **शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्ग-तया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।।३।४।२७।।**

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२३) की श्रुति में ब्रह्मवेत्ता के महत्व का कथन करके बताया गया है कि 'यह ब्रह्मवेत्ता की महिमा नित्य है इसकी न कर्मों से वृद्धि होती और न ह्रासता। ब्रह्मवेत्ता की इस महिमा को जानने वाला, पापकर्मों से सदा अनासक्त बना रहता है इसलिये इस महिमा को, अपने ज्ञान का विषय बनाने वाला साधक, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और ध्यानावस्थित होकर, आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है, इस प्रकार वेद में परमात्म-प्राप्ति की कामना से युक्त साधक के लिये, शम-दमादि साधनों का, ब्रह्मविद्या के अङ्ग रूप में ग्रहण होने से, सभी वर्णों व आश्रमों के लिये समान रूप से विधान है क्योंकि सब में ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा है, अतः उनका अनुष्ठान करना, साधक का परम कर्त्तव्य होता है, अस्तु, जिस मुमुक्षु के लिये, वर्णआश्रम के यज्ञादि कर्म आवश्यक न हों अथवा कर्मों से उपरत हो परम वितृष्णता ने जिनका वरण कर लिया हो, उन्हें भी शम-दम-तितिक्षा-ध्यानाभ्यास आदि आत्म-गुणों से सम्पन्न अवश्य होना चाहिये, जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिये, युक्ताहार-विहार-व्यायाम-मन की प्रसन्नता आवश्यक है, उसी प्रकार आत्म-लाभ के लिये, शम-दमादि गुणों को धारण करना परम आवश्यक है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! छान्दो० उप० (५।२।१) तथा बृह० उप० (६।१।१४) में कहा गया है कि प्राण विद्या के रहस्यवेत्ता को कोई भी अन्न अभक्ष्य नहीं होता, इस पर प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥३।४।२८॥**

व्याख्या : प्राण विद्या के रहस्य का यह एक अङ्ग है कि प्राण अन्न से सुरक्षित रहता है इसलिये यह भी कहा गया है कि अन्न ही प्राण है अतएव अन्न के द्वारा प्राण की रक्षा करनी चाहिये। अन्न मेध्य हो, गीता में त्रिविध आहार का वर्णन स्वयं भगवान ने किया है। अन्न, यज्ञावशिष्ट ही पाने की विधि बताई गई तथा उस अन्न से सर्व पापों से विमुक्ति कही गई है अतएव अन्नाहार, शास्त्ररीत्यानुसार करना ही श्रेयस्कर है किन्तु मेध्य अन्न की अप्राप्ति में जहाँ अन्न बिना प्राण न रहने की अधिक संभावना हो, वहाँ अभक्ष्य (अमेध्य) अन्न पाकर, प्राणों की रक्षा कर लेनी चाहिये किन्तु सदा के लिये अभक्ष्य पाने की विधि नहीं है क्योंकि श्रुति में ऐसे ही आचार का दर्शन होता है। छान्दों० उप० (१।१०।१ से ७ तक) की

श्रुति में एक कथा आती है, कि किसी समय टिड्डियों के गिरने एवं ओले पड़ने से कुरु देश में भीषण अकाल पड़ गया, लोग भूखों मरने लगे। वहाँ इभ्य ग्राम में उस समय उषस्ति नाम वाले एक विद्वान ब्राह्मण, अपनी पत्नी आटिकी के साथ रहते थे। दरिद्रता वश उन्हें अत्यन्त ही संकट के साथ कालक्षेप करना पड़ रहा था। कई दिनों से अन्न न मिलने के कारण, वे भूख के मारे, मृत्यु के मुख में जाने का समय जानकर, समीप ही एक महावत के पास गये। वह उड़द खा रहा था, ब्राह्मण ने उससे अपनी प्राणरक्षा के लिये उड़द खाने को माँगा। महावत ने कहा भाई ! मेरे पास इतना ही उड़द है, उसे पात्र में रखकर मैंने खाना प्रारम्भ कर दिया है। यह जूठा अन्न आप ब्राह्मण को मैं कैसे दूँ ? उषस्ति ने कहा, इसी में से मुझे खाने को दे दो। महावत ने वे उड़द उस ब्राह्मण को दे दिये और कहा कि यह जल भी रखा है, इसे आप पी लें। उषस्ति ने कहा यह जल जूठा है। इस जूठे पानी को पीने से मुझे दोष लगेगा। यह सुनकर महावत बोला, अरे, महाराज ! क्या ये उड़द जूठे नहीं है ? उषस्ति ने कहा, कि इन जूठे उड़द को खाये बिना मेरा जीना असम्भव था किन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी इच्छानुसार मिल सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राण-संकट उपस्थित होने पर ही, अमेध्य अन्न पाया जा सकता है, सर्वदा नहीं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! किसी अन्य युक्ति से उक्त वार्ता को पुष्ट करने की कृपा हो ?

वेदव्यासजी : **अबाधाच्च ॥३।४।२९॥**

व्याख्या : छान्दों० उप० (७।२६।२) की श्रुति कहती है 'कि आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, इत्यादि। आहार के विषय में अन्न की विशुद्धता को आवश्यक बताने वाले जो श्रुति वचन हैं, उनके साथ एक वाक्यता स्थापित करने के लिये, दूसरी श्रुति के द्वारा बाध (विरोध) होना उचित नहीं है, इस कारण से भी, प्राण:संकट का समय छोड़कर, साधारण काल में भक्ष्याभक्ष्य का विचार तथा अभक्ष्य का त्याग-रूप आचार सदा सुरक्षित रखना चाहिये। इतिहास व पुराणों में कई कथायें उपलब्ध होती हैं कि न पाने योग्य अन्न पाने से, बुद्धि की विशुद्धता का नाश हो गया। भीष्म पितामह ने स्वयं अपने मुख से श्रीकृष्ण, द्रोपदी आदि के सामने कहा है कि दुष्ट दुर्योधन का अन्न पाने से, मेरी बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार न कर सकी, इत्यादि।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से उक्त विषय को ही पुष्ट करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : अपि च स्मर्यते ॥३।४।३०॥

व्याख्या : इस उक्त सिद्धान्त का समर्थन स्मृति भी करती है, जैसे मनु स्मृति (१०।१०४) में कहा गया है कि 'जो मनुष्य प्राण, संकट में पड़ने पर, जहाँ कहीं से भी अन्न लेकर, खा लेता है, वह उसी प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे कीचड़ से आकाश' इस प्रकार स्मृति वचनों से भी, यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राण जाने की परिस्थिति उत्पन्न न होने तक, आहार-शुद्धि रूप सदाचार को सुरक्षित बनाये रहना चाहिये, यही श्रुति-शास्त्र और सन्तों के सिद्धान्त वचन हैं। राजा युवनाश्व न पीने योग्य जल को भूल से पानकर कैसी आपत्ति के कीचड़ में फँस गये थे। अतः आहार की परम विशुद्धता का ध्यान सदा बनाये रहना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पुनः श्रुति वचनों से भक्ष्याभक्ष्य के निषेध का प्रमाण देकर, समझाने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३।४।३१॥

व्याख्या : इच्छानुसार अभक्ष्य भोजन का निषेध स्वयं श्रुति जोर देकर करती है इसलिये श्रुति प्रमाण के अनुसार, प्राण-संकट की परिस्थिति आये बिना निषिद्ध अन्न व जल का ग्रहण नहीं करना चाहिये। छान्दों० उप० (५।१०।९) की श्रुति में अभक्ष्य भोजन करने वाले को महापापी कहा गया है। जहाँ कहीं श्रुति में ज्ञान की विशेषता दिखलाने के लिये, ब्रह्मविद के सम्बन्ध में यह कहा है कि 'उसके लिये कुछ भी अभक्ष्य नहीं है' वह केवल ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये है। इच्छानुसार स्वाद की कामना से जो अभक्ष्य चाहे, सो खाता रहे, ऐसा उस श्रुति का तात्पर्य नहीं है। स्वेच्छा पूर्वक निषिद्ध भोजन करने से, ब्रह्मविद का भी पतन होना देखा गया है। मदिरा-पान से यादव लोग भी महापापी की कोटि में आकर परस्पर लड़-कटकर, स्वयं छप्पन करोड़ जन संख्या का संहार कर लिये। साक्षात् भगवान कृष्ण के समझाने पर भी, वे न समझे। अस्तु, शास्त्राज्ञा का सम्मान करते हुये, ज्ञानी को भी अभक्ष्य का भोजन न कभी करना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ज्ञानी को कर्म करना उचित है या नहीं; यदि उचित है तो उसे कौन से कर्म करने चाहिये ?

वेदव्यासजी : **विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३।४।३२॥**

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२२) की श्रुति का निर्देश है कि शरीर यात्रोपयोगी भोजनादि कर्म तथा आत्मयात्रोपयोगी शम-दमादि कर्म,लोक संग्रह के लिये ज्ञानी को भी करणीय कहे गये हैं, अत: जिस वर्ण व आश्रम में ज्ञानी हो, उस वर्ण व आश्रम के शास्त्रोक्त कर्म, उसके लिये विहित हैं, अतएव उनका अनुष्ठान अवश्य करना, ज्ञानी का कर्तव्य है । गीता (३।२५) में भगवन श्रीकृष्ण का वचन है कि हे अर्जुन ! जैसे अज्ञानी कर्मसिक्त पुरुष कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसी प्रकार ज्ञानी को भी चाहिये कि लोक-संग्रहार्थ अनासक्त भाव से कर्मो का अनुष्ठान करे । ऋषभ देव ज्ञानी पुरुष थे । उन्होंने देह-रक्षा के लिये भी कर्म करना छोड़ दिया परिणाम उसका इतना बुरा हुआ कि उनके देखा-देखी से, वेद-विरुद्ध आचरण करने वाला, सारा बागियों का मत संसार में फैल गया, जिससे लोक-परलोक दोनों से विमुख होना पड़ा उस समाज को ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रकारान्तर से उक्त विषय को दृढ़ करने की कृपा हो, मुने ?

वेदव्यासजी : **सहकारित्वेन च ॥३।४।३३॥**

व्याख्या : जिस प्रकार शम, दम, तितिक्षा आदि कर्म, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति के साधन में सहकारी हैं, उसी प्रकार वर्ण और आश्रय के अनुकूल शास्त्र विहित आचार, व्यवहार, निष्काम भाव से किये हुये, ब्रह्मप्राप्ति के साधन में सहायक हैं अतएव ज्ञानी को भी इनका अनुष्ठास लोक-संग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये । आलस व प्रमादवश इनका त्याग नहीं होना चाहिये । योगवाशिष्ठ में कथा आती है कि एक बार ब्रह्मसभा में भगवान विष्णु पधारे, वहाँ विराजे हुये सभी ब्रह्मादि देवताओं, ऋषियों और, अन्य लोगों ने उठकर, प्रणामादि द्वारा, उनका स्वागत किया किन्तु आत्मकाम, आत्माराम सनातनजी ने उठकर, उनका अभिवादन न करके शिष्टाचार का निर्वाह नहीं किया, ज्यों के त्यों बैठे रहे, अस्तु, उस दोष से उन्हें स्कन्द रूप से मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ा, अतएव ज्ञानी को भी आचार व्यवहार रूप कर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की भक्ति के अङ्गभूत जो श्रवण-कीर्तन आदि कर्म हैं, उनका पालन कब-कब और कैसे होना चाहिये ?

वेदव्यासजी : सर्वथापि त ऐवोभयलिङ्गात् ॥३।४।३४॥

व्याख्या : किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने पर भी, भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले (भगवदर्थ) कर्म और भागवत् धर्म को सर्वभावेन अपने आचरण में लाना चाहिये। इनके अभाव को उसी प्रकार न सहना चाहिये जैसे मीनवारि के वियोग को। इनके लिये आतुर इतना होना चाहिये जैसे भूखा अनुकूल अन्न पाने के लिये क्योंकि श्रुति-स्मृति दोनों के महत्वपूर्ण, वर्णन रूप लक्षण से निश्चय कर के यही सार सिद्धान्त निकलता है। बृह० उप० (४।४।२१) की श्रुति में कहा है कि बुद्धिमान ब्राह्मण का प्रधान कर्त्तव्य यह होता है कि उस परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को तत्वतः जानकर, उसी में बुद्धि को लगाये, 'जैसे सती साध्वी नारी अपने पति में सर्वभावेन अनन्य बुद्धि से अनुरक्त रहती है।' अन्य नाना प्रकार के कहे हुये, साधन सम्बन्धी शब्दों पर ध्यान न दे क्योंकि वे सब शब्द जाल वाणी के अपव्यय मात्र हैं तथा मुण्ड० उप० (२।२।५) की श्रुति में कहा गया है कि जिस परब्रह्म परमात्मा में स्वर्ग, पृथ्वी, आन्तरिक्ष, मन सहित सर्वेन्द्रियाँ और प्राण स्थित हैं। उसी एक सबके आत्मा परब्रह्म परमेश्वर को जानना चाहिये। दूसरी अन्य बातें जो परमेश्वर सम्बन्वित नहीं है, उनको त्यागो। अमृत रूप परमात्मा को पाने के लिये, सेतु के सदृश यही एक सरल मार्ग है। श्रीमद्भागवत में (१।८।३६) भी कहा है कि 'जो आपके भक्त आपके चारु चरित्रों को प्रतिक्षण सुनते हैं, गाते हैं और वर्णन करते हैं तथा उन्हीं का स्मरण कर-करके आनन्दित होते हैं, वे ही आप श्री के उन चरण कमलों का दर्शन अविलम्ब करते हैं। जो चरण, भव प्रवाह के शोषक हैं अर्थात् भव-सागर से पार करने वाले हैं। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने बार-बार इस विषय में अर्जुन से कहा, है, यथा गीता (९।१३।१४) में, 'हे पार्थ ! दैवी सम्पत्ति से युक्त अनन्य मन वाले महात्मा गण मुझे समस्त भूतों का आदि और अविनाशी जानकर, मेरा भजन करते हैं, वे यत्नशील दृढ़ निश्चयी भक्त निरन्तर मेरे नाम व गुणों का कीर्तन तथा मुझे नमस्कार करते हैं, सदा मेरे में मन, बुद्धि लगाये हुये, प्रेम पूर्वक मेरी उपासना करते हैं।' इससे यही सिद्ध होता है कि भगवद् भक्ति के श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि कर्म सतत होते रहें, इनका अनुष्ठान प्रमाद-आलस को छोड़कर, प्रत्येक

परिस्थिति में निरन्तर करना चाहिये, जिससे परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति शीघ्र सुलभ हो जाती है।

मुमुक्षु मुखेन : भगवद् कथा-श्रवणादि की विशेषता क्या है ? मुने !

वेदव्यासजी : **अनभिभवं च दर्शयति ।।३।४।३५।।**

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२३) की श्रुति ने कहा है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति करने वालों की महिमा जो ब्रह्म दर्शनाभिलाषी साधक जानते हैं, उनका मन शान्त हो जाता है अर्थात् विषय वासना से अभिभूत नहीं होता, जिनकी इन्द्रियाँ वश में हो गई हैं, जो सभी क्रियाओं से उपरत है और जो सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक सुख-दुखों को सहन करने में समर्थ तितिक्षु हैं तथा परब्रह्म परमेश्वर के स्मरण में तन्मय रहा करते हैं, वे समस्त पापों से पार हो जाते हैं, उन्हें पाप, संताप नहीं पहुँचा सकते अपितु वही पापों को संतप्त कर देते हैं। इस प्रकार से भगवान की कथा-श्रवण व नाम संकीर्तन और स्मरण से, सर्व पापों का विनाश वैसे ही हो जाता है, जैसे अग्नि की चिनगारी से सूखी तृण-राशि, इसलिये इनका अनुष्ठान प्रत्येक परिस्थिति में करते रहना चाहिये। भगवान के नाम में अनिर्वचनीय शक्ति है। नाम का उच्चारण किसी व्याज से भी ले लेने से, महान से महान पापी विशुद्धात्मा बन गये हैं। पुराणों में अजामिल, गज, गणिका, गीध, यवन, खस, कोल-किरातों की कथायें प्रसिद्ध हैं जो भगवन्नाम् के पापमोचिनी शक्ति का परिचय देती हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रकारान्तर से पुनः उपासना विषयक कर्मानुष्ठान की विशेषता का प्रतिपादन करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।।३।४।३६।।**

व्याख्या : वर्णाश्रम धर्मों के पालन में असमर्थ, ब्रह्म-जिज्ञासु भी केवल परब्रह्म परमेश्वर की भक्ति एवं भागवद्धर्मों का अनुष्ठान करने से ही, पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति सर्वभावेन कर सकते हैं क्योंकि श्रुति में ऐसे ही विधान का दर्शन होता है। श्वेता० उप० (१।१४) में बताया गया है कि अपने शरीर को नीचे की अरणि और परमात्मा के नाम ऊँकार (इससे ईश्वर के सर्व नामों का

ग्रहण होता है) को ऊपर की अरणि बनाकर, ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहने से, साधक काठ में छिपी हुई अग्नि की भाँति हृदय में स्थित, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का साक्षात्कार कर लेता है, इसके पश्चात श्वेता० उप० (२।१ से ५ तक) में ध्यानावस्थित होने के लिये, परब्रह्म परमेश्वर से प्रार्थना करने और उनकी शरण ग्रहण के निर्देश का वर्णन है, पुनः श्वेता० उप० (२।७) में कहा गया है, कि हे जिज्ञासु ! जगत के कारण भूत सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर की शक्ति व प्रेरणा का सहारा लेकर, तुम्हें उनकी प्राप्ति के लिये, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान की सेवा–समाराधना में संलग्न रहना चाहिये। ऐसा करने से तुम्हारे पूर्व कृत संचित कर्म, साधन में विघ्न उपस्थित न कर सकेंगे, पुनः श्वेता० उप० (२।१४,१५) में, उपर्युक्त सब साधनों का फल स्वस्वरूप, परस्वरूप अर्थात् आत्मा और परमात्मा के स्वरूप–साक्षात्कार रूप परम फल की प्राप्ति कही गई है, इससे सिद्ध है कि वर्णाश्रम-धर्म-विहीन मनुष्य, केवल भगद्भक्ति व भागवद्धर्म का आश्रय लेने से, परब्रह्म की प्राप्ति कर सकते हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! क्या स्मृतियाँ भी उक्त वार्ता का समर्थन करती हैं ?

वेदव्यासजी : **अपि च स्मर्यते ।।३।४।३७।।**

व्याख्या : अवश्यमेव स्मृतियों में भी उक्त वार्ता का पूर्ण रूपेण समर्थन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता (९।३२) में जो वर्ण, आश्रम, धर्म के अनधिकारी हैं, ऐसे पाप योनि चाण्डाल आदि को भी, भगवान की शरणागति से, परम गति बताई गई है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता (११।४८।५३।५४) में स्पष्ट कहा है कि मेरी प्राप्ति में वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान तथा नाना प्रकार की क्रिया और उग्र तप कारण नहीं हो सकते अर्थात् मात्र इनसे मेरी प्राप्ति नहीं होती, मैं तो केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में, स्थान-स्थान पर भगवत शरणागति, भगवद्भक्ति एवं भागवद्धर्म का समर्थन किया गया है कि वर्णाश्रम धर्म पालन में असमर्थ साधक केवल भक्ति से, परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है, जिस प्रकार सूर्य के सारथी अरुण बिना पैर के अर्थात् पांव से चलने में सब प्रकार से असमर्थ होते हुये, सूर्य के यान में बैठकर, पूरे ब्रह्माण्ड का दर्शन कर लेते हैं, उसी प्रकार भक्ति का आश्रय लेकर भक्त, भगवान की प्राप्ति व भगवद्धाम की प्राप्ति कर लेते हैं।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो! भागवद्धर्मानुष्ठान की विशेषता बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **विशेषानुग्रहश्च ॥३।४।३८॥**

व्याख्या : जो अन्यालम्बन त्यागकर (अन्य धर्म-कर्म का आश्रय न लेकर) अनन्य भाव से केवल भक्ति व भागवद्धर्म का आश्रय ग्रहण करता है तथा उसके अनुष्ठान में सतत लगा रहता है, वह भगवान की विशेष कृपा प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है तथा उस कृपा वैभव का साक्षात् अनुभव करता है, यही विशेषता भक्ति में है। अन्य अधिकारी अपने हाथ से तैरकर, समुद्र पार करते हैं किन्तु भगवान अपने आश्रयी भक्त का हाथ पकड़कर, स्वयं भवसागर से खींच लेते हैं और अपने अंक में बैठाकर, उसका दुलार करते हैं। श्रीमद्भागवत में आता है कि भगवान स्वयं दुर्वासा जी से कहते हैं कि मैं भक्तों के आधीन सदा रहता हूँ, भक्तों के पीछे-पीछे उनकी पद-रज से अपने को पवित्र करने के लिये डोलता हूँ। द्वादशवाँ पूरा अध्याय गीता का तथा (८।१४) (९।१२) इसके अतिरिक्त सभी इतिहास, पुराण, स्मृति आदि भक्ति-भक्त और भगवान् की महिमा से भरे हुये हैं। इससे सभी साधक तथा नारद, व्यास, शुक, हनुमान और अन्य ऋषि, एक स्वर से भक्ति की महिमा का गान करके कहते हैं कि 'त्रिसत्यं भक्ति रेव गरीयसी' और मुक्ति की ओर पीठ फेरकर, भक्ति की कामना करते हैं।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! पुनः भागवद्धर्म की विशेषता का प्रतिपादन करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ॥३।४।३९॥**

व्याख्या : उपर्युक्त सभी हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि अन्य सब धर्मों की अपेक्षा भगवान की भक्ति एवं भागवद्धर्म सर्वभावेन श्रेष्ठ है, इसके अतिरिक्त स्मृति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। जैसे श्रीमद्भागवत् (७।९।१०) में कहा गया है, कि द्वादश गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान पद्मनाभ के चरण-कमल की भक्ति से विमुख है, तो उसकी अपेक्षा उस चाण्डाल को श्रेष्ठ मानता हूँ जिसके मन, वचन, कर्म और धनादि सब परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को समर्पित हैं क्योंकि वह चाण्डाल भक्त अपनी भक्ति के प्रभाव से अपने सारे कुल को पवित्र बनाने की सामर्थ्य वाला होता है, परन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसी प्रकार श्रीभागवत (३।३३।७) में आया है, कि

हे भगवान् ! जिसकी जिह्वा पर आपका पवित्र नाम निवास करता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है क्योंकि जो आपके नाम का कीर्तन करते हैं, उन महापुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया। इस प्रकार सभी पुराणों, इतिहासों और स्मृतियों में स्थान-स्थान पर भक्ति-भक्त, और भगवान की महिमा का गान करते हुये, यही सिद्ध किया है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान करने वालों की अपेक्षा भक्ति व भागवद्धर्म का अनुष्ठान अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति में बहुत सी विशेषतायें हैं। महाभारत में कथा आती है कि श्री युधिष्ठिर जी महाराज के यज्ञ में सभी ऋषियों, मुनियों की सेवा-पूजा करने के पश्चात् भी यज्ञ-पूर्ति का घंटा न बजा, परन्तु जब भक्त वलमीक स्वपच ने भोजन पाया तब जाकर यज्ञ-पूर्ति का घंटा बजा।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! यदि कोई मनुष्य कारणवश आश्रम का व्यतिक्रम करना चाहे तो कर सकता है या नही ? यदि कर लें तो उसके व्यक्तित्व में क्या कोई हानि होगी, या नहीं ?

वेदव्यासजी जी : **तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमा— तद्रूपाभावेभ्यः ॥३।४।४०॥**

व्याख्या : चतुर्थ आश्रम संन्यास को ग्रहण करके पुनः व्यतिक्रम से गृहस्थ आश्रम में लौटने का विधान शास्त्र में नहीं बताया गया, इसी प्रकार वानप्रस्थ से भी गृहस्थाश्रम में लौटना, श्रुति में निषेध किया गया है क्योंकि उच्च आश्रम में स्थित होकर नीचे गिरने का निषेध श्रुति में तो है ही। किसी वर्ग का प्राणी अपना पतन नहीं चाहता, अतः सबकी ओर से उक्त वार्ता का निषेध है। आश्रम बदलने की विधि जो श्रुतियों में है, वह क्रम से है, विलोम से नहीं। वह (जाबाल० उ०४) में इस प्रकार कही गई है कि ब्रह्मचर्य की परिसमाप्ति करके, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये पुनः गृहस्थ से वानप्रस्थ में जाना चाहिये, पुनः वानप्रस्थ से संन्यास आश्रम से जाना बताया गया है अथवा विशेष वैराग्य की अपेक्षा से, किसी भी आश्रम में, संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। संन्यास से पीछे लौटना क्रम और शिष्टाचार के विपरीत है। आचार्य जैमिनि का भी यही मत है इसलिये आश्रम का व्यतिक्रम करना असंगत और अपराध है। श्रुति मर्यादा का उल्लंघन करने वाला पापी, सज्जनों की दृष्टि से गिर जाता है, जैसे ऊँचे स्थान से गिरने से

अङ्ग-भङ्ग या मृत्यु हुये बिना, प्राणी नहीं रहता वैसे ही उच्च आश्रम से नीचे गृहस्थाश्रम में गिरने वाला मनुष्य, महाभय को प्राप्त होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रायश्चित कर लेने पर, वह मनुष्य शुद्ध हो जाता होगा कि नहीं ?

वेदव्यासजी : **न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्**
॥३।४।४१॥

व्याख्या : ब्रह्मचर्याश्रम में यदि ब्रह्मचारी का व्रत भंग हो जाय तो श्रुति-स्मृति में उसके प्रायश्चित का विधान बताया गया है; इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में भी ऋतुकालादि का नियम, पालन भङ्ग हो जाने से प्रायश्चित कहा गया है क्योंकि ये प्रायश्चित के अधिकारी, शास्त्रों में कहे गये हैं, परन्तु वानप्रस्थ व संन्यास ग्रहण करके जो पुन: गृहस्थाश्रम में लौटकर, स्त्री-प्रसङ्ग आदि में संलग्न होकर, आरूढ़ पतित हो गये हैं, उनकी परिशुद्धि के लिये शास्त्र में, किसी प्रकार के प्रायश्चित का विधान नहीं है। शास्त्रों-स्मृतियों में उनका अतिशय पतित होना मानकर, उन्हें प्रायश्चित करने का अधिकारी नहीं माना गया है, जैमिनि का भी यही मत है, जैसे अनवसर स्वर्ग से पतन होने पर, अनधिकारी त्रिशङ्कु के लिये किसी ने कोई प्रायश्चित नहीं कराया क्योंकि शास्त्र सम्मति न थी; इसी प्रकार आसक्ति वश गोमांस भोजी, विप्रमांस भोजी ब्राह्मण की भाँति, आश्रम पतित का कोई प्रायश्चित नहीं है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय पर अन्य आचार्यों का क्या मत है ?

वेदव्यासजी : **उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्** ॥३।४।४२॥

व्याख्या : कई आचार्यों का कहना है कि जैसे ब्रह्मचारी अपने व्रत से भ्रष्ट होने पर भी, प्रायश्चित का अधिकारी माना गया है, उसी प्रकार वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम से गृहस्थ में लौटने वाले का प्रायश्चित में अधिकार होना चाहिये। महापातक में इसकी संज्ञा न होकर, उपपातक में की गई है इसलिये अभक्ष्य भक्षण की भाँति इसका भी प्रायश्चित होना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसमें आपकी सम्मति क्या है ?

वेदव्यासजी : **बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥३।४।४३॥**

व्याख्या : आरूढ़ पतित वानप्रस्थी व संन्यासी चाहे महापातकी हों व उपपातकी, उभय भाँति, शिष्ट सम्प्रदाय और वैदिक ब्रह्म विद्या के अधिकार से सर्वथा बहिष्कृत हैं। स्मृति प्रमाण और शिष्ट पुरुषों के आचार-व्यवहार से, यही सिद्धान्त स्थायी सिद्ध होता है क्योंकि उनका पतन भोगों की आसक्ति और उच्च-स्थान के अनादर से ही होता है, अतः वे पुनः ब्रह्म विद्या में अधिकार प्राप्त होने योग्य नहीं है। श्रेष्ठ पुरुष उनके साथ यज्ञ स्वाध्याय और विवाह व अन्न-जल ग्रहण नहीं करते हैं, जैसे श्रेष्ठ आचरण वाला पति, विवाहिता होने पर भी, पुंश्चली स्वतन्त्र नारी को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही शिष्ट समाज आरूढ़ पतित को नहीं ग्रहण करता।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उद्‌गीथ आदि उपासना का कर्ता यजमान होता है, या कर्म करने वाला ऋत्विक ? बतलाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **स्वामिन : फलश्रुतेरित्यात्रेय : ॥३।४।४४॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (२।३।२) की श्रुति के अनुसार, आत्रेय ऋषि का मत है कि 'जो इस उपासना का ज्ञान इस प्रकार रखता है, वह पुरुष वृष्टि विषय में पञ्च प्रकारेण साम की उपासना करता है, उसके हेतु वर्षा होती है, वह वर्षा कराने में समर्थ होता है।' तथा बृह० उप० (१।३।२८) की श्रुति में कहा गया है कि 'उद्‌गाता अपने व यजमान के लिये जिसकी कामना करता है, उसका आगान करता है।' इस प्रकार फल-श्रुति बताने वाली, श्रुतियों से यही सिद्ध होता है कि यज्ञ के स्वामी को ही उद्‌गीथ उपासनादि का फल मिलता है, यज्ञ कर्म कराने वाले ऋत्विक, उद्‌गाता आदि को नहीं क्योंकि कामनाओं को लेकर की हुई उपासनाओं का कर्तापन भी स्वामी का अर्थात् यजमान का ही होना सर्वथा उचित यज्ञ कर्ता के अनुरूप है, जैसे कृषि करने वाले कृषक को ही अपने खेत की फसल मिलती है, हलवाहे व अन्य कार्य करने वालों को नहीं तथा किसान ही खेत का मालिक है और खेती करने का कर्तापन भी उसी में है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस पर अन्य आचार्य का मत क्या है ?

वेदव्यासजी : **आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥३।४।४५॥**

व्याख्या : आचार्य औडुलोमि का कथन है कि कर्तापन यजमान का नहीं है, अपितु ऋत्विक का है तथापि फल यजमान को प्राप्त होता है क्योंकि उस ऋत्विक को धन-दानादि देकर, यजमान उस कर्म के लिये वरण कर लेता है, जिससे उसके द्वारा कराये हुये कर्म का फल यजमान को मिले, जैसे खरीदे हुये आदमी के द्वारा कराई हुई, खेत की गुड़ाई का फल खेत वाले को ही मिलता है, इसलिये ऋत्विक द्वारा किये हुये कर्म के फल का अधिकारी यजमान होता है, ऋत्विक का अधिकार केवल यजमान की दी हुई दक्षिणा ही में है। समर यज्ञ में संग्राम करने वाले बहुत से वेतन भोगी वीर लड़ते हैं, कटते हैं, मरते हैं किन्तु विजयश्री की माल, उस महाराजा के ही गले पड़ती है, जिसने सैनिकों के भरण-पोषण का भार ले रखा था। किसी वीर व सेनापति की विजय नहीं मानी जाती। वह विजय तो राजा की ही है, सेनापति आदि सैनिकों को तो केवल राजा के दिये हुये, धन में अधिकार है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आपकी ओर से इसमें सम्मति क्या है ?

वेदव्यासजी : **श्रुतेश्च ॥३।४।४६॥**

व्याख्या : यज्ञ के ऋत्विक की कामना निःसन्देह यजमान के लिये ही होती है, वह (शत० १।३।१।१६ में) स्पष्ट कहा गया है। इसलिये इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला उद्‌गाता, यज्ञकर्ता (यजमान) से कहे कि 'मैं तेरे लिये किन-किन भोगों का आगान करूं' छान्दों० उप० (१।७।८) इत्यादि श्रुति वाक्यों से भी कर्म का कर्तापन ऋत्विक और फल में अधिकार, यजमान का सिद्ध होता है। इस प्रकार औडुलोमि आचार्य का मत, हमें भी उचित ही प्रतीत होता है, जैसे बगीचे का माली पेड़ लगाने, उसमें पानी देने और उनकी रक्षा करने में, वह कर्ता है किन्तु बाग के पुष्पों और फलों का उपभोग बाग का मालिक किया करता है, जिसने माली को धन देकर, अपनी इच्छानुसार पुष्पों और फलों के सुन्दर-सुन्दर पेड़, अपने बाग में लगवाये हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! बृह० उप० (३।५।१) के प्रकरण में सन्यास आश्रम में ही ब्रह्म-प्राप्ति का वर्णन आया है, अन्य में नहीं, समझाने की कृपा हो !

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्
॥३।४।४७॥

व्याख्या : कहोल के पूछने पर याज्ञवल्क्य जी ने सबके अन्तरात्मा को परमात्मा का स्वरूप सांकेतिक वाक्यों द्वारा बताया पुनः कहा जो शोक, मोह, भूख, प्यास और जरा-मृत्यु से परे है, वह परमात्मा है , इस प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ब्राह्मण, पुत्र कामना, धन कामना और कीर्ति कामना के साथ स्वर्ग लोक-सुख सम्बन्धी कामना को त्यागकर (विरक्त होकर) भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले पथ का अनुसरण करता है, पुनः कामना मात्र को त्याज्य बताकर कहा है कि वह ब्राह्मण, उस पाण्डित्य को भली-भाँति जानकर, बाल्य भाव में स्थित रहने की इच्छा करे, पुनः उससे भी उपरत होकर मुनि हो जाय, पुनः अमौन और मौन दोनों से आग्रह बुद्धि हटा ले, तब वह ब्राह्मण हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को भली-भाँति प्राप्त कर लेता है, इत्तादि बृ० उप० (३।५।१) की श्रुति में वर्णन आता है। इस वर्णन में सन्यास आश्रम में ही ब्रह्म-प्राप्ति कही गई है। इस प्रकरण में पाण्डित्य और बाल्यभाव के अन्त में 'तिष्ठासेत' अर्थात् (स्थित करने की इच्छा करे) यह विधि वाक्य है परन्तु मुनि शब्द के अन्त में कोई विधि वाक्य नहीं है, अतः सहकार्यान्तर विधि होने से, अन्य स्थानों में कहे हुये, विधि वाक्यों के अनुसार तीसरे साधन मुनि भाव के लिये भी विधि वाक्य का प्रयोग, पक्षान्तर से मान लेना चाहिये जैसे यह कहा जाय कि विद्यार्थी, ब्रह्मचारी बनकर प्रथमा का भली-भाँति अध्ययन कर, मध्यमा पाठ्य विधि में स्थित होकर, पढ़ने की इच्छा करे फिर उसे पढ़कर, शास्त्री हो जाय फिर शास्त्रीय और अशास्त्रीय अर्थ के वाक्य-ज्ञान से उपरत होकर, वह आचार्य हो जाता है अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान को अपने आचरण में उतार कर, अशास्त्रीय आचरण को, अपने से कंटक की तरह निकाल कर फेंक देता है। अब इसमें 'मध्यमा पाठ्य विधि को समझ कर पढ़ने की इच्छा करे' यह विधि है, जो प्रथमा और मध्यमा में कही गई है, परन्तु शास्त्री के साथ कोई विधि न होने पर भी, सहकार्यन्तिर विधि से जो विधि, प्रथमा-मध्यमा के अध्ययन में कही गई है, उसी विधि का ग्रहण शास्त्री के अध्ययन में भी समझना चाहिये। उसी प्रकार पाण्डित्य, (केवल शास्त्रीय कोरा ज्ञान) बाल्यभाव (विकारों का अभाव) और मौन (मननशीलता) इन तीनों की परि-पक्व अवस्था अर्थात् साधन रूप की अपेक्षा छोड़कर, सहज आत्म गुण के रूप में, इनकी स्थिति होने पर ही, ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। यही इस प्रकरण का

संदेश है।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! इस सिद्धान्त से तो ब्रह्म विद्या का अधिकार व ब्रह्म प्राप्ति का होना, सन्यास को ही जाना जाता है, तो फिर छान्दो० उप० (८।१५।१) की श्रुति में गृहस्थाश्रम के साथ-साथ ब्रह्म विद्या का प्रकरण क्यों समाप्त किया गया है ?

वेदव्यासजी : कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।।३।४।४८।।

व्याख्या : गृहस्थाश्रम में चारों आश्रमों का भाव है क्योंकि ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रम सेवी गुरु के पास ही ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करता है, वानप्रस्थ व सन्यास का मूल गृहस्थ ही है तथा इन दोनों आश्रमों का जीवन निर्वाह भी, गृहस्थ से दी हुई भिक्षा वृत्ति के द्वारा ही होता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में चारों आश्रम अन्तर्भुक हैं, और ब्रह्म विद्या में चारों आश्रमों का अधिकार स्पष्ट रूप से श्रुतियों द्वारा निर्धारित है, इसलिये उस ब्रह्म विद्या के प्रकरण का उपसंहार, गृहस्थाश्रम के साथ-साथ किया गया है। पूर्व सूत्र में जो सन्यास का संकेत है, वह साधन की सुगमता को लेकर कहा गया है क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति सभी ऐषणाओं की समाप्ति पर अर्थात् सर्व त्याग पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेषादि विकारों के रहते, मनन-शील रहना संभव नहीं है, अत: दूसरे आश्रमों में विघ्नों का बाहुल्य तथा सन्यास में स्वभावतः उसका अभाव होने से, साधन की सुगमता समझकर ऐसा कहा गया है। अन्य आश्रमों में ब्रह्म विद्या के अधिकार का निषेध नहीं किया गया है, जैसे गृहस्थाश्रम में ब्रह्म विद्या का अधिकार प्राप्त होने से ही, इन्द्र और वैरोचन ब्रह्मा के पास ब्रह्म विद्या पढ़ने तो गये किन्तु विघ्न भय से वैरोचन लौट आये। इन्द्र पढ़े तो किन्तु स्वर्ग-सुख प्राप्ति के लोभ से ब्रह्म-विद्या पढ़े, अत: ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हुआ, इस प्रकार विघ्न अन्य आश्रमों में आ जाते हैं। सन्यास अविघ्न है, शुक-सनकादि सर्वत्यागकर, ब्रह्मज्ञान सहज में प्राप्त कर लिये। जनक जी जैसे वीर गृहस्थ भी ब्रह्म प्राप्ति गृहस्थाश्रम में ही कर सकते हैं, अत: अन्य आश्रमों में सन्यास की भाँति ही, ब्रह्म विद्या में अधिकार है।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से ब्रह्म विद्या में सभी आश्रमों का अधिकार, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥३।४।४९॥**

व्याख्या : जैसे पूर्व कही हुई मनन शीलता (मौन) का साधन सभी के लिये कहा गया है, उसी प्रकार ब्रह्म विद्या एवं उसके साधनों का विधान, सभी आश्रमों के लिये श्रुति में कहा गया है यथा बृह० उप० (४।४।२३) की श्रुति में आया है कि इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता की महिमा का ज्ञाता, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर, अपने ही भीतर उस सबके आत्म स्वरूप, परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार अन्य श्रुति प्रकरणों में भी कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म विद्या में समान भाव से सभी आश्रमों का अधिकार है, जैसे मण्डी में बिकने वाले सभी प्रकार के अन्नों में, सभी अन्नाहार कर जीने वाले, देहधारी मनुष्यों का बराबर अधिकार है; उसी प्रकार ब्रह्म विद्या मात्र से, ब्रह्म-प्राप्ति करने वालों के लिये, उनके आत्मा का आहार, श्रुतियों में बताई हुई, ब्रह्म विद्या में सब आश्रमों का अधिकार है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने सैतालीसवें सूत्र में बाल्यभाव में स्थित होने की बात आई है, अस्तु, बालक के कौन से भाव ग्रहणीय है ?

वेदव्यासजी : **अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥३।४।५०॥**

व्याख्या : अपने गुणों को अपने मुख से प्रकट न करना, बालक के भाव को ग्रहण करना, श्रुति के कथन का तात्पर्य है, अतः बालक के समान दम्भ, मान और राग-द्वेष आदि विकारों की अभाव दशा में तथा अपने मुख से अपने गुणों की ख्याति न करने में स्थित होना ही, ब्रह्म विद्या वालों को बाल्यभाव में स्थित होना, श्रुति ने कहा है। अपवित्र भक्षण, अशौच और स्वेच्छानुसार आदि को ग्रहण करने का भाव, बाल्यभाव नहीं है। यदि कोई ब्रह्मज्ञानी का चोला पहन कर इन बाल भावों को मनमानी ग्रहण कर लेता है, उसका शीघ्र पतन होता है। ब्रह्म दर्शन से तो उसे वंचित ही रहना पड़ता है क्योंकि ब्रह्म विद्या के सहकारी साधन भावों के अनुसार ही बाल्यभावों को ग्रहण करने का आदेश श्रुति का है, विरोधी भावों का नहीं; तदनुसार ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर, बाल्यभाव से विचरण करने का भाव, बालक की भाँति अपने गुणों को प्रकट न करते हुये दंभ, मान और राग-द्वेष आदि विकारों से रहित होकर, यथेच्छा कालक्षेप करने का है, जैसे

किसी को कहा जाय कि चन्द्रकीर्ति श्रीराम जी के यश का गान करो तो इसका अर्थ है, सुधाकर शीतल, लोकप्रिय, अमृत स्वरूप, सौन्दर्य सार विग्रह आदि गुणों से युक्त श्रीराम जी का यश वर्णन करो। यहाँ चन्द्र के कलंकित जीवन, घटने-बढ़ने तथा राहु से ग्रसित होने आदि निकृष्ट गुणों का ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है; इसी प्रकार उक्त वार्ता को जानना चाहिये।

मुमुक्षु सुखेन : प्रभो ! शास्त्र कथित ब्रह्म विद्या का फल, जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होना और ब्रह्म प्राप्ति कर लेना, इसी जन्म में होता है कि जन्मान्तर में ?

वेदव्यास जी : **ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥३।४।५१॥**

व्याख्या : ऐत० उप० (२।५) की श्रुति के अनुसार, वामदेव ऋषि को गर्भ में ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो गई थी। श्री शुकदेव जी के विषय में भी ऐसा ही सुना जाता है। गीता (६।४०) तथा (६।४३) में भगद्वाक्य है, कि 'न हि कल्याण कृत कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति।' कल्याणमय परमात्म प्राप्ति के लिये साधन रूप कर्म के कर्ताओं की कभी दुर्गति नहीं होती। दूसरे जन्म में वह पूर्व जन्म की अभ्यास जनित बुद्धि से युक्त होकर, पुनः कल्याण कर्मों के अभ्यास में लगकर, मुक्त हो जाता है, अतः श्रुति-स्मृति के इस प्रकार प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि साधक के अभ्यास में कोई विघ्न न उपस्थित होने से अर्थात् अभ्यास पूर्णता की प्राप्ति हो जाने से, इसी जन्म में मुक्ति हो जाती है अगर किसी प्रतिबन्ध के कारण योगी अपूर्ण रहा तो दूसरे जन्म में, उसको मुक्ति रूप फल की प्राप्ति संभव है किन्तु ब्रह्म प्राप्ति विषयक अभ्यास का विनाश नहीं होता, यह निश्चय है। साधक के किये हुये अभ्यास के मृदु मध्यम और तीव्र संवेग के अनुसार, समय से मुक्ति रूप फल की प्राप्ति अवश्य होती है, जैसे किसी आम आदि वृक्ष की सेवा के मृदु, मध्य और यथेष्ट को लेकर ही, उनमें कम व अधिक समय में ही फल आते हैं, वैसे ही उक्त वार्ता को जानना चाहिये।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! जिन्हे ब्रह्म विद्या का मुक्ति रूप फल, इसी जन्म में मिलना बताया गया है, उन्हें मृत्यु-लोक ही में वह फल मिल जाता है कि लोका-

न्तर में जाकर ?

वेदव्यासजी : **एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृते :**
॥३।४।५२॥

व्याख्या : जिस प्रकार ब्रह्मविद्या के मुक्ति रूप फल की प्राप्ति का नियम नहीं है कि इस जन्म में मिलता है या जन्मान्तर में; उसी प्रकार यह भी नियम नहीं है कि मृत्युलोक में प्राप्त होता है या ब्रह्मलोक में। ब्रह्म प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति के विषय में कठोपनिषद (२।३।१४) में कहा गया है कि जब जिज्ञासु साधक के हृदयस्थ कामनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा यही सिद्ध होता है कि जिसकी ब्राह्मी स्थिति शरीर रहते ही हो जाती है, उसे यहीं ब्रह्म प्राप्ति हो जाना, मानना चाहिये। जिसकी स्थिति वैसी नहीं हो पाई, उसे ब्रह्मलोक में ब्रह्म-प्राप्ति का होना समझना चाहिये जैसे किसी को उसके स्थिति, श्रद्धा व कामना के अनुसार, यहीं पुण्य फल की प्राप्ति हो जाती है यथा पुत्रेष्टि यज्ञ से, यहीं पुत्र की प्राप्ति और जिसका पुण्य अधूरा है या पूर्ण होते हुये भी, स्वर्ग सुख परक है, उसे फल की प्राप्ति दूसरे जन्म व दूसरे लोक में होती है। उसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

तात्पर्यार्थ : ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म की व मुक्ति की प्राप्ति संभव है, केवल कर्म से नहीं। विहित वर्णाश्रमानुकूल कर्म करने से, मन पवित्र होता है, अस्तु, ब्रह्म-विद्या का साधन भूत समझकर व लोक-संग्रहार्थ कर्म का अनुष्ठान करते रहना, न करने से अच्छा है, हाँ! कर्म में कर्तापन का अभिमान, आसक्ति और फल की कामना न होनी चाहिये। भगवद्भक्ति की महिमा की विशेषता कर्म व ज्ञान-मार्ग से अधिक बताते हुये कहा है, कि वर्णाश्रम धर्म किसी विघ्न या अयोग्यता के कारण नहीं भी किये जा सकते, परन्तु भक्ति विवर्धक श्रवण-कीर्तनादि का अनुष्ठान किसी परिस्थिति में त्यागने योग्य नहीं है। भक्ति में लगा हुआ चाण्डाल भी, उस वेद पाठी कर्मठ ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, जो भगवान की भक्ति से विमुख है। भक्ति-वान पुरुष के सारे संचित पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और वह अपने कुल का उद्धार करने वाला सिद्ध होता है। भगवान, भक्त के आधीन हो जाते हैं, उसके योगक्षम का वहन स्वयं करते हैं। भक्त, भगवान को बहुत प्रिय है अतः भक्ति,

कर्म, योग और ज्ञान से अधिकतम गरीयसी है, जानकर कल्याण कामी को, सभी साधनों की अपेक्षा त्यागकर, भक्ति के अनुष्ठान में लग जाना चाहिये, यही वेदान्त (ब्रह्म-सूत्र) के तीसरे अध्याय के चौथे पाद का सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के
तृतीय अध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त

तृतीय अध्याय समाप्त

—श्री—

श्रीवेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

चतुर्थ अध्याय का प्रथम पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पूर्वोक्त उपासनायें आचार्य से अध्ययन कर लेने मात्र से फलवती सिद्धि होती हैं कि उनके साधनों का बार-बार अनुष्ठान करने से ?

वेदव्यासजी : **आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥४।१।१॥**

व्याख्या : बृह० उप० (४।५।६) की श्रुति का निर्देश है कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' वह परब्रह्म परमात्मा ही दर्शन करने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है । इसी प्रकार मुण्ड० उप० (३।१।८) की श्रुति भी निर्देश करती है—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।' विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त साधक; उस कला रहित पुरुषोत्तम भगवान को निरन्तर ध्यान करता हुआ, ज्ञान की निर्मलता से देखता है । तथा मुण्ड० उप० (३।२।१) में भी कहा गया है कि जो साधक निष्काम भाव से, उस परम पुरुष की उपासना करते हैं, वे इस रजोवीर्य मय शरीर का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् उनका देह-सम्बन्ध (प्रकृति-सम्बन्ध) छूट जाता है; इस प्रकार ब्रह्म विद्या का बार-बार अभ्यास करना, स्थान-स्थान पर बताया जाने से, यही सिद्धि होता है, कि आचार्य मुख से सुनी हुई ब्रह्म-विद्या का बार-बार अभ्यास करने से ही, ब्रह्म-प्राप्ति रूप महाफल की प्राप्ति होती है जैसे कोई पुरुष धनुर्विद्या किसी गुरु से सुन ली किन्तु उसका अभ्यास न करने से हस्तलाघवता, लक्ष्यवेध, अन्तर प्रेक्षता, पैंतड़े का कौशल्य आदि अनेक वीरोचित गुण न प्राप्त होने से, उसे पराजय का ही दर्शन करना पड़ता हैं । उसी प्रकार ब्रह्म-विद्या के विषय में समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने प्रकारान्तर से, इसी सिद्धान्त को समझाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी **लिङ्गाच्च ।।४।१।२।।**

व्याख्या : भगवान श्रीकृष्ण से कहा हुआ उक्त सिद्धान्त बार-बार स्थान-स्थान पर, गीता में देखा जाता है, गीता (८।७) 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' सर्व समय मेरा स्मरण कर। गीता (८।८) में परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन।' बार-बार मेरा चिन्तन करता हुआ योगी, दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। इसी प्रकार गीता (८।१४) तथा (१२।२) और, और अन्य स्थानों में गीतोक्त प्रमाण द्रष्टव्य हैं। गीता ही नहीं और अन्य स्मृतियों में भी, यही सिद्धान्त पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य से अध्ययन की हुई, ब्रह्म विद्या का बार-बार अभ्यास रूप अनुष्ठान करना चाहिये, जैसे एक सिद्ध ने एक पुरुष को एक मन्त्र बताया और कहा कि यदि शत्रु के सामने, इसको जपते हुये जाओगे तो वह तुम्हारी हत्या न करके, तुम्हारे चरणों में लोट जायगा किन्तु उस पुरुष के कोई शत्रु थे नहीं इसलिये उसने सोचा कि इस मन्त्र से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है, मन्त्र की अवहेलना कर मन्त्र का अभ्यास न करने से, वह मन्त्र भी भूल गया, दैवात् विधि-विधान से, किसी कारणवश, उसकी महान शत्रुता एक शस्त्र धारी के साथ हो गई। अब उसे न मन्त्र याद है न उस सिद्ध से भेंट हो सकती। परिणाम यह हुआ कि अन्त में वह अपने शत्रु द्वारा मारा गया। वैसे ही ब्रह्म विद्या के विषय में समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! उस परम पुरुषार्थ स्वरूप परमात्मा का चिन्तन किस भाव से निरन्तर करना चाहिये।

वेदव्यासजी : **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।।४।।१।।३।।**

व्याख्या : ज्ञानी लोग परब्रह्म परमात्मा को 'यह मेरी आत्मा है' अपनी आत्मा मानकर व जानकर उसका सर्व समय चिन्तन करके उसे प्राप्त करते हैं और ऐसा ही शरण में आये हुये शिष्यों को समझाकर ग्रहण कराते हैं। श्रुति स्वयं ऐसा उपदेश करती है यथा (माण्डुकोपनिषद, २) वह आत्मा ब्रह्म है, वह आत्मा चार पाद वाला है। बृह० उप० (३।४।१) में 'सबका अन्तरवर्ती यह तेरा आत्मा है' बृह० उप० (३।७।३) में 'यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' इसी प्रकार छान्दो० उप० (६।८ से १६वें खण्ड तक) शतपथ ब्राह्मण (१४।५।३०), गीता (१८।६१) तैत्त० उप० (२।१) में और भी अन्य स्मृति, पुराणों एवं इति-

हालों में, परब्रह्म परमात्मा को सबका अन्तर्यामी, अन्तरात्मा, आत्मा आदि एक ही अर्थ के पर्यायवाची शब्द कहकर, सबका आत्मा बताया गया है, इसलिये पर-ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की उपासना, अपने अन्तर्यामी आत्म भाव से भावित होकर, सभी साधकों को करनी चाहिये । सभी प्राणियों को अपनी आत्मा से प्रिय कुछ नहीं है अत आत्मभाव के जगाने से, अपने आत्मा स्वरूप परमात्मा से प्रिय कुछ न रहेगा । देह-प्राण तथा इनसे सम्बन्धित प्राणी पदार्थ, परमात्मा के विनि-योग के लिये हो जायेंगे तब प्रेम परवश परमात्मा का शीघ्र साक्षात्कार सुलभ हो जायगा । प्रीति का उदय अपनत्व से ही संभव है, अतः सभी को परब्रह्म पर-ब्रह्म परमेश्वर में, आत्म भाव की स्थापना करनी चाहिये । बहुत से ऐसे भक्त व ज्ञानी पुरुष हुये हैं कि आत्मा को ही परमात्मा मानकर, अहं विहीन अपने शरीर में चन्दन-फूलमाला इत्यादि धारण कराना, भगवान को धारण कराना मानकर, प्रेम विभोर हो जाते थे, अन्त में उन्हें परमात्म-प्राप्ति सर्व भावेन सुलभ हो गयी थी ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! प्रतीकोपासना में भी क्या ऐसी ही भावना करनी चाहिये ?

वेदव्यासजी : **न प्रतीके न हि सः ॥४।१।४॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (३।१८।१) की श्रुति में 'मन ही ब्रह्म है' इस भाव से उपासना करे । छान्दो० उप० (३।१८।१) में 'आकाश ब्रह्म है' मानकर उपासना करे । छा० उप० (३।१९।१) में 'आदित्य ब्रह्म है' जानकर उपसना करे । इस प्रकार भिन्न-भिन्न तत्वों प्राणियों और पदार्थों में उपासना करने का जो आदेश है, उसी को प्रतीकोपासना कहते हैं, अतएव प्रतीक में आत्म भाव नहीं करना चाहिये क्योंकि वह साधक (उपासक) का अन्तरात्मा नहीं है, अपितु प्रतीक में जिसकी उपासना की जाती है, वह उपासक की आत्मा है, जैसे मूर्ति स्वर्णमयी है उस स्वर्ण मूर्ति का स्वर्ण अथवा स्वर्ण मूर्ति उपासक की आत्मा नहीं है, अपितु स्वर्ण मूर्ति में जिन भगवान की उपासना की जाती है, वे ही पुरु-षोत्तम भगवान, उपासक की आत्मा हैं; उसी प्रकार उपर्युक्त मन आकाश और आदित्य आदि में प्रतीकोपासना करने का विधान है, जिस किसी प्रतीक में पर-ब्रह्म परमेश्वर की उपासना की जाती है, उस उपासना को, भगवान अपनी सेवा समझकर, भक्त की श्रद्धा भक्ति के अनुसार फल प्रदान करते हैं । श्री प्रह्लाद

जी ने सभी प्राणी पदार्थों में भगवान की भावना की; तदनुसार खम्भे से ही, नृसिंह भगवान प्रकट होकर दर्शन दिये और सर्वभावेन भक्तराज की रक्षा की तथा अंक में बिठाकर, योगिजन दुर्लभ अपना लाड़-प्यार प्रदान किया । पुराणोंऔर इतिहासों में साक्षिभूत ऐसी अनेक कथायें श्रवण में आती हैं ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने प्रतीकोपासक को प्रतीक में ब्रह्मभाव करना चाहिये कि ब्रह्म में उस उस प्रतीक भाव करना, बतलाने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्** ॥४।१।५॥

व्याख्या : ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिए प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से ही प्रतीकोपासना में श्रद्धा, सेवा और भक्ति की परिवृद्धि होगी, जिसे भगवान अपनी सेवा समझकर प्रसन्न हो जायेंगे और उपासक को सुलभ होकर, सर्वभावेन उसके हो जायेंगे । निकृष्ट वस्तु में उत्कृष्ट की भावना करना उचित है किन्तु उत्कृष्ट वस्तु में निकृष्ट की भावना करना सर्वथा अनुचित है, जैसे स्व० स्त्री में, ज्ञान होने या पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् मातृ भावाना की जा सकती है, किन्तु माता में पत्नी भावना कभी नहीं की जा सकती, महानिषिद्ध है, उसी प्रकार शालिग्राम शिला (प्रतीक) में ब्रह्म भावना करना उचित है, किन्तु परमेश्वर को पत्थर दृष्टि से देखना सर्वथा अनुचित है। परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार तथा उनकी साक्षात सेवा सुलभ न होने के कारण, उपासक को तत्सुख का समनुभव करने के लिये, वेद में प्रतीकोपासना का विधान बताया गया है, अतः उपासक को चाहिये कि प्रतीक (मूर्ति) को, साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर समझकर तथा तद्भावना से भावित होकर, अपनी सेवा उपासना से, परमात्मा को प्रसन्न कर ले और स्वयं उनकी प्रेम पूर्ण सेवा-उपासना से परम प्रसन्न बने रहे। अम्बरीष राजर्षि, ब्रज-गोपियां, नामदेव, मीरा आदि मूर्ति-पूजा के ज्वलन्त उदाहरण हैं । चारों युगों से मूर्ति पूजा के द्वारा पहुँचे भक्त, भगवान का साक्षात् करते चले आ रहे हैं, अतः सभी उपसकों को वेद-विहित प्रतीकोपासना (मूर्ति पूजा) के द्वारा, परब्रह्म का साक्षात करना, शास्त्रों में विधि रूप से बताया गया है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि के विषय में

कैसा भाव रखना चाहिये ?

वेदव्यासजी : **आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥४।१।६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (१।३।१) तथा (२।२।१) में जो कर्म के अङ्ग-भूत उद्‌गीथ आदि में, आदित्य आदि की भावना से भावित होकर, उपासना करने की विधि बताई गई है, वह अवश्यमेव करना चाहिये क्योंकि यही युक्ति संगत है। इस प्रकार की भावनामय उपासना से कर्म समृद्धि रूप फल की प्राप्ति होती है। यहाँ की इस उपासना में आत्म भाव करने का फल ब्रह्म प्राप्ति नहीं दिखाई देती, अपितु समृद्धि-प्रीप्त दृष्टि पथ में आती है, अतः उद्‌गीथ आदि में आत्म-भाव न करके, आदित्यादि की ही भावना करनी चाहिये। जैसे रोग निवृत्ति के लिये सूर्य की उपासना, आदित्य हृदय-स्तोत्र को सूर्य का प्रतीक मानकर करने को किसी ने बताया, तो रोगी पुरुष को आदित्य हृदय में सूर्य की ही भावना करने से सिद्धि मिलेगी, यदि उसमें आत्म भाव करके यह समझा जाय कि वह स्तोत्र मेरे ही अर्थ में है, तो रोग-निवृत्ति रूप फल की सिद्धि नहीं होगी, वैसे ही उपर्युक्त उद्‌गीथ आदि में, आदित्य आदि की भावना करना ही उचित है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! साधक को किसी आसन में बैठकर, उपासना करनी चाहिये या चलते-फिरते किसी भी परिस्थिति में ?

वेदव्यासजी : **आसीनः सम्भवात् ॥४।१।७॥**

व्याख्या : आचार्योपदिष्ट परब्रह्म पुरुत्तम भगवान का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन रूप उपासना करना बैठकर ही सम्भव है क्योंकि पद्मासन-सिद्धासन आदि किसी आसन में बैठने से ही सुषुम्ना नाड़ी सीधी होती है और उसके सीधे होने से मनमें एकाग्रता का संचार होता हैं तथा अचंचल मन ही ध्यानादि उपासना के योग्य हो सकता है, अन्यथा चलता-फिरता मन चंचलपन के कारण समाहित नहीं हो सकता। पड़े-पड़े निद्रावरण कर लेती है, इसलिये ब्रह्मोपासना का अभ्यास बैठकर करना श्रेयस्कर है। गीता (६।१२) में भगवान श्रीकृष्ण ने भी बैठकर ही योगाभ्यास करने की आज्ञा दी है। लक्ष्यवेध करने वाला प्रमत्त

धनुर्धर किसी भी लक्ष्य को इधर-उधर देखते हुये व चलते-फिरते वेध नहीं सकता। लक्ष्य वेध तभी होगा, जब लक्ष्य को छोड़कर, मन-बुद्धि-चित्त व नेत्र में अन्य विषय न हो, इसी प्रकार उपासना विषयक वार्ता समझनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! किसी अन्य हेतु का आधार लेकर समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **ध्यानाच्च ।।४।१।८।।**

व्याख्या : मुण्ड० उप० (३।१।८) में अपने इष्ट देव का ध्यान ही उपासना का स्वरूप बताया गया है। चित्त की एकाग्रता से आराध्य में तदाकार वृत्ति का हो जाना ही ध्यान है, अतः यह ध्यान बैठकर ही करणा सम्भव है, चलते-फिरते नहीं। एक महात्मा जल भरते हुये, परमात्म चिन्तन कर रहे थे, चित्त में कुछ एकाग्रता आने से पैर पाट से हटाते समय किनारे में न आकर बीच कूप मुख में पड़ा, महात्मा कुआँ की तली में पहुँच गये, चोट भी लगी, ध्यान में विघ्न हुआ, इसलिए बैठकर ही ध्यान करने की विधि है।

मुमुक्षु मुखेन : पुनः उक्त वार्ता को ही दृढ़ करने की कृपा हो प्रभो ?

वेदव्यासजी : **अचलत्वं चापेक्ष्य ।।४।१।९।।**

व्याख्या : श्वेताश्वतरोपनिषद (२।८) की श्रुति का अनुशासन है कि 'ब्रह्मसाक्षात्कार के जिज्ञासु को चाहिये कि शिर, ग्रीवा और छाती, इन तीनों को उठाकर स्थित करें तथा शरीर को सीधा स्थिर करके, इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में विलीन करें और ओंकार नौका द्वारा सब भयावह जन्म-मरण रूप स्त्रोतों से पार हो जाय ; इससे यही सिद्धि होता है कि ध्यानोपासना के लिये शरीर की स्थिरता आवश्यक है, इसलिये बैठकर ही उपासना करनी चाहिये, जैसे चलते-फिरते या ठीक से न बैठने वाले पशु उपासना नहीं कर सकते वैसे ही पशुवत चर्या के साथ मनुष्य भी धारणा, ध्यान समाधिके योग्य कभी नहीं हो सकता।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! स्मृति प्रमाण से भी क्या उक्त वार्ता सिद्ध है ?

वेदव्यासजी : **स्मरन्ति च ॥४।१।१०॥**

व्याख्या : गीता (६।१३,१४) में भगवद्वाक्य हैं, कि शरीर, शिर ग्रीवा को अचल (हिलाना-डुलाना तथा इधर-उधर न देखना) धारणतया स्थिर हो जाय तथा अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थापित करके इधर-उधर न देखें; इस प्रकार भय और विक्षेप शून्य साधक, शान्तभाव एवं ब्रह्मचर्य व्रत वाले वशीकार संज्ञा को प्राप्त हुये मन से, चित्त को मुझ में लगायें और मुझ में परायण हुआ, साधन करने के लिये आसन में आसीन हो अतः स्मृति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि ध्यानोपासना बैठकर ही करनी चाहिये। भगवान के वाक्य सभी युक्तियों और दृष्टान्तों के प्रमाण से अधिकतम बलशाली और श्रेष्ठ हैं। श्रुति उनके मुख से निकली हुई वाणी है। भगवान के वचनों पर विश्वास न करके कितने नास्तिक, नरक यातना के अधिकारी हुये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त साधन कैसे स्थान में बैठकर करना चाहिये ?

वेदव्यासजी : **यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥४।१।११॥**

व्याख्या : शास्त्र में किसी विशेष स्थान और दिशा का विधान न प्राप्त होने के कारण यही सिद्ध होता है कि जिस स्थान में निर्विघ्न, मन की एकाग्रता के साधन सुगमता से प्राप्त हो सके, उसी विविक्त स्थान में बैठकर, परब्रह्मोपासना के साधन में संलग्न होकर, ब्रह्मदर्शन रूप पुरुषार्थ की सिद्धि कर लेनी चाहिये। श्वेता० उप० (२।१०) की श्रुति निर्देशन करती है, कि जो स्थान सर्वभावेन शुद्ध हो, समतल हो कंकड़, अग्नि और बालू आदि से रहित तथा शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से, मन को अच्छा लगने वाला हो, जहाँ आंखों को पीड़ा पहुँचाने वाला भयानक दृश्य न हो और वायु के झोंके जोर से न लगते हों, ऐसे पर्वतीय गुहा आदि में बैठकर, परब्रह्म परमात्मा के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। अन्यत्र भी कहा गया है कि यदि नदी का किनारा, सरोवर पृष्ट, वन, मन्दिर व महात्माओं के आश्रम, दिव्यदेश (चर्तुधाम-सप्त पुरियाँ आदि) में मन के अनुकूल स्थान मिल जाय तो वहाँ ब्रह्म ध्यान का अभ्यास करना श्रेयस्कर है, इसलिये निर्विघ्न साधन के निर्वाह एवं साधक के मन में प्रसन्नता भरने के अनुकूल स्थान में, जहाँ मन की एकाग्रता सरलता से हो सके, साधन का अभ्यास करना चाहिये।

भगवान नर-नारायण ने उपर्युक्त कारणों से ही बदरिका-तपस्या हेतु चुना था। भगवान कपिलदेव, मनु आदि ब्रह्मर्षियों एवं राजर्षियो के कथानक से साधन के लिये, उपर्युक्त प्रकार का स्थान चुनना ही सिद्ध होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस प्रकार उपासना का अभ्यास कब तक होना चाहिये ?

वेदव्यासजी : आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥४।१।१२॥

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।१५।१) में कहा गया है कि 'वह (साधक) इस प्रकार पूरी आयु पर्यन्त उपासना में परायण रहकर अवश्यमेव ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है; इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद (५।१ से ५ तक) में सत्यकाम से पिप्लाद ऋषि ने मरण पर्यन्त ॐकार अक्षर के द्वारा हृदयस्थ परम पुरुष की निरन्तर उपासना करने का फल, ब्रह्मधाम की प्राप्ति बतलाई है; इस प्रकार श्रुति सिद्धान्त के अनुसार, आजीवन नित्य निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये अन्यथा योग भ्रष्ट हो जाने से पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है क्योंकि बीच ही में अभ्यास में अन्तराय आ जाने से मन, ब्रह्म का चिन्तन न करने से, प्रकृति सम्बन्ध की ओर झुक जाता है और अन्त में उसी का स्मरण करता हुआ, उसी भाव को प्राप्त होकर, पुनर्जन्म का कारण बनता है, जैसे जड़ भरत जी योग निष्ठ होते हुये भी, ब्रह्म-चिन्तन में विघ्न आ जाने से, मृग का चिन्तन करते शरीर छोड़े तो दूसरे जन्म में उन्हें मृग का रूप धारण करना पड़ा और भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, इस लिये आमरण ब्रह्म चिन्तन में निरन्तर लगे रहना चाहिये। इसी में जीव का परम कल्याण निहित है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जिसको जीवन काल ही में ब्रह्म प्राप्ति हो जाती है, उसके संचित और ब्रह्म प्राप्ति के बाद क्रियमाण कर्मों का (पाप-पुण्य फल का) क्या होता है ?

वेदव्यासजी : तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥४।१।१३॥

व्याख्या : छान्दो० उप० (४।१४।३) की श्रुति में कहा गया है कि जैसे

पद्म-पत्र में जल-लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को जानने वाले महापुरुषों में पाप लिप्त नहीं हो पाते। इस प्रकार बतलाकर दृष्टान्त द्वारा श्रुति ने समझाया है कि जैसे सरकण्डे की सींक के अग्रभाग में रहने वाली तुला, अग्नि में पड़ने से तत्काल भस्म हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी के सर्व पाप निःसन्देह भस्म हो जाते हैं। छान्दो० उप० (५।२४।३) में उक्त दृष्टान्त दृष्टव्य है; इसी प्रकार मुण्ड० उप० (२।२।८) तथा गीता (४।३७) में भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, अतः श्रुति कथनानुसार ज्ञानी महापुरुषों के समस्त पूर्व कृत पापों का सबीज विनाश और ज्ञानोत्तर काल में लोक संग्रहार्थ किये हुये ज्ञानी के आनुषङ्गिक पाप कर्मों का, उनके साथ सम्पर्क न होना सिद्ध होता है, जैसे माता के उदरस्थ शिशु के, जननी के प्रति किये हुये अपराध तथा शैशव काल के अपराध, मनुष्य का स्पर्श नहीं करते, वैसे ही ज्ञानी के किये हुये पूर्व पाप तथा ज्ञानावस्था के किये हुये कर्म ज्ञानी को फल प्रदान नहीं कर सकते।

मुमुक्षमुखेन : भगवत् प्राप्त ज्ञानी पुरुष के पुण्य कर्मों का क्या होता है, मुने ?

वेदव्यासजी: इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥४।१।१४॥

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२२) में कहा गया है कि वह ज्ञानी पुण्य और पाप इन दोनों से पार हो जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञानी के किये हुये, पाप कर्मों की भाँति पूर्व के किये हुये पुण्य और ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् किये हुये पुण्य का भी सम्पर्क ज्ञानी से किसी प्रकार का नहीं रहता क्योंकि वह कर्मों के करने और न करने से कोई प्रयोजन नहीं रखता। वह आसक्ति और कामना शून्य होकर, परब्रह्म परमात्मा में एकाकार हो रमने के स्वभाव वाला हो जाता है और देह त्याग के बाद, प्रारब्ध का भी विनाश हो जाने से वह, परमात्मा को निःसन्देह प्राप्त हो ही जाता है, जैसे किसी वस्तु का अधिकारी न प्राप्त होने से तथा वस्तु को, अपना किसी का अधिकारी न बताने से, वह वस्तु उस देश के अधिपति राजा की सहज ही हो जाती; उसी प्रकार ज्ञानी का कर्मों का अधिकारी स्वयं को न मानने से तथा कर्मों का स्वयं को ज्ञानी का किया हुआ न जानने से, ज्ञानी को कोई पाप-पुण्य अपना कर्ता या भोक्ता बताकर सम्पर्क नहीं

कर सकते, इसलिये ज्ञानी का किसी से सम्बन्ध न होने से, सर्व स्वतन्त्र स्वराट परब्रह्म परमात्मा स्वयं उसे अपना बनाकर, सर्वभावेन प्राप्त हो जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : ज्ञानी के पूर्वोत्तर कर्मों से उसका सम्बन्ध न रहने से शरीर कैसे टिका रहता है प्रभो ? और शरीर तो कर्मफल भोगने की अपेक्षा से ही स्थित रहता है, साथ ही ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शरीर का न रहना मानें तो किसी के बताये बिना ज्ञान परम्परा के नाश की स्थिति आ जाती हैं; अतः इस पर प्रकाश डालने की कृपा हो ?

वेदव्यासजी : अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥४।१।१५॥

व्याख्या : छा० उप० (६।१४।२) में आया है कि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।' उस ज्ञानी का तभी तक विलम्ब है जब तक प्रारब्ध का नाश होकर देहपात नहीं हो जाता' उसके पश्चात वह परमात्मा में विलीन हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी का शरीर प्रारब्ध क्षय पर्यन्त स्थित रहता है और पूर्व सूत्र में श्रुति प्रमाण से ज्ञानी के पुण्य-पाप का नष्ट हो जाना जो कहा है, वह उन्हीं कर्म फलों के लिये बताया गया है, जो अपना फल प्राप्त कराने की तैयारी में अभी नहीं थे, संचित कर्मों के साथ एकत्र हो रहे थे। जिन प्रारब्ध कर्मों के भोगार्थ, ज्ञानी को जो शरीर मिला है, उसका नाश होना नहीं कहा है जैसे किसी विरक्त सन्यासी ने तीनों आश्रमों की वेष-भूषा का परित्याग करके, शरीर निर्वाहार्थ सन्यासाश्रम के अनुकूल करवा-कौपीन धारण कर लिया तो उसका सम्पर्क पूर्व आश्रमों का वेष व कर्म नहीं कर सकता तथा सन्यास काल में भी लोक संग्रहार्थ आनुषङ्गिक कोई कर्म बन गया या ठंडी में सोते समय किसी ने उस पर दुशाला छोड़ दिया तो सन्यास काल में किये हुये बिना आसक्ति व इच्छा के कर्म, उससे लिप्त नहीं हो सकते किन्तु सन्यास वेषानुकूल भोजन व वस्त्र धारण शरीरावधि होता ही रहेगा इसी प्रकार ज्ञानी कुटिया रूप शरीर यावदवधि रहेगा और उस के रक्षणार्थ स्वभाव से कुछ कर्म भी होते रहेंगे परन्तु उन कर्मों का सम्पर्क ज्ञानी से नहीं रहेगा, मात्र शरीर से अनासक्त सम्बन्ध, प्रारब्ध समाप्ति तक रहेगा। अन्त में उसका ब्रह्म सम्बन्ध मात्र एक रस शाश्वत बना रहेगा।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जब ज्ञानी का कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो

श्रुति में अग्निहोत्र आदि आश्रमानुकूल कर्मों का विधान क्यों किया गया है ?

वेदव्यासजी : अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।।४।१।१६।।

व्याख्या : आश्रम सम्बन्धी अग्निहोत्रादि कर्मों का वेद में विधान महापुरुषों को सतत आजीवन करने के लिए वर्णित है, वह अग्निहोत्रादि कर्मों की रक्षा के लिये एवं लोक-संग्रह हेतु से है क्योंकि बड़ों के आचरण को देखकर ही, छोटे वे उस आचरण का अनुकरण करते हैं, यदि निर्पेक्ष ज्ञानी मुनि सत्कर्म करना छोड़ दें तो लोक किसके पद चिह्नों का अनुसरण करके अपनी देह यात्रा और आत्म यात्रा को पूर्ण कर पायेगा । लोक समझेगा कि इन कर्मों में क्या रखा है, अगर कुछ महत्व होता तो अमुक-अमुक महापुरुष इसे अवश्य अपनाते, अतः सत्कर्मों को स्थान न देने से, कर्मानुष्ठान की रक्षा न होती और लोक संग्रह न होने से वेद-विरोधी की भाँति लोग सर्वभावेन भ्रष्ट हो जाते । ज्ञानी को कर्मानुष्ठान की विधि अन्य प्रयोजन को लेकर नहीं बताई गयी है । श्रुति- स्मृति में स्पष्ट देखा जा सकता है– श्रुति में जनकजी, अश्वपति, याज्ञवल्क्यजी आदि महापुरुषों के उदाहरण से, लोक संग्रहार्थ कर्म करने का विधान निरूपित किया गया है । भगवद्गीता (३।२२, २४, २५) में स्वयं भगवान कृष्ण ने उपर्युक्त लोक-संग्रहार्थ एवं विहित कर्मों की रक्षा के लिए आप्तकाम व अशेष कर्मा तथा अकर्ता होते हुये कर्मानुष्ठान करने वाला अपने को बताया है ; इस प्रकार श्रुति-स्मृति प्रमाण से, ज्ञानी को भी लोक-संग्रहार्थ अग्निहोत्रादि कर्म करना सिद्ध किया गया है, जैसे शरीर सम्बन्ध से ऊपर उठे हुये आत्मस्थित संत महापुरुष विवस्त्र न रहकर लोक संग्रहार्थ, कौपीनादि धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार लोक संग्रहार्थ, तथा अज्ञानियों में भेद बुद्धि न उत्पन्न होने के लिये बिना प्रयोजन के ज्ञानी को कर्म करना अनुचित नहीं है ।

मुमुक्षु सुखेन : आश्रम विहित कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्म उनसे किये जा सकते हैं या नहीं ?

वेदव्यासजी : अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।।४।१।१७।।

व्याख्या : (ईशा० उप० २) की श्रुति में कहा गया है कि शास्त्र विहित

कर्मों का अनुष्ठान आजीवन करते हुये, इस लोक में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। ईशा०उप० ११ की श्रुति कहती है जो कर्म और ज्ञान इन दोनों के साथ साथ जानता है अर्थात् साथ-साथ इनका अनुष्ठान करता है, वह कर्मों द्वारा मृत्यु से तर कर ज्ञान से अमृत को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार किसी–किसी शाखा वालों के मत में ज्ञानी और साधक दोनों के लिये आश्रम सम्बन्धी कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी शस्त्र विहित कर्मों को आजीवन करते रहने का विधान है, अतः ज्ञानी भी लोक संग्रहार्थ अन्य सभी शुभ कर्मों का अनुष्ठान, अनासक्त भाव से फलाशा को त्यागे हुये कर्तापन के अभिमान से सर्वथा अतीत हुआ कर सकता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर किये जाने वाले कर्मों से, ज्ञानी अलिप्त रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी चौथे और अठारहवें अध्याय गीता में इसका समर्थन किया है जैसे किसी दूर देश के पैदल यात्री को मार्ग में पड़ने वाले वृक्ष, वन, पर्वत, नदी, नाले, पुर, गाँव और नगर का दर्शन होता है किन्तु उनसे उसका सम्पर्क नहीं होता। कहते हैं कि एक बार राजा जनकजी ने एक थाली में जल भर कर श्री शुकदेव जी को दिया और कहा कि आप इस थाली को लेकर, नगर भ्रमण कर आयें किन्तु थाली से एक बूंद जल पृथ्वी पर न गिरे। श्रीशुकदेव जी थाली सहित नगर भ्रमण कर लौट आये। महाराज जनक जी ने पूछा, कहिये नगर की सजावट व बनावट कैसी है? व्यास पुत्र ने कहा–महाराज! थाली का एक बूंद पानी गिरने न पाये, इस ध्यान में मैं एकाग्र रहा इसलिये नगर के दृश्य का दर्शन कुछ भी न कर सका अतः नगर के विषय की जानकारी से, मैं अछूता हूं, तब जनक जी ने कहा कि ज्ञानी महापुरुष इसी प्रकार कर्मों का अनुष्ठान करते हुये भी नहीं करते अर्थात् कर्म, उनमें लिप्त नहीं होते, उनसे वे अछूते ही रहते हैं जिस प्रकार आप नगर भ्रमण करके भी, पानी न गिरने के उद्देश्य को लेकर नगर-दर्शन नहीं कर पाये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! क्या विद्या और कर्म के समुच्चय का भी श्रुति में विधान है?

वेदव्यासजी : **यदेव विद्ययेति हि ॥४।१।१८॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (१।१।१०) की श्रुति में आया है, कि विद्या, श्रद्धा और रहस्य ज्ञान के साथ जिस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, वह अधिक सामर्थ्य से संयुक्त हो जाता है। यह श्रुति कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि की

उपासना के प्रकरण में है, इसलिये इसका सम्बन्ध, उसी प्रकार की उपासनाओं से है और यह एक देशीय विद्या, ब्रह्म-विद्या नहीं है, अस्तु, इस श्रुति का सम्बन्ध ज्ञानी से या परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करने वाले अभ्यासी अन्य उपासकों से न होने के कारण, यही निष्कर्ष निकलता है कि उद्‌गीथ आदि जैसी उपासना में कही हुई विद्या ही उन कर्मों का अङ्ग हो सकती है, ब्रह्म विद्या नहीं। ब्रह्म विद्या ब्रह्म प्राप्ति का स्वयं स्वतन्त्र साधन है जैसे मोहन, मारण, उच्चाटनादि की 'विधि' विद्या मोहनादि कर्मों की ही अङ्गभूत है, अन्य निष्काम भगवदर्थ कर्मों की नहीं तथा उसे भगवत् प्राप्ति की हेतु भूता, ब्रह्म विद्या से सर्वथा सम्बन्ध हीन अन्य विद्या ही कह सकते हैं, उसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों का नाश कैसे होता है ?

वेदव्यासजी : **भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते** ॥४।१।१६॥

व्याख्या : ज्ञानी महापुरुष के संचित पूर्वकृत कर्म तो भस्मीभूत हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मों का सम्पर्क उससे होता ही नहीं, शेष रहे शुभाशुभ प्रारब्ध कर्म, जिनसे प्राप्त शरीर का निर्माण हुआ है, अत: उन कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुखों के उपभोग के द्वारा विनाश करके, ज्ञानी पुरुष परम पद को प्राप्त करता है। छान्दो० उप० (६।१४।२) की श्रुति में उक्त वार्ता का प्रमाण देखा जा सकता है, जैसे किसी अन्न के मालिक ने अपने संचित अन्न को, अशेष रूप से अपने आर्दवता से, गरीब लोगों अर्थात् अन्न-पीड़ित लोगों को दे डाला, भविष्य की खेती व खेतों से भी अपनत्व हटाकर, भूखों के लिये देकर, सन्यास लेने का निश्चय कर लिया, किन्तु जिस अन्न को पाना प्रारम्भ हो चुका था, उस थाली में रखे जूठे अन्न की समाप्ति तो उसके पा लेने पर ही होगी क्योंकि जूठे अन्न देने को, वह किसी को पात्र न समझ पाया, इसलिये वह उस अन्न को समाप्त करके ही, सन्यास आश्रम को प्राप्त होता है, उसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

तात्पर्यार्थ : आचार्योपदिष्ट साधन का अभ्यास बार-बार आजीवन करते रहना, साधक की साधन निष्ठा है। निष्ठा व विश्वास के साथ किया हुआ उपासना रूप साधन शीघ्र पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति कराने वाला सिद्ध होता है, जिन्हें पूर्णतया ब्रह्म बोध नहीं है तथा भगवदर्थ कर्म रूप सेवा करने में अभिरुचि है, उन्हें (प्रतीक-मूर्ति) में ब्रह्मोपासना का विधान श्रुति में बताया गया है, अतः

सगुण, साकार ब्रह्म के उपासकों को, मूर्ति में, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की साक्षात् भावना करने से, भगवान बड़े प्रसन्न होते हैं और मूर्ति में की हुई सेवा-पूजा को, अपनी ही सेवा समझ आशु प्रसन्न होकर, भगवान अनन्य आराधक के योगक्षेम को स्वयं वहन करते हैं और अन्त में अपना परम पद प्रदान करते हैं। परब्रह्म परमात्मा की उपासना, उनको अपनी आत्मा मानकर या आत्मा ही के समान अपना प्रिय सम्बन्धी जानकर करने से, पुरुषोत्तम भगवान उपासक के प्रेम बन्धन में बँधकर, अपना सर्वस्व उसे दे देने पर भी, उसके आधीन बने रहते हैं, ऐसा श्रुति में कहा गया है। उपासना का प्रधान अङ्ग भगवान का ध्यान है, अत-एव ब्रह्मोपासना का साधन एकान्त में वहाँ करना चाहिये जहाँ मन प्रसन्नता पूर्वक ध्यानस्थ रहने में, विघ्न-बाधा का अनुभव न कर सके। लोक संग्रहार्थ जानकर सत्कर्मों का त्याग उपासक को नहीं करना चाहिये। ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर साधन के संचित कर्म फल भस्म हो जाते हैं और क्रियमाण कर्म फल, ज्ञानी से लिप्त नहीं होते; इस प्रकार शेष प्रारब्ध कर्म फल भोगकर, देहपात के बाद साधक, ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। यही वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के प्रथम पाद का सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यास कृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत चतुर्थ
अध्याय का प्रथम पाद समाप्त

—श्री—

श्रीवेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

चतुर्थ अध्याय का द्वितीय पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! साधारण मनुष्यों और ब्रह्म विद्या के उपासकों की गति में कहाँ तक समानता है ?

वेदव्यासजी : **वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥४।२।१॥**

व्याख्या : छा० उप० (६।८।६) की श्रुति में कहा गया है कि 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवता-याम् ।' इस मनुष्य की मृत्यु होने पर अर्थात् एक शरीर से उत्क्रमण कर, दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय, वाणी मन में स्थित हो जाती है, तथा मन, प्राण में और प्राण तेज में, तेज, पर-देवता में स्थित हो जाता है, जैसे गन्ध, पृथ्वी से पुष्प में तथा पुष्प से वायु में और वायु गन्ध के साथ आकाश में स्थित होता है, उसी प्रकार जीव-गति के विषय में समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! मन की प्राण में स्थिति बताई गई किन्तु इन्द्रियों के विषय में कुछ न कहने से प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों की स्थिति क्या होती है ?

वेदव्यासजी : **अत एव च सर्वाण्यनु ॥४।२।२॥**

व्याख्या : समस्त इन्द्रियाँ मन में स्थित हो जाती हैं, यह समझ लेना चाहिये, जैसे कहा जाय कि राजा अपने पुर से निकला और एक बड़े यान में चढ़कर, तीर्थ यात्रियों के साथ चला गया । इस वाक्य से राजा के साथ राज-सेवकों को भी, राजा ही के साथ गया हुआ समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार इन्द्रियों का अपने

स्वामी मन के साथ अर्थात् मन में स्थित होकर जाने की बात जाननी चाहिये। प्रश्न० उप० (३।६) की श्रुति में कहा है कि 'जिसके शरीर की गर्मी शान्त हो गई है, ऐसा जीवात्मा मन में स्थित इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।' अस्तु, एक इन्द्रिय ही नहीं अपितु समस्त इन्द्रियों का मन में स्थित होना, श्रुति में कहा गया है अतएव पूर्व सूत्र में वर्णित वाक् इन्द्रिय के मन में स्थित होने के साथ, समस्त इन्द्रियों का ग्रहण मान लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसके पश्चात् क्या होता है ?

वेदव्यासजी : **तन्मनः प्राणः उत्तरात् ॥४।२।३॥**

व्याख्या : पूर्वोक्त (छान्दो० उप० ६।८।६ की) श्रुति में कही हुई मन की उत्तर स्थिति के अनुकूल इन्द्रियों की स्थिति भी निश्चय कर लेनी चाहिये अर्थात् उक्त श्रुति में मन को, प्राण में स्थित होना कहा है इसलिये इन्द्रियों को भी, मन के साथ प्राण में स्थित होना जानना चाहिये जैसे अध्यापक के साथ विद्यार्थी यात्रा में गये हैं, यह जान लेने पर न कहा गया हो तो भी, विद्यार्थियों को वहां-वहां गया हुआ जानना चाहिये कि जहाँ-जहाँ अध्यापक महोदय गये हैं।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! पुनः इसके पश्चात् क्या होता है ?

वेदव्यासजी : **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४।२।४॥**

व्याख्या : तत्पश्चात् प्राण, मन और इन्द्रियों के साथ, अपने अध्यक्ष (स्वामी) जीवात्मा में स्थित हो जाता है क्योंकि बृह० उप० (४।४।२) की श्रुति ऐसा ही कहती है, यथा शरीरोत्क्रमण के समय यह आत्मा नेत्र से या ब्रह्मरन्ध्र से अथवा शरीर के अन्य किसी मार्ग द्वारा शरीर से निकलता है, उसके चले जाने पर उसी के साथ प्राण भी निकलता है और प्राण के निकलते समय उसके साथ-साथ, इन्द्रियाँ भी निकलती हैं क्योंकि बिना जीवात्मा के, केवल प्राण और मन सहित इन्द्रियों का शरीर में रहना और शरीर से निकलकर अन्यत्र गमन करना नहीं बन सकता, अन्यत्र श्रुति में भी जीवात्मा के साथ, इन सबका शरीर से उत्क्रमण कहा गया है, जैसे एक परिवार है, उसमें एक ही मालिक है, घर में छोटे२ बच्चे हैं, कुछ पशु भी हैं तथा कुछ सामान भी है। अकाल पड़ने के कारण, उस मालिक

के गाँव छोड़ने के साथ, उसके छोटे, बच्चे व पशु भी, उसके साथ ही उसका अनुगमन कर अन्य गाँव में चले जाते है, क्योंकि छोटे अजान बच्चे बिना अपने मालिक पिता के, न तो घर पर रह सकते और न बिना पिता के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र गमन कर सकते, उसी प्रकार जीवात्मा की अध्यक्षता में ही प्राण, मन इन्द्रिय का उत्क्रमण जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : इसके पश्चात् क्या होता है मुने ?

वेदव्यासजी : **भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥४।२।५॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।८।६) की श्रुति में जो कहा गया है, कि प्राण, तेज में स्थित होता है, उससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा, मन और इन्द्रियाँ, ये सबके सब सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होते हैं क्योंकि सभी सूक्ष्म भूत, तेज के साथ मिले हुये हैं; साथ ही साधारण गति क्रम से भी, ऐसा होना ही उपयुक्त है क्योंकि अन्य स्थूल शरीर में प्राप्त होने के पहले, स्थूल पञ्चभूतात्मक शरीर के कारण, सूक्ष्म भूत-समुदाय में जीव, प्राण, मन, और इन्द्रियों का स्थित होना उचित व न्याय संगत है, जैसे रेखा चित्र, प्रथम रेखा बनाने वाली तूलिका में स्थित होता है, पुनः तूलिका जैसी-जैसी चलती गई, वैसे-वैसे रेखा बनती गई और वही रेखा चित्र के रूप में परिणत हो गई, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! श्रुति में प्रथम प्राण का, तेज में स्थित होना बताया ही गया है, अतः उसे सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित न मानकर, केवल तेज में स्थित मानने से क्या हानि है ?

वेदव्यासजी : **नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥४।१।६॥**

व्याख्या : जीवात्मा, प्राण, मन और इन्द्रियों का, एक तेज तत्व में स्थित होना अमान्य है क्योंकि श्रुति, स्मृति दोनों ही में जीवात्मा का पंच भूतों से युक्त होना बताया गया है । बृह० उप० (४।४।५) की श्रुति में जीवात्मा का पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय पञ्च विशेषणों से युक्त वर्णन प्राप्त

होने से, यही सिद्ध होता है कि प्राण, मन और इन्द्रियों के सहित, जीवात्मा केवल तेज तत्व में स्थित नहीं होता अपितु स्थूल शरीर के कारणभूत, सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होना है । मनु स्मृति (१।२७) में भी कहा है कि पंचमहाभूतों की जो विनाशशील पंच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सूक्ष्म तन्मात्रायें हैं, उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत क्रमश: उत्पन्न होता है । जहाँ केवल एक तत्व में जीव का स्थित होना कहा गया हो, वहाँ पाँचों तत्वों को ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि किसी एक प्रधान तत्व में शेष चार भूत स्थित रहते हैं जैसे तेज तत्व में आधा तेज तत्व और आधे में शेष चारों तत्व समान रूप से रहते हैं, जहाँ जिस तत्व की अधिकता है, वहाँ उसी तत्व का नाम रख दिया गया, जैसे आम का एक बगीचा है यद्यपि उस बगीचे में कटहल, जामुन, लीची, संतरा आदि के भी वृक्ष हैं तथापि आम के वृक्षों की अधिकता के कारण उसे आम्रवन कहते हैं, ऐसे ही तेज आदि के नाम को जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! मरण काल की गति का उपर्युक्त वर्णन साधारण लोगों का है या ब्रह्मवेत्ताओं का है, जो ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं ?

वेदव्यासजी : समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।।४।२।७।।

व्याख्या : 'प्रथम वाणी मन में स्थित होती है' से प्रारम्भकर अर्थात् स्थूल शरीर से निकलकर, जीवात्मा का प्राण, मन और इन्द्रियों सहित, सूक्ष्म भूत समुदाय अर्थात् सूक्ष्म शरीर में स्थित होने तक की, गति मार्ग-व्यवस्था, साधारण मनुष्यों की तथा ब्रह्म लोक के यात्री ज्ञानी जनों की, एक समान बताई गई है क्योंकि सूक्ष्म शरीर में ही स्थित होकर, ज्ञानी पुरुष की ब्रह्म लोक यात्रा, देवयान मार्ग द्वारा होती है और ब्रह्मलोक पहुंचकर, वहाँ वह अमृत हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म और कारण शरीर का विच्छेद होकर, ब्रह्मलोक में ज्ञानी को सच्चिदानन्दात्मक विग्रह की प्राप्ति हो जाती है तथा साधारण लोगों का, अन्य लोकों का जाना व दूसरे शरीर में प्रवेश करना भी, सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होता है इसलिये सूक्ष्म शरीर प्रवेश तक पृथक-पृथक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई, जैसे दो यात्री एक ही गांव से, अलग-अलग नगर के लिये प्रस्थान किये किन्तु कुछ बीच के गांवों, खेड़ों व नगरों तक पहुंचने के पश्चात् उनके यात्रा के मार्ग अलग-अलग हुये, इसलिये दोनों के भिन्न-भिन्न मार्ग न मिलने तक दोनों की यात्रा एक

समान होने के कारण, वहाँ तक के वर्णन को एक साथ कर देना उचित ही है, वैसे ही उक्त विषय को जानना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : गति क्रम के अन्त में जो कहा गया है, कि मन, इन्द्रियाँ और जीवात्मा के सहित, वह तेज परम देवता में स्थित होता है, अतः यहाँ तक समान गति मानने से, साधारण मनुष्य को परम-देव परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

वेदव्यासजी : **तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥४।२।८॥**

व्याख्या : उस प्रकरण में एक शरीर से निकलकर, सूक्ष्म शरीर के साथ परम देवता में स्थित होना कहा गया है । वह प्रलय काल की भाँति सूक्ष्म शरीर और कर्म संस्कारों के साथ अज्ञान पूर्वक, परमदेव में स्थित होना है, अतः इसे परब्रह्म की प्राप्ति नहीं कहते, जैसे सारा संसार परमात्मा में ही स्थित हैं । उसी प्रकार उस जीव की स्थिति जाननी चाहिये । यह स्थिति जीव की तब तक है, जब तक उसे अपने कर्म फलों के भोगने लायक अन्य स्थूल शरीर की प्राप्ति नहीं हो जाती क्योंकि कठ० उप० (२।२।७) की श्रुति में, उसके पुनर्जन्म का कथन प्राप्त होता है, अतः मुक्त न होने तक, उसका सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध बना रहने के कारण मुक्त पुरुष की भाँति परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता, जैसे धर्मात्मा व पापात्मा दोनों यमपुर जाते हैं, कहा जाता है, किन्तु पापात्मा का, धर्मात्मा की तरह यमपुर जाना नहीं होता; उसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! वहाँ श्रुति में जीवात्मा का सबके सहित आकाश आदि में स्थित होना तो कहा गया है किन्तु यह नहीं बताया गया कि जीव सूक्ष्म भूतों में स्थित होता है, कृपया स्पष्ट करें ।

वेदव्यासजी : **सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥४।२।९॥**

व्याख्या : मृत्युकाल में जिस आकाशादि भूतों में सबके सहित जीवात्मा का स्थित होना कहा गया है, वह सूक्ष्म भूत समुदाय ही हैं । स्थूल नहीं है; यह बात श्रुति-सिद्ध तो है ही, प्रत्यक्ष उपलब्धि से भी सिद्ध होती है । छान्दो० उप० (८।६।६) की श्रुति का कथन हैं कि इस मनुष्य के हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ

हैं, इसमें एक कपाल की ओर निकलकर जाने वाली को सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। उसके मार्ग द्वारा मनुष्य उर्ध्व गमन कर, अमृतत्व को प्राप्त होता है। दूसरी नाड़ियों के मार्ग से जाने वाला नाना योनियों को प्राप्त होता है। इसमें नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करने की वार्ता, सूक्ष्म भूतों में स्थित जीवात्मा के लिये ही संभव है तथा नेत्रेन्द्रिय आदि से निकलकर जाना, समीपवर्ती मनुष्य को न दिखाई देना, जीव का सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होना प्रत्यक्ष है, जैसे कोई सिद्ध योगी, अपने शरीर से निकल कर कहीं चला जाय, मृत शरीर की भाँति उसका शरीर पड़ा रह जाय, किन्तु समीप बैठे लोगों को कुछ दिखाई न दे पुनः कुछ समय के बाद, पुनः उस शरीर में प्रवेश कर, अपनी यात्रा का वर्णन लोगों से करने लगे, तो इससे यही सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर से निकलकर, उस योगी, ने सूक्ष्म शरीर में स्थित होकर ही, अन्य स्थान की यात्रा की थी, वैसी ही वार्ता उपर्युक्त है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से पुनः उक्त विषय समझाने की कृपा हो ?

वेदव्यासजी : **नोपमर्देनात् ॥४।२।१०॥**

व्याख्या : मृत्युकाल में जीवात्मा जिस आकाशादि भूतों की पाँचों तन्मात्राओं के समुदाय रूप शरीर में स्थित होता है, वह सूक्ष्म है, इसलिये इस स्थूल शरीर के दाहादि संस्कार कर देने पर भी, सूक्ष्म शरीर का कुछ नहीं बिगड़ता है। जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर के साथ निकल जाने के कारण ही, स्थूल शरीर के दाह से जीवात्मा को किंचित कष्ट का अनुभव नहीं होता, जैसे अण्डा फोड़कर शकुन-सावक के निकल जाने पर अण्डा चूर-चूर कर देने पर भी, पक्षी के बच्चे को कोई कष्ट नहीं होता, वैसे ही उक्त वार्ता जाननी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त वार्ता की पुष्टि करने की कृपा पुनः करें।

वेदव्यासजी : **अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥४।२।११॥**

व्याख्या : जब जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ, इस स्थूल शरीर से निकल जाता है, तब इसमें गर्मी नाम मात्र नहीं रहती, यद्यपि स्थूल शरीर सावयव के

रूप-लक्षण वैसे के वैसे रहते हैं, तथापि वह ठंडा हो जाता है; इस युक्ति से यह जाना जाता है कि जो गर्मी पहले स्थूल में थी, वह सूक्ष्म शरीर की थी, अतः उसके निकल जाने पर, वह गर्मी नहीं रहती, जैसे किसी घर से उसके मालिक के निकल जाने पर, उस घर में कूड़ा-कचड़ा जमा हो जाता है, सदा अँधेरा रहता है। प्रबन्धक के बिना घर गिर पड़कर नष्ट हो जाता है, वैसे ही उक्त वातों का अर्थ समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! पूर्व पक्षी लोग ब्रह्मलोक जाने वालों को क्या प्राणों के सहित जाना बताते हैं ?

वेदव्यासजी : प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥४।२।१२॥

व्याख्या : पूर्व पक्षी लोगों का कथन है कि बृह० उप० (४।४।६) की श्रुति में कहा गया है कि जो कामना रहित, पूर्णकाम होकर, केवल परमात्मा को ही चाहने वाला है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। इस श्रुति में निष्काम आप्तकाम महापुरुष की गति का अभाव कहा जाने के कारण यह सिद्ध होता है, कि उसका ब्रह्मलोक में गमन नहीं होता, ऐसा कथन जो करते है, उनका यह कहना ठीक नहीं लगता, क्योंकि उक्त श्रुति में, जीवात्मा से प्राणों का अलग न होना बताया गया है। शरीर से अलग होने का निषेध नहीं किया गया है, अतः इससे ब्रह्मलोक गमन करने का निषेध सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत जीवात्मा प्राणों के सहित ब्रह्म लोक जाता है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! सिद्धान्त पक्ष की ओर से इसका उत्तर क्या है ;

वेदव्यासजी : स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥४।२।१३॥

व्याख्या : एक शाखा की श्रुति में यह बात स्पष्ट है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उस आप्तकाम महापुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वहीं विलीन हो जाते हैं; वह ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है, जैसे बर्फ, जल का रूप धारण कर, गंगा की धारा में मिल जाता है। नृसिंहोपनिषद (५) में यह प्रमाण देखा जा सकता है तथा बृह० उप० (४।४।७) में भी कहा है, 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' 'वह यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है' प्रश्न० उप० (४।११) की श्रुति भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है। इस सब श्रुतियों के सिद्धान्त वाक्यों से यही निश्चय

होता है, कि उस महापुरुष का लोकान्तर में गमन नहीं होता तथा जीवात्मा से प्राणों के उत्क्रमण के निषेध की, यहाँ आवश्यकता न होने से, यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा से प्राणों के अलग होने का निषेध असंगत है, जैसे किसी देह से सम्बन्धित अन्न, वस्त्र, मकान आदि देह की शव-यात्रा के साथ न जाकर, यहीं रह जाते हैं तथा देह यहीं जड़त्व लिये हुये, जड़ भाव में ही प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को समझना चाहिये अर्थात् ज्ञानी के प्राण, मन, इन्द्रिय यहीं विलीन हो जाते हैं। देह सम्बन्धित गृह आदि की भाँति; और ज्ञानी ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर, यहीं ब्रह्म से युक्त (ब्रह्म-प्राप्त) हो जाता है, जैसे देह, चेतन के न रहने से केवल जड़त्व भाव को प्राप्त हुई यही जड़ ही में लीन हो जाती है।

मुमुक्षु मुखेन : स्मृति प्रमाण से भी उक्त विषय सिद्ध होता है क्या, प्रभो?

वेदव्यासजी : **स्मर्यते च ॥४।२।१४॥**

व्याख्या : गीता (५।२०) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही में स्थित होकर (ब्रह्माकार) तथा एकीभाव में स्थित होकर) अप्रिय की प्राप्ति में न उद्विग्न होता और न प्रिय की प्राप्ति में हर्षित होता क्योंकि वह स्थित प्रज्ञ ज्ञान स्वरूप में स्थित है। गीता में (५।२५) में कहा है कि जो सर्वभूत हितकारी, अपहत पाप्मा और विगत संशयात्मा महापुरुष हैं, वे विजितात्मा यहीं शान्त ब्रह्म को प्राप्त हैं, पुन (५।२६) में, उनके सब ओर ब्रह्म ही वर्तता है, कहा गया है। इस प्रकार स्मृति में स्थान-स्थान पर जीवन काल ही में, ज्ञानी महापुरुषों का ब्रह्म को प्राप्त होना बताया गया है और जहाँ ब्रह्म-धाम गमन का वर्णन आया है, वहाँ प्राण, मन, इन्द्रियाँ आदि सूक्ष्म तत्वों को लेकर ही, शरीर से उत्क्रमण करना कहा गया है, गीता–१५-७ में देखा जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि जिन आप्त काम महापुरुषों को जीवन काल ही में ब्रह्म प्राप्ति हो जाती है, उनकी परलोक यात्रा नहीं होती, वे यहीं ब्रह्मभाव को प्राप्त हो ब्रह्मलीन हो जाते हैं, जैसे किसी ब्रह्म जिज्ञासु को अपने पिता श्री से पूर्णतया ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसे गुरुकुल में समित्पाणि होकर जाने और वहाँ निवास करने की अपेक्षा नहीं होती यथा शुकदेव जी को; उसी प्रकार उक्त विषय का भाव समझ लेना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! जो ज्ञानी महापुरुष जीवन-काल में ब्रह्मप्राप्ति कर चुके हैं, वे यदि ब्रह्मलोक नहीं जाते तो शरीर क्षय के समय कहा रहते हैं?

वेदव्यासजी : **तानि परे तथा ह्याह ॥४।२।१५॥**

व्याख्या : जो ज्ञानी महापुरुष जीवन काल में ही-ब्रह्म-प्राप्त हो चुके हैं, वे परम पद् स्वरूप जीवन मुक्त महात्मा परम पद (ब्रह्मधाम) में परब्रह्म परमात्मा में ही निरन्तर स्थित रहते हैं क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। यह सारा विराट जगत, विराट ब्रह्म का स्वरूप है और वे ज्ञानी स्वयं ब्रह्म स्वरूप हैं, यह रहस्य समझ लेने पर, गमन करने वाले और न गमन करने वाली की स्थित में कोई अन्तर नहीं होता, यह वार्ता प्रत्यक्ष हो जाती है, परन्तु जड़-चेतन, लोक-परलोक, जीव-ब्रह्म, बन्ध-मुक्त आदि दृष्टि से अज्ञानियों को समझाने के लिये, श्रुति वाक्य ही प्रमाण हैं। प्रारब्ध भोग के अनन्तर शरीर शान्त होने पर, वह ब्रह्म प्राप्त ज्ञानी, शरीर, अन्तःकरण इन्द्रियों और प्राणों के सहित परमात्मा में लीन हो जाता है। मुण्ड० उप० (३।२।७) की श्रुति का कथन है कि शरीर शान्त जब होता है ब्रह्म-प्राप्त पुरुष का, तब पन्द्रह् कलायें और मन सहित समस्त इन्द्रियों के देवता, ये सब अपने-अपने अभिमानी देवताओं में स्थित हो जाते हैं, उनके साथ जीवन्मुक्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसके पश्चात् विज्ञानमय जीवात्मा, उसके समस्त कर्म और उपर्युक्त सब देवता, ये सबके सब परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं क्योंकि जीवन काल में ही ज्ञानी के ज्ञान में शरीर, इन्द्रिया, मन, प्राण और देवताओं की अन्यता नहीं रहती व ब्रह्माकार रहता है। स्मरण कराने पर भी संसार का स्मरण नहीं आता, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य का स्वप्न भी नहीं होता, द्वैत शून्य महापुरुष के पास, प्रथम से ही, जब मन, बुद्धि का भान नहीं है तो कहाँ आना-जाना है, किसको जाना है, यहाँ-वहाँ क्या है ? गति, अगति, ब्रह्म-प्राप्ति, अप्राप्ति क्या है, कौन सोचे, अस्तु, ब्रह्म में एकीभाव में स्थित ब्रह्माकार ज्ञानी को कहीं जाना नहीं होता। वह स्वयं ब्रह्म है, जहाँ है, ब्रह्म है।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! देह सम्बन्धी सर्व तत्वों के साथ, वह ज्ञानी महापुरुष किस प्रकार स्थित होता है ?

वेदव्यासजी : **अविभागो वचनात् ॥४।२।१६॥**

व्याख्या : मुण्ड० उप० की श्रुति का कथन है कि जिस प्रकार बहने वाली नदियाँ अपने-अपने नाम और रूप को छोड़कर, समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुष, नाम-रूप से रहित होकर, परम पुरुषोत्तम दिव्यातिदिव्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद् महापुरुष प्राणादि सब तत्वों के साथ, विभाग रहित होकर, यहीं परब्रह्म परमात्मा में

(कारण भूत ब्रह्म में) मिल जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ब्रह्मविद् विद्वान सूक्ष्म शरीर में स्थित होने के अनन्तर ब्रह्मलोक किस प्रकार गमन करता है ?

वेदव्यासजी : **तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्या-त्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीत : शताधिकया ॥४।२।१७॥**

व्याख्या : बृह० उप० (४।४।२) की श्रुति में प्राण, इन्द्रिय, मन के सहित जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर में स्थित होने की वार्ता कहकर, ब्रह्मलोक जाने वाले, ब्रह्मवेत्ता के विषय में कहा है कि ब्रह्मविद का जब उत्क्रमण होता है, तब हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होने लगता है और उस प्रकाश से गमन का द्वार प्रकाशित हो जाता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को पहुँचने वाला, सुषुम्ना का प्रकाशमय द्वार खुल जाता है और इसी मार्ग द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य से अर्थात् ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से, "उसके स्वरूप भूत मन में ब्रह्मधाम पहुँचकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के साक्षात् दर्शन की प्राप्ति एवं प्रेम-पूर्ण सेवा-अर्चा की स्मृति के जग जाने से तथा ब्रह्म-मिलन की त्वरा से युक्त वह ब्रह्म-वेत्ता पूर्ण आर्ति दशा में (विरहासक्ति में) स्थित हो जाता है।" तब वह परब्रह्म परमात्मा के हार्दानुग्रह का पूर्ण पात्र बन जाता है; तदोपरान्त उसी अनुग्रह शक्ति से सम्पन्न हुआ, वह सूर्य की रश्मियों में प्रवेश कर जाता है। छा० उप० (८।६।६) में भी ब्रह्मविद का सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से जाकर, अमृतत्व की प्राप्ति करना और साधारण लोगों का अन्य सौ नाड़ियों में किसी नाड़ी से निकल कर, नाना योनियों में जाना बताया है जैसे हरिद्वार से एक ही पतला मार्ग, बद्री-नारायण आश्रम जाने के लिये निर्धारित है, अतिरिक्त वहाँ से निकले हुए अनेक मार्ग, अनेक दिशाओं की ओर ले जाकर, अनेक ग्रामों व नगरों में पहुँचाने वाले होते हैं, उसी प्रकार सुषुम्ना और अन्य सौ नाड़ियों का ज्ञान समझें।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इसके पश्चात् ब्रह्मवेत्ता की गति का वर्णन करें ?

वेदव्यासजी : **रश्म्यनुसारी ॥४।२।१८॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।६।५) की श्रुति बताती है कि ब्रह्मवेत्ता जीवात्मा सूर्य की रश्मियों द्वारा उर्ध्वगमन करता हुआ 'ॐ' जप के साथ-साथ मन की गति से सूर्य लोक पहुँच जाता है क्योंकि यह सूर्य ही ब्रह्मज्ञानियों के लिये ब्रह्मलोक जाने का एक मात्र द्वार है, जो अज्ञानियों के लिये बन्द रहता है, इसलिये उनकी यात्रा निम्न लोकों की हुआ करती है अत: इस श्रुति से यही निश्चय होता है कि ब्रह्मज्ञानी सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र पहुँचकर, वहाँ से सूर्य रश्मियों में स्थित होता है, पुन: उन्हीं का आश्रय ग्रहणकर, सूर्यलोक के द्वार से, ब्रह्मलोक को अविलम्ब प्राप्त करता है। जैसे योगी का मन बिना रोक-टोक के योगी को, उसके मन चाहे स्थान पर पहुँचा देता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता का ब्रह्म-प्राप्ति का संकल्प परमेश्वर के हार्दानुग्रह से, उसे क्षण में ब्रह्मलोक पहुँचा देता है।

मुमुक्षु सुखेन : मुने ! रात्रि के समय सूर्य की रश्मियों के अभाव में, रात्रि के समय देह त्याग करने वालों की गति कैसी होती है ?

वेदव्यासजी : **निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वा-द्दर्शयति च ॥४।२।१९॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।६।२) की श्रुति बताती है कि इस सूर्य की रश्मियाँ इस लोक में और उस सूर्य लोक में, दोनों जगह गतिशील बनी रहती हैं, वे सूर्य मण्डल से निकलती हुई, शरीर की नाड़ियों में और नाड़ियों से निकलती हुई सूर्य में फैलती हुई व्याप्त हो रही हैं। इनका एक-दूसरे से सम्बन्ध अहर्निशि बना रहता है। दोनों स्थानों के रश्मि-प्रकाश का प्रवाह न कम होता है और न रुकता है, जैसे बाह्य प्राण और अन्तर प्राण का प्रवाह, बाहर से भीतर और भीतर से बाहर श्वास के रूप में दिन हो या रात, प्राणी सोता हो या जागता, निरन्तर चला ही करता है, अत: किसी समय देह पात होने पर, सूक्ष्म शरीर के साथ ब्रह्मवेत्ता जीवात्मा का नाड़ियों के द्वारा उसी समय सूर्य की रश्मियों से सम्बन्ध हो जाता है और वह सूर्य लोक के द्वार से, ब्रह्मलोक चला जाता है, जैसे लक्ष्यवेध के नैपुण्य से, आकाश मार्ग द्वारा वायु के सम्बन्ध से धनुष से निकला हुआ बाण, लक्ष्य वेध कर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है, उसी प्रकार उक्त गति-वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! क्या दक्षिणायन काल में, मरने से भी ब्रह्मलोक वाला ब्रह्मवेत्ता की होती है ?

वेदव्यासजी : **अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥४।२।२०॥**

व्याख्या : जिस प्रकार रात्रि में मरने वाला सूर्य की रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य मण्डल के द्वार, द्वारा ब्रह्मलोक चला जाता है, उसी प्रकार दक्षिणायन में भी सूर्य की रश्मियों से सम्बन्ध अबाधित, प्रत्येक काल में बना रहने के कारण, उस काल में मृत्यु को प्राप्त हुआ भी, ब्रह्म ज्ञानी सूर्य द्वार से उसी समय ब्रह्मलोक चला जाता है, जैसे दो नगरों से सम्बन्धित निर्विघ्न राज मार्ग द्वारा वर्षा, जाड़ा, गर्मी या दिन-रात कभी भी जाने में कोई आपत्ति आड़े नहीं आती। भीष्मजी आदि महात्माओं के लिये जो उत्तरायण के प्रतीक्षा की कथा आती है, उसका अर्थ ऐसा मालुम पड़ता है कि वे वसु थे, उन्हें देवलोक जाना था। देवताओं की रात्रि दक्षिणायन बताई गई है इसलिये रात्रि में वहाँ जाना उचित न जानकर, उत्तरायण अर्थात् दिन की प्रतीक्षा में कुछ समय रुके रहे।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से, गीता (८।२३,२४) में दिन, शुक्ल, उत्तरायण में मृत्यु प्राप्त पुरुष को अपुनरावर्ती धाम में और रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन में मरने वाले को पुनरावर्ती लोक की प्राप्ति कहा है, किन्तु आपने रात्रि, कृष्ण और दक्षिणायन में भी मरने वाले ब्रह्मविद को, ब्रह्मलोक में जाना कहा है, अतएव इसका निराकरण करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **योगिन : प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥४।२।२१**

व्याख्या : गीता में कही हुई दोनों गतियों का वर्णन, वेद-वर्णित मार्ग से भिन्न है, इसके अतिरिक्त वह केवलीभूत योगियों की गति का निरूपण है। इस प्रकार विषय भेद के कारण, गीता में वर्णित और श्रुति कथित गतियों में कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता। जो लोग गीता के श्लोकों में कहे हुये, दिन, शुक्ल, उत्तरायण तथा रात्रि, कृष्ण और दक्षिणायन समय-सूचक शब्दों का अर्थ केवल काल विशेष के रूप में ही ग्रहण करते हैं, उनके समाधान के लिये, यह भाव कहा गया है किन्तु यदि उन शब्दों का प्रयोग, लोकान्तर में पहुंचाने वाले, उन-उन कालों के अभिमानी देवताओं के अर्थ में स्वीकार कर लिया जाय तो श्रुति के वर्णन से

कोई विरोध ही नहीं उत्पन्न होता, जैसे एक सम्माननीय व्यक्ति को एक राजा, दूसरे राज्य तक अपने खास कर्मचारियों द्वारा, सम्मान पूर्वक पहुंचा देता है : दूसरा राजा तीसरे राज्य तक, तीसरा राजा चौथे राज्य तक, इसी प्रकार क्रमशः गन्तव्य स्थान तक, राजा व राज्यभृत्यों द्वारा, वह प्रतिष्ठत व्यक्ति पहुंचा दिया जाता है; उसी प्रकार कालाभिमानी, लोकाभिमानी देवता, ब्रह्मविद को ब्रह्मलोक पहुंचा देते हैं।

तात्पर्यार्थ : शरीर शान्त होने के समय वाणी, मन में मन, इन्द्रियों के सहित प्राण में स्थित होते हैं; पुनः ये सब जीवात्मा के साथ स्थित होते हैं, पुनः जीवात्मा वाणी, मन, इन्द्रियों और प्राण के साथ सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होता है। यहाँ तक साधारण और ब्रह्म-प्राप्त पुरुषों की गति एक समान है, पश्चात् शाखायें विभक्त हो जाती हैं। साधारण पुरुष यहाँ से पितृयान के द्वारा स्वर्गादि लोकों में जाता है, तथा वहाँ पुण्य कर्मों का सुख भोगकर, पुनः मृत्युलोक लौट आता है तथा पापात्मा यमपुरी में यम-यातनाओं को भोगकर, पाप-योनियों को प्राप्त होते हैं, जो जीवन्मुक्त हैं, जिन्हें जीवन काल में ही ब्रह्म प्राप्ति हो गई है, जो अपने व संसार के ज्ञान से रहित हो चुके हैं, जो ब्रह्माकार स्थिति में स्थित हैं, जिन्हें कहीं आना-जाना, यहाँ-वहाँ, जीव-माया, ब्रह्म आदि के विवेचन से न प्रयोजन है, न उनका स्मरण है, ऐसे आप्तकाम, प्रशान्तात्मा महापुरुष, यहीं सूक्ष्मभूत समुदाय सहित ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और जो बड़भागी ब्रह्म ज्ञानी महापुरुष ब्रह्मलोक (भगवद्धाम) में जाकर, पुरुषोत्तम भगवान के दिव्य दर्शन के अभिलाषी हैं, वे सूक्ष्म भूत समुदाय सहित सुषुम्ना (प्रकाश मार्ग) मार्ग से, ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके, सूर्य रश्मियों में स्थित होते हैं, फिर इन्हीं रवि रश्मियों के आश्रय से सूर्य लोक पहुंचते हैं और पुनः सूर्य मण्डल के द्वार से ब्रह्मलोक (परमपद) को प्राप्त हो जाते हैं। वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के दूसरे पाद का यही सारतम संदेश है।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त ब्रह्मसूत्रान्तर्गत चतुर्थ अध्याय
का द्वितीय पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

चतुर्थ अध्याय का तृतीय पाद

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! ब्रह्मलोक में जाने के मार्ग को कहीं अर्चि मार्ग कहीं देवयान मार्ग और कहीं उत्तरायण मार्ग कहते हैं तथा इन मार्गों के लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं, अत: जिज्ञासा होती है कि उपासना व अधिकारी भेद से, ये नाम भिन्न-भिन्न हैं या एक ही मार्ग के उक्त सभी नाम हैं; एक मार्ग मानते हैं तो कहीं मार्ग में देवताओं के लोकों का वर्णन, कहीं संवत्सर, अयन, पक्ष, दिन रात्रि आदि काल विभाग का वर्णन और कहीं रवि-रश्मियों व सूर्य द्वार आदि का पृथक-पृथक वर्णन प्राप्त होता है, अतः इसका निराकरण करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥४।३।१॥**

व्याख्या : विभिन्न नामों से कहा गया वेद-वर्णित एक ही मार्ग है, अनेक नहीं; उस मार्ग का प्रसिद्ध नाम अर्चिरादि मार्ग है, क्योंकि वह अर्चि (सुषुम्ना नाड़ी रूप प्रकाश मार्ग) से प्रारम्भ होने वाला मार्ग है। सभी ब्रह्मविद विद्वान इसी एक मार्ग से ब्रह्मलोक की यात्रा करते हैं। इसी को देवयान और उत्तरायण मार्ग नाम से भी कहा गया है, मार्ग में मिलने वाले लोकों का वर्णन कहीं कम और कही अधिक है इसलिये जहाँ अधिक है, उसका अध्याहार वहाँ कर लेना चाहिये, जहाँ कम वर्णन मिलता हो।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! एक स्थान पर कहे हुये लोकों का अध्याहार अन्यत्र किस प्रकार कर लेना चाहिये ?

वेदव्यासजी : **वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥४।३।२॥**

व्याख्या : वायु लोक को सम्वत्सर के पश्चात् और सूर्य के पहले समझना चाहिये क्योंकि वायु का वर्णन कहीं समान भाव से और कहीं विशेष भाव से पाया

जाता है। छान्दो० उप० (५।१।१-२) की श्रुति में कहा गया है कि सत्य स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के, श्रद्धालु उपासक प्रथम अर्चि (ज्योति, अग्नि, सूर्य किरण) को प्राप्त होते हैं, पुनः अर्चि से दिन को दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण से सम्वत्सर को, सम्वत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा से विद्युत को। वहाँ से अमानव पुरुष, ब्रह्मविद को ब्रह्म के पास (ब्रह्मधाम) पहुंचा देता है। बृह० उप० (५।१०।१) की श्रुति कहती है कि इस लोक से ब्रह्मलोक जब मनुष्य जाता है, तब वह वायु को प्राप्त होता है। वायु, उसको ऊपर जाने के लिये रथचक्र के छिद्र के समान मार्ग दे देता है, तब जीवात्मा उससे ऊपर चढ़कर सूर्य को प्राप्त होता है। सूर्य उसे लम्बर नामक वाद्य के छिद्र की भाँति जाने का मार्ग दे देता है, तब वह उससे ऊपर चढ़कर चन्द्रमा को प्राप्त होता है, वहाँ चन्द्रमा उसे ऊपर जाने के लिये, नगाड़े के छिद्र के समान रास्ता दे देता है, तब वह ब्रह्मज्ञानी उस मार्ग से ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर, अनन्तकाल तक वहीं निवास करता है। कौषीतकि उप० (१।३) की श्रुति कहती है कि वह देवयान मार्ग से होकर, अग्नि लोक को जाता है पुनः वायुलोक, सूर्यलोक, वरुण लोक, इन्द्र लोक तथा प्रजापति लोक में होता हुआ, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। अस्तु० छान्दो० उप० में न आये हुये, वायु लोक का अध्याहार, बृहदारण्यक और कौषीतकि में आये हुये वायु लोक के प्रमाण से, सम्वत्सर के बाद और सूर्य के पहले कर लेना चाहिये। गहराई से समझने पर एक ही मार्ग की भिन्न-भिन्न वर्णन शैली, प्रकारान्तर से एक ही सिद्ध होती है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अर्चिरादि मार्ग में वरुण, इन्द्र और प्रजापति लोक का भी वर्णन नहीं है, अतः इन्हें किसके पश्चात् समझना चाहिये।

वेदव्यासजी : **तड़ितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्** ॥४।३।३॥

व्याख्या : वरुण जल का अधिपति है अतः विद्युत का जल से निकटतम् सम्बन्ध होने के कारण वरुण लोक की स्थिति, विद्युत के ऊपर समझनी चाहिये तत्पश्चात् इन्द्रलोक और प्रजापति लोक की स्थिति भी श्रुति के कथित क्रम के अनुसार जान लेनी चाहिये। इस प्रकार से श्रुतियों की एकता तथा एक मार्ग के होने में कोई विरोध न होगा। जैसे एक नगर से दूसरे बड़े नगर को जाने वाले, एक बड़े मार्ग का वर्णन लोगों को समझाने के लिये भिन्न-भिन्न शैली का उपयोग करते हैं यथा एक वर्णन कार कहता है कि इस नगर से निकलकर, उस नगर के

मार्ग में प्रथम दिवाली की तरह सजाये मार्ग से जाना पड़ता है पुनः वह मार्ग पहाड़ के भीतर से जाने के कारण वहाँ मशाल जलते रहते हैं, पुनः और आगे के मार्ग में मणियाँ जलती रहती हैं पुनः आगे प्रकाश करने वाली वृक्ष-पंक्तियाँ मिल जाती है, पुनः सूर्य-प्रकाश आ जाता है, इत्यादि क्रम वर्णन प्रकाश रूप लक्षण से किया गया। दूसरा वर्णन कर्ता कहता है कि इस नगर के बाद अमुक नगर के बाद अमुक-अमुक कहकर, प्रत्येक, नगर से सम्मानित होकर, राजा के द्वारा वहां जाने वाला, पहुंचाया जाता है। तीसरा केवल मार्ग के क्रमशः नगरों का नाम लेकर मुख्य नगर में जाने के मार्ग का निरूपण करता है, अतः तीनों वर्णन एक ही मार्ग के है, शैली लक्षणों की भिन्नता से मार्ग में भिन्नता नहीं होती।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! अर्चिरादि मार्ग में बताये हुये अर्चि, दिन, शुक्ल उत्त-रायण, सम्वत्सर, वायु, विद्युत आदि जड़ हैं या चेतन, समझाने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४।३।४॥**

व्याख्या : अर्चि, अहः आदि शब्दों द्वारा सांकेतिक भाषा में कहे जाने वाले उन-उन नाम और लोकों के अभिमानी देवता या मानवकार पुरुष हैं, जिनका काम ब्रह्मलोक में जाने वाले ब्रह्मज्ञानी को सम्मानपूर्वक, एक स्थान से दूसरे स्थान पहुंचा देना है इस लिये उन्हें अतिवाहिक के नाम से जाना जाता है। विद्युत लोक से आगे अमानव पुरुष, ब्रम्हज्ञानी को ब्रह्म-प्राप्ति कराता है, इस लिये सिद्ध होता है कि अर्चि से विद्युत तक, मानवाकृति वाले पुरुष ही ज्ञानी को, एक स्थान से दूसरे स्थान पहुंचाते हैं जैसे राज भवन के बाहर कक्षाओं में राजपुरुष ही, एक कक्षा से दूसरी कक्षा में लोगों को पहुंचाते-हैं किन्तु खास अन्तःपुर की कक्षाओं में पहले बूढ़े फिर कुबड़े या बौने तत्पश्चात् राज दासियां रहती हैं, जिनका काम अन्तः सुरक्षा तथा अन्तः जाने वालों को नियमानुसार, वहाँ पहुंचाना होता है, उसी प्रकार मानव और अमानव विषयक बार्ता समझनी चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : इस प्रकार अभिमानी देवता मानने की क्या आवश्यकता है, मुने ?

वेदव्यासजी : **उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥४।३।५॥**

व्याख्या : यदि अर्चि आदि शब्दों को उनके अभिमानी देवता न मानकर, उन्हें केवल ज्योति व लोक-विशेष के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो दोनों के व्यामोह अर्थात् ज्ञान शून्य होने के कारण ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्मलोक को जाना ही कैसे संभव होगा, क्योंकि ज्ञानी को मार्ग का ज्ञान नहीं, देवयान मार्ग कौन है और पितृयान कौन है, ब्रह्मधाम कहाँ है इत्यादि ज्ञानों से वह शून्य है और ज्योति तथा लोक स्वयं जड़ हैं, अत: वे नमार्ग संशोधन कर, ज्ञानी को बता सकते और न स्वयं पहुंचा सकते, इस लिये अर्चि आदि को, उनका अभिमानी देवता मानना उचित है क्योंकि ज्ञानी को, ब्रह्म-धाम में ब्रह्म प्राप्ति कराना चेतन कार्य है; इसी प्रकार मार्ग में कहे हुये लोकों से, उनके अभिमानी देवता मानना चाहिये, एक लोक से दूसरे लोक पहुंचाना ही उनका काम है, जैसे पुराणों में ऐसी कितनी कथायें आती हैं, कि नाम तो जड़ परक है और अर्थ-ग्रहण, चेतन परक है, यथा पर्वत की लड़की होने से पार्वती गिरि-कन्या होने से गिरिजा, हिमालय-सुता इत्यादि शब्दों से; यहां पर्वत, गिरि, हिमालय का अर्थ केवल जड़ पहाड़ तो नहीं माना जायगा अपितु तदभिमानी देवता का ही अर्थ ग्रहण होता है और भी शब्द ऐसे है, जैसे गंगा तनय, सिन्धुजा इत्यादि । उसी प्रकार अर्चि आदि शब्दों से तदभिमानी देवताका ही ग्रहण वेदज्ञों को मान्य है ।

मुमुक्षु मुखेन : प्रभो ! जब छान्दो० उप० (५।१०।१) में यह कहा गया है कि विद्युत के बाद अमानव पुरुष, ज्ञानी को ब्रह्म के समीप पहुंचा देता है, तब बीच में आने वाले वरुण, इन्द्र प्रजापति के लोकों के अभिमानी देवता का क्या काम होता है ?

वेदव्यासजी : **वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।।४।३।६।।**

व्याख्या : विद्युत लोक में प्रकट हुआ, अमानव पुरुष ही विद्युतलोक से ब्रह्मपुर में, ब्रम्ह्म के समीप ज्ञानी को पहुँचा देता है, यही श्रुति में स्पष्ट बताया जाने से सिद्ध होता है कि अमानव पुरुष के द्वारा, ज्ञानी पुरुष ब्रह्म के पास पहुंचाया जाता है । वरुण आदि लोकों के अभिमानी देवताओं का काम इतना है कि ज्ञानी को अपने लोकों से ऊपर जाने का मार्ग दे देना तथा ब्रह्म प्राप्त महापुरुष का सम्मान पूर्वक सहयोग करना जैसे एक बड़े राजा का पूर्ण सम्मान करके अपने राज्य से, दूसरे राज्य में जाने का प्रशस्त मार्ग देना और उसकी यात्रा में सहयोग करना, किसी भी राजा का धर्म अपने राज्य में आये हुये अतिथि स्वरूप राजा के प्रति होता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ब्रह्म विद्या के उपासक विद्वान ब्रह्मलोक में जिसको प्राप्त करते हैं, वह परब्रह्म है या सबसे पहले उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा है ?

वेदव्यासजी : **कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥४।३।७॥**

व्याख्या : श्रुति में जो परलोक यात्रा का वर्णन है, वह परब्रह्म परमात्मा के लिये उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र समान रूप से, सर्वकाल में स्थित है , उसके प्राप्त करने के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है, अगर उसको किसी एक लोक विशेष में मानते हैं तो वह एक देशीय सिद्ध होगा । इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या के उपासकों को, जो ब्रह्म प्राप्त होता है वह परब्रह्म नहीं अपितु कार्य ब्रह्म है क्योंकि कार्य ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही, लोकान्तर में जाना जाना उचित है, जैसे आकाश की प्राप्ति के लिये कहीं जाना उचित नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र है किन्तु उसके कार्यभूत शब्द स्वारस्य को श्रवण करने के लिये (संगीत आदि श्रवण के लिये) अन्यत्र जाना उचित है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से स्वपक्ष को दृढ़ करने की कृपा हो ।

वेदव्यासजी : **विशेषितत्वाच्च ॥४।३।८॥**

व्याख्या : बृह० उप० (६।२।१५) की श्रुति में आया है कि 'अमानव पुरुष, इनको ब्रह्मलोकों में ले जाता है ।' इस श्रुति में ब्रह्मलोक में बहुबचन का प्रयोग होने तथा ब्रह्मलोकों में ले जाने की बात आने से और ब्रह्म को प्राप्त होने की वार्ता न कही जाने के कारण, विशेष रूप से स्पष्ट ज्ञान होता है कि ज्ञानी 'कार्य ब्रह्म' को ही प्राप्त होता है । सर्व लोकों के स्वामी होने से कार्य ब्रह्म के पास भोग-भूमियों का बाहुल्य है इसलिये लोक के साथ बहुवचन का प्रयोग उचित है, जैसे कहा जाय कि अमुक मनुष्य को राज-बगीचों में रख दिया गया है, इससे स्पष्ट बगीचों का बाहुल्य प्रकट है, ऐसे ही उक्त वार्ता समझें । अगर कारण ब्रह्म की प्राप्ति कही जाती तो एक वचन होता अर्थात् ब्रह्मधाम पहुँचा दिया गया होता ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! दूसरी श्रुति में ऐसा आया है कि 'वह अमानव पुरुष ज्ञानियों को ब्रह्म के समीप ले जाता है ।' अतः इस कथन की कार्य ब्रह्म से

संगति नहीं बैठती क्यों कि श्रुति का उद्देश्य यदि कार्य ब्रह्म की प्राप्ति बताने में होता तो स्पष्ट कहा जाता कि 'ब्रह्मा के समीप पहुँचा देता है।

वेदव्यासजी : **सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥४।३।९॥**

व्याख्या : जो सबसे प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न कर, उसे समस्त वेदों का रहस्य ज्ञान प्रदान करता है, ऐसी परमात्म-ज्ञान-स्वरूपिणी बुद्धि को प्रकट करने वाले उस प्रसिद्ध परमदेव परमेश्वर की 'मैं मुमुक्षु साधक शरण ग्रहण करता हूँ।' श्वेता० उप० (६।१८) में कहे गये इस मन्त्र से स्पष्ट है कि ब्रह्मा, उस परब्रह्म परमात्मा का पहला कार्य है इसलिये इतनी समीपता होने से ब्रह्मा को, ब्रह्म कह देना असंगत नहीं है जैसे परब्रह्म ने अन्न, प्राण, मन की रचना प्राणियों को प्राणित करने के लिये की, इससे गौण रूप से अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म (अन्न ब्रह्ममुपासीत) कहा गया है। उसी प्रकार ब्रह्मा को भी ब्रह्म कह देने से कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! गीता (८।१६) में स्पष्ट रूप से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकों को पुनरावृत्तिशील कहा है अतः ब्रह्मा की आयु पूर्ण हो जाने पर, वहाँ जाने वालों का, पुनः लौटना अनिवार्य है और श्रुति में देवयान मार्ग से जाने वालों का पुनः लौटना नहीं कहा है, इसलिये कार्य ब्रह्म की प्राप्ति न मान कर, परब्रह्म को प्राप्ति मानना उचित क्या नहीं है ?

वेदव्यासजी : **कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥४।३।१०॥**

व्याख्या : मुण्ड० उप० (३।२।६) की श्रुति कहती है कि जिन्होंने उपनिषदों के अर्थ स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का निश्चय कर लिया है तथा कर्मों के फल और उनकी आसक्ति के त्याग रूप योग से, जिनका अन्तःकरण परम विशुद्ध हो गया है, वे सब मोक्ष कामी साधक ब्रह्मलोक में जाकर, अन्तकाल में अमृत स्वरूप बनकर भली-भाँति (सर्व भावेन) मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार श्रुति में सबकी मुक्ति का वर्णन होने से, सिद्ध होता है कि कल्याण कामी साधक, जो ब्रह्म विद्या के उपासक हैं, वे ब्रह्मलोक जाकर, ब्रह्मा की आयु पर्यन्त ब्रह्मलोक में निवास करते हैं पुनः ब्रह्मलोक के नाश होने पर, वहाँ के अध्यक्ष ब्रह्मा के साथ

परब्रह्म को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं इसलिये उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसे एक महाराजा ने अपने एक जनपद में सिंचाई के लिये एक बाँध बँधवाया। उस जनपद के बहुत से गाँव डूब में आने से, राजा ने वहाँ के लोगों को, यत्र-तत्र जनपदों में, उनकी योग्यता के अनुसार वास स्थान दे दिया किन्तु उसी डूब में आने वाला, राजा का एक उपनगर था, जहाँ लोगों को उच्चस्तरीय-सुख-सुविधा प्राप्त थी। समर्थ राजा ने वहाँ के निवासियों को, अपनी राजधानी में बुलाकर सदा के लिये उन्हें बसा कर, उनकी सुख-सुविधा से भरे, वास-स्थान बनवा दिये, जिससे उन्हें जहाँ-तहाँ भटकना नहीं पड़ा उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : स्मृति प्रमाण से भी क्या उक्त विषय सिद्ध है, मुने ?

वेदव्यास जी : **स्मृतेश्च ॥४।३।११॥**

व्याख्या : कूर्म पुराण पूर्व खण्ड (१२।२६९) में कहा गया है कि विशुद्ध अन्तःकरण जिनका हो गया है, वे सब पुरुष, प्रलयावस्था होने पर समस्त जगत के अन्त में ब्रह्मा के साथ, उस परमपद में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हो जाते हैं ; इस प्रकार स्मृति में भी इसी वार्ता की पुष्टि मिलने से सिद्ध है कि कार्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है, अस्तु यह मानना उचित है जैसे किसी संशय ग्रस्त वार्ता का निर्णय सच्ची साक्ष से हो जाता है, उसी प्रकार उक्त विषय की सिद्ध कही गई है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आचार्य जैमिनि इस विषय में क्या कहते हैं।

वेदव्यासजी : **परं जैमिनिर्मुख्यात्वात् ॥४।३।१२॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (५।१०।१) की श्रुति का कथन है कि 'वह अमानव पुरुष, इनको (ज्ञानियों को) ब्रह्म के समीप पहुँचा देता है अतः श्रुति कथित इस वाक्य का 'ब्रह्म' शब्द मुख्य रूप से, परब्रह्म परमात्मा के ही अर्थ में हैं इसलिये अर्चि मार्ग से गमन करने वाले, परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं, कार्य ब्रह्म को नहीं। मुख्य अर्थ की उपयोगिता न होने पर ही, गौण अर्थ की कल्पना

सुधी वेदज्ञ करते हैं, मुख्यार्थ की आवश्यकता होने पर नहीं। उस परब्रह्म परमेश्वर के सर्वत्र पूर्ण होने पर भी, उसके परम धाम का होना तथा वर्णन और वहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्मभक्त उपासकों के जाने का वर्णन श्रुतियों, (कठ० उप० १।३।९) (प्रश्न उप० १।१०) और स्मृतियों में (गीता १५-६) स्थान-स्थान पर किया गया है, इसलिये उसके लोक (ब्रह्मलोक) में जाने का कथन, कार्य ब्रह्म के अर्थ में नहीं है। बहुवचन का प्रयोग आदर योग्य के लिये, उचित ही है तथा परब्रह्म का उपासकों के भावानुसार बहुत से लोकों का दृश्य (गोलोक साकेत, वैकुण्ठ आदि का दृश्य) अपने में ही, अपने संकल्प से उपस्थित कर देना, सर्व समर्थ पुरुषोत्तम भगवान के लिये असंभव नहीं है। श्रुति-पुराण भी ब्रह्मधाम में, इनका होना प्रतिपादन करते हैं, अतः सर्वभावेन यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मोपासक परमपद जाकर, परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, कार्य ब्रह्म को नहीं, जैसे घटाकाश उपाधि नष्ट होने पर, आकाश को ही प्राप्त होता है, आकाश के कार्य भूत वायु आदि को नहीं; यह जैमिनि का सिद्धान्त है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से जैमिनि, उक्त मत को कैसे दृढ़ करते हैं ?

वेदव्यासजी : **दर्शनाच्च ॥४।३।१३॥**

व्याख्या : स्थान स्थान पर अर्चि मार्ग (सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र को भेदन करके जाने वाला प्रकाश मार्ग) से ऊर्ध्व गमन करने वालों का ब्रह्मधाम में जाकर, परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करना श्रुतियों में बार-बार कहा गया है; इस से सिद्ध होता है कि देवयान मार्ग से जाने वाले ब्रह्मविद् ब्रह्मोपासक, परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, कार्य ब्रह्म को नहीं यथा (कठ० उप० १।३।९) की श्रुति कहती है, कि (ज्ञानी भक्त) संसार मार्ग के उस पार (प्रकृति की अन्तिम सीमा विरजा के उस पार) स्थित, उस विष्णु के परम पद् को प्राप्त होता है। छान्दो० उप० (८।६।६) में आया है कि उनमें से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उठकर, अमृतत्व को प्राप्त होता है और भी कठोपनिषद् में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उर्ध्वगति का वर्णन उक्त प्रकार ही आया है, जब ब्रह्मा की आयु निर्धारित है तथा ब्रह्मा के लोक का लय हो जाना भी, वेद में वर्णित है तब वह मृत ही है अतः ब्रह्मोपासकों को जब अमृतत्व की प्राप्ति कही गई है, श्रुति में तब अच्युत धाम (परब्रह्म धाम) का प्राप्त होना ही

सिद्ध होता है, ब्रह्मा के लोक का नहीं, जैसे कहा जाय कि अमुक पुरुष स्वप्न में एक समुद्र के बीच उत्तम नगर को देखता है, वहाँ वह बहुत दिन रहा और स्वयं व अन्य को दूध में स्नान करते देखा, तथा दूध पीते देखा, इससे यह सिद्ध होता है कि वह स्वप्न में क्षीर सागर ही को प्राप्त हुआ था, लवण सागर को नहीं क्योंकि लवण सागर के बीच में बसे नगरों में उक्त कल्पना असंभव है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रकारान्तर से जैमिनि मत कैसे दृढ़ होता है ?

वेदव्यासजी : **न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।।४।३।१४।।**

व्याख्या : ब्रह्मविद ब्रह्मभक्त उपासक जो अनन्य प्रयोजन वाले सर्वभावेन अनन्य हैं, उनका प्राप्तव्य संकल्प, कार्य ब्रह्म के लिये नाम मात्र नही होता, वे तो परब्रह्म परमात्मा के नाम, रूप, लीला और धाम में अनुरक्त रहने वाले हैं। ब्रह्मा व ब्रह्मा के धाम का स्वप्न भी नहीं देखते इसलिये उनकी अनन्योपासना के अनुसार परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति होती है, कार्य ब्रह्म की नहीं। छान्दो० उप० (८।१४।१) में जो कहा गया है कि 'वे प्रजापति के सभा-भवन को प्राप्त होते हैं, वहाँ भी उपासक का लक्ष्य, प्रजापति के लोक में रहना नहीं है किन्तु परब्रह्म के परमधाम में जाना ही है क्योंकि वहाँ यशों के यश अर्थात् जिस महद्यश का वर्णन है, वह ब्रह्म का नाम है, (यस्य नाम महद्यशः)। यह वार्ता अन्य श्रुतियों में भी देखी जा सकती है यथा श्वेता० उप० (४।१९) तथा छान्दो० उप० (८।१३।१) के प्रसंग से सिद्ध होता है कि वहाँ साधक का लक्ष्य परब्रह्म ही है। जैसे श्री भरत जी का लक्ष्य चित्रकूट में जाकर, श्री सीताराम जी के दर्शन करने का है किन्तु मार्ग में भरद्वाज जी के आश्रम में रुककर, श्रीराम जी का यशोगान सुने; इसी प्रकार से अन्य-अन्य स्थानों में भी, श्रीराम जी के पावन चरित्र व नाम का यश श्रवण करते हुये यात्रा समाप्त कर, चित्रकूट में श्रीराम जी का दर्शन किया था; उसी प्रकार प्रजापति के सभा भवन में, परब्रह्म परमात्मा के नाम-यश का श्रवण करना, ब्रह्म प्राप्ति का ही द्योतक है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! आप और जैमिनि के मत का वास्तविक सिद्धान्त क्या है ?

वेदव्यासजी : **अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्त-त्क्रतुश्च ।४।३।१५।।**

व्याख्या : महर्षि बादरायण का मत है कि उपनिषदों में वर्णित वाणी तथा वाणी जैसी अन्य प्रतीकोपासनाओं के अतिरिक्त जो ब्रह्मलोकों के भोगों को, अपने मन के अनुसार भोगने की कामना वाले, कार्य-ब्रह्मोपासक हैं और जो सर्वकामनाओं से रहित अनन्य प्रयोजन वाले, अनन्य परब्रह्म परमात्मा के उपासक केवल परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति, दर्शन व सेवा की इच्छा से, भगवद-अनुरक्ति पूर्ण उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के उपासकों को, उनके संकल्प व इच्छानुसार अमानव पुरुष, कार्य ब्रह्म (ब्रह्मा के) भोग विभूति से सम्पन्न लोकों में, भोगेच्छा वालों को और सर्वकामना हीन भगवद्-प्राप्ति की प्रबलता वालों को, पूर्णतम कारण स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के, अपुनरावर्ती धाम में पहुँचा देता है, अस्तु, दोनों मान्यतायें उपासकों के संकल्पानुसार, अविरोधी और उचित है—श्रुति प्रमाण से भी यही जाना जाता है। कौशी० उप० (१।३) में स्पष्ट कथन है कि 'अमानव पुरुष, जिसको परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के धाम में पहुँचाते हैं' उनका भी मार्ग प्रजापति ब्रह्मा के लोक में होकर ही है अतः जिनके अन्तःकरण में लोकों के भोगने के संस्कार होते हैं, उन्हें, अमानव पुरुष ब्रह्मा के लोक में छोड़ देता है, वे वहाँ लोक-सुख भोगकर, प्रलयकाल में ब्रह्मा के साथ परब्रह्म परमात्मा का अपुनरावर्ती धाम प्राप्त करते हैं (ब्रह्म प्राप्ति करते हैं) और जिनके मन में भोगों के संस्कार समाप्त हो गये हैं, उन अनन्य ब्रह्मोपासकों को, परमधाम पहुँचा देते हैं, जहाँ से पुनः लौटना कभी नहीं होता; इस प्रकार देवयान मार्ग से गये हुये, दोनों प्रकार के ब्रह्मज्ञानी पुरुष वापस नहीं लौटते, अन्तर इतना ही है कि लोकों के भोगानुभव करने वाले को, ब्रह्मा के लोक में रुककर ब्रह्मा के साथ प्रलयकाल में परमधाम की प्राप्ति होती है और भोग संस्कार हीन ब्रह्म दर्शनाभिलाषी ब्रह्मोपासकों को, ब्रह्मा के लोक में न रुककर शीघ्र. परम पद में मनोभिलषित परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, जैसे जगन्नाथ पुरी के यात्री लोगों में जिन्हें अन्य तीर्थों में रुकने या उनका अनुभव करने की इच्छा है उन्हें, उनका यान उनके चाहे स्थान में उतार देता है और जिनके मन में अन्य स्थान जाने की कल्पना ही नहीं है, उन्हें यान जगन्नाथ पुरी पहुँचा देता है, उसी प्रकार उक्त विषय को जानना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! प्रतीकोपासना वाले अर्चि मार्ग से नहीं ले जाते, इसका क्या कारण है ?

वेदव्यासजी: **विशेषं च दर्शयति ॥४।३।१६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (७।२।२) की श्रुति स्वयं बताती है कि प्रतीकोपासना वालों को देवतान मार्ग के अधिकारी, अपने मार्ग से क्यों नहीं ले जाते, उसका कारण यह है कि वाणी में प्रतीकोपासना का फल, जहाँ तक वाणी की गति है, वहाँ तक विचरण करने की शक्ति प्राप्त हो जाना, श्रुति में बताया गया है, इसलिये वाणी में प्रतीकोपासना करने वाला उपासक, वाणी की गति जहां है, वहाँ ही जा सकता है। देवयान मार्ग तो वहाँ जाता है जहाँ वाणी और मन नही जा सकते; इसी प्रकार श्रुतियों में अनेक प्रतीकोपासनाओं का वर्णन है, फल भी उनके अलग-अलग हैं। इसलिये प्रतीकोपासक न कार्य ब्रह्म के लोक जा सकते और न परब्रह्म परमात्मा के अविनाशी धाम जा जा सकते। उनकी गति उनके उपासना के फल के अनुसार सीमित और प्रकृति देश ही में है अतः देवयान मार्ग के अधिकारी देवताओं का, उन्हें अर्चि मार्ग से न ले जाना उचित हीं है जैसे शरीर सुख मात्र चाहने वालों को, अध्यात्म वार्ता का न श्रवण कराना उचित ही है, उसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

तात्पर्यार्थ : परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में अनुरक्त एवं सर्व कामना हीन विशुद्ध अन्तःकरण वाले, ब्रह्मविद महापुरुष का जब प्रारब्ध समाप्त हो जाता है तब वे प्राण, मन, इन्द्रिय के साथ, सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित हो, ईश्वर के हार्द्रानुग्रह से सुषुम्ना नाड़ी (प्रकाश मार्ग) में प्रवेश करके ब्रह्मरन्ध्र से निकलते हैं और दिन, अभिमानी, शुक्ल, उत्तरायण, संवत्सर अभिमानी देवताओं द्वारा सम्मान पूर्वक, सूर्यलोक ले जाये जाते हैं, पुनः सूर्य द्वार से, चन्द्र और विद्युत लोकों से पार होकर, प्रकृति मण्डल को पार कर जाते हैं तब उनके सूक्ष्म कारण-शरीर का भी सम्बन्ध छूट जाता है और वे सच्चिदानन्द विग्रहवान होकर, सच्चिदानन्द ब्रह्मधाम में, सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति करते हैं किन्तु जिन ब्रह्मोपासकों के मन में, ब्रह्मा आदि लोकों के सुख भोगने की कामना है, वे सूक्ष्म व कारण शरीर-सम्बन्ध विच्छेद होने के पहले ब्रह्मा के लोक में (जो देवयान मार्ग में ही स्थित है) अमानव पुरुष द्वारा छोड़ दिये जाते है, तत्पश्चात् बहुत काल तक, ब्रह्मा के लोक में इच्छानुसार सर्व भोगों का उपभोग करते हैं, पुनः प्रलयकाल में ब्रह्मा के साथ, वे भी ब्रह्मधाम में जाकर ब्रह्म-लीन हो जाते हैं तथा फल कामना प्रदान करने वाली, उद्गीथ आदि के सकाम प्रतीकोपासक, प्रकृति- प्रदेश के लोकों में ही विहार करते हैं अतः विवेकशील महापुरुष को चाहिये कि वह सर्व कामनाहीन हो जाय। ब्रह्मा के लोक-सुख की इच्छा का सर्वथा त्यागकर, विशुद्ध अन्तः

करण से, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की उपासना सादर सप्रेम और अनन्यता पूर्वक मरण काल तक करता रहे, जिससे परब्रह्म परमात्मा का हार्दानुग्रह प्राप्त कर, अन्त में अर्चि मार्ग से जाकर, परब्रह्म के परमधाम को प्राप्त हो जाय, जहाँ से लौटकर पुनः प्रकृति-प्रदेश में नहीं आना पड़ता। वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के चौथे अध्याय के तीसरे पाद का यही सारतम संदेश है।

श्रीवेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रान्तर्गत चतुर्थ अध्याय का तृतीय पाद समाप्त

श्री वेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के

चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जो ब्रह्मोपासक परब्रह्म परमात्मा के अप्राकृत धाम को प्राप्त करते हैं, उनकी, वहाँ कैसी स्थिति होती है ? समझाने की हो।

वेदव्यासजी : सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥४।४।१॥

व्याख्या : जो ब्रह्मोपासक, परब्रह्म के सच्चिदानन्दात्मक परम धाम की प्राप्ति करते हैं, वे वहाँ अपने वास्तविक सहज स्वरूप सम्पत्ति से संयुक्त हो जाते हैं जैसे नाट्कला के प्रदर्शक रंगमंच पर, विविध वेष धारण कर, दर्शकों के नेत्र पथ का विषय बन जाते हैं किन्तु जब खेल समाप्त हो जाता तब वे निज गृहों में आकर अपने सहज स्वरूप में स्थित होकर परिवार के बीच रहते हैं उसी प्रकार जीव के परमधाम जाने पर उसको अपने सहज स्वरूप की प्राप्ति वार्ता जाननी चाहिये। छान्दो० उप० (८।३।४) के श्रुति-शब्दों में आचार्य मुखेन यही बताया गया है कि 'कि यह आत्मा है' यह (उस ब्रह्म को प्राप्त होने वाला) अमृत है, यह अभव है और यही ब्रह्म है, निःसन्देह उस, इस (प्राप्तव्य) परब्रह्म का नाम सत्य है, अतः इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि परमधाम पहुँचते ही, ब्रह्मोपासक अपने सहज स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् सत्यकाम सत्यसंकल्प, अपहृत, पाप्मा, विज्वर, विशोक, भूख-प्यास से रहित, विमृत्यु और सच्चिदानन्दात्मक, अष्टगुणों से विभूषित हो जाता है। छान्दो० उप० (८।१।५) की श्रुति में उक्त गुणों का वर्णन द्रष्टव्य है। वैष्णव शास्त्रों में परमधाम-प्राप्त उपासक को परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान के समान रूप, गुण, वैभव की त्रिसाम्यता प्राप्त हो जाती है। वह सच्चिदानन्द विग्रहवान उपासक प्रभु-पारतन्त्र्य स्वरूप, अपने सहज स्वरूप को विकसित पाता है तथा अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व, अनन्य शरणत्व नामक त्रय अकारों से सम्पन्न होकर, सकल विधि कैंकर्य निपुण हो जाता है, साथ ही सर्व भावेन सर्व भगवत् कैंकर्य करने के योग्य

कैंकर्य विग्रह परिग्रह प्राप्तकर, अपनी सेवा से भगवान का विकसित मुखारविन्दु देखकर, परमानन्द की अनुभूति करता है यही उसका परम भोग्य है इस सहज स्वरूप की प्राप्ति आर्तिपूर्ण प्रपत्ति करने वाले, अनन्य प्रेमी भगवद्भक्तों को ही सम्भव है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जीवात्मा परमधाम में सहज स्वरूप की स्थिति से सम्पन्न होकर पहले से किस विशेषता का अनुभव करता है ?

वेदव्यासजी : **मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।।४।४।२।।**

व्याख्या : मुण्ड० उप० (३।२।६) की श्रुति में एवं अन्य श्रुतियों में भी, स्थान-स्थान पर कहा गया है (प्रतिज्ञा की गई है।) कि उस परब्रह्म परमेश्वर के परमधाम की प्राप्ति के पश्चात्, यह ब्रह्मोपासक सदा के लिये सर्व बन्धनों से मुक्त हो जाता है, इससे यह वैशेष्य (वैशिष्ट्य पूर्ण वैलक्षण्य) वास्तविक स्वरूप की सम्पन्नता आने पर, परमात्म-प्राप्त जीवात्मा में सहज हो जाता है। पूर्व सूत्र में कहे हुये अष्टगुण, उसका वरण कर लेते हैं। वह अमृत होकर,अमृतानन्द का अनुभव करता है जैसे जाल में बँधा हुआ मृग, शिकारी के बन्धन से मुक्त होकर, स्व-समाज के बीच सुखी होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म एवं कारण संस्कारों के विवश होकर, प्रकृति बंधन में बँधा हुआ जीवात्मा, अपने सहज सँघाती सुहृद परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति, परमधाम में करके परमानन्द का अनुभव करता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! यह कैसे जाना जाता है कि उपासक, उस समय सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है ?

वेदव्यासजी : **आत्मा प्रकरणात् ।।४।४।३।।**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।३।४) की श्रुति के प्रकरण में स्पष्ट वर्णन आता है कि वह, ब्रह्मलोक में प्राप्त होने वाला स्वरूप 'आत्मा' है, अतः इससे सिद्ध होता है, कि सर्व बन्धनों से मुक्त होकर जीवात्मा, परमात्मा के सदृश्य परम दिव्य सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। बन्धन, प्रकृति-सम्बन्ध को कहते हैं अतः जब जीवात्मा प्रकृति से पार होकर, अप्राकृत धाम को प्राप्त हो गया तो बन्धन संज्ञा ही, वहाँ न होने से, बन्धन का न होना सहज समझ में आ जाता

है, जहाँ एक सम सहज प्रकाश बना रहता है, वहाँ अँधेरे का नाम कोई नहीं जानता, सूर्य में अँधेरा जैसे नहीं है, वैसे ही ब्रह्म धाम में, माया का बन्धन नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! ब्रह्मधाम में जाकर, जीवात्मा की स्थिति परमात्मा से, पृथक रहती या ब्रह्म में ही मिल जाता है वह ?

वेदव्यासजी : **अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४।४।४॥**

व्याख्या : कठ० उप० (२।१।१५) की श्रुति का कथन है कि 'हे गौतम ! जिस प्रकार शुद्ध जल में गिरा हुआ, शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान रखने वाले मुनि का आत्मा हो जाता है; इसी प्रकार मुण्ड० उप० (३।२।८) की श्रुति उपदेश करती है कि जिस प्रकार प्रवहमान नदियाँ अपने-अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा को जानने वाला विद्वान, नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है अतः इन श्रुति प्रमाणों से यह सिद्ध होता है मुक्तात्मा, उस परब्रह्म परमात्मा से, अविभक्त रूप से मिलता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में जैमिनि का मत क्या है ?

वेदव्यासजी : **ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ॥४।४।५॥**

व्याख्या : जैमिनि आचार्य का कथन है कि परमात्म प्राप्त पुरुष के स्वरूप का निरूपण जो श्रुतियों में दृष्टिगोचर होता है तथा स्मृतियों में, जो प्रमाण पाया जाता है, उससे यही सिद्ध होता है कि परमधाम को प्राप्त ब्रह्मोपासक, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के सदृश रूप को प्राप्तकर स्थित होता है, ब्रह्म में मिल नहीं जाता, उसका पृथकत्व स्वरूप सिद्ध है, वह निर्मल होकर, परमेश्वर की परम समता को प्राप्त होता है। मुण्ड० उप० (३।१।३) में इस अर्थ रहस्य को देखा जा सकता है। छान्दो० उप० (८।३।४) में भी यही कहा गया हैं कि मुक्तात्मा, परमात्मा के समान परम दिव्य शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न होता है। गीता (१४।२) में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि इस ज्ञान का आश्रय ग्रहणकर मेरे दिव्य गुणों की, समता को प्राप्त महात्मा, सृष्टिकाल में उत्पन्न होने की और प्रलय काल में

मृत्यु की व्यथा से व्यथित नहीं होते अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त होकर, मेरे धाम में निवास करते हैं। इन श्रुति-स्मृति प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मोपासक, परमात्मा के समान दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है जैसे भृंग किसी कीट को जब पकड़ लेता है और भिन्न-भिन्न शब्द करता है तब वह कीट, भृंग के भय से, उसी का चिन्तन करता हुआ, भृंग के सदृश आकार का हो जाता है किन्तु समान स्व-रूप में स्थित होकर भी, उसकी पृथकता बनी रहती है, अतः इसी भृंग कीट न्याय के समान परमधाम प्राप्त उपासक, परमात्मा के सदृश स्वरूप में स्थित होता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में औडुलोमि आचार्य का क्या मत है ?

वेदव्यासजी : चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥४।४।६॥

व्याख्या : बृह० उप० (४।५।१३) की श्रुति में कहा गया है कि जिस प्रकार नमक का डला बाहर-भीतर के भेद से रहित, सबका सब रसघन है, उसी प्रकार यह बाहर-भीतर भेद से रहित अर्थात् देही-देह विभाग से रहित सबका सब प्रज्ञान-घन ही है इसलिये उपासक का अपने स्वरूप से सम्पन्न होने का अर्थ 'चैतन्यघन रूप में स्थित होना है' यह आचार्य औडुलोमि का मत है। जीवात्मा, प्रकृति प्रदेश में ईख के समान रहता है अर्थात् ईख में कड़ा-मोटा आवरण (छिलका) जैसे ऊपर होता है पुनः एक सफेद पदार्थ होता है जिसे चूसकर फेंक दिया जाता है। इन दोनों पदार्थों से पृथक रस होता है जो शक्कर के रूप में परिवर्तित होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर रूप आवरण से ढका रहता है, जब प्रकृति-सम्बन्ध से मुक्त होकर, परमात्मा के धाम जाता है, तब वह केवल रस-स्वरूप हो जाता है अर्थात् चैतन्यघन स्वरूप हो जाता है, यही उसका स्वस्वरूप से सम्पन्न हो जाना है।

मुमुक्षु मुखेन : ब्रह्मर्षे ! उक्त आचार्यों के और आपके मत का समन्वय क्या है ?

वेदव्यासजी : एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥४।४।७॥

व्याख्या : आचार्य जैमिनि का कथन है कि ब्रह्मोपासक, ब्रह्मधाम जाकर, परमात्मा के समान दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है तथा औडुलोमि का कहना है कि ब्रह्मोपासक का अपने स्वरूप में स्थित होने का अर्थ चैतन्यघन स्वरूप में स्थित होना है। इन दोनों आचार्यों की मान्यता श्रुति-स्मृति प्रमाण सिद्ध है। इसी प्रकार सूत्र (४।४।४) के अनुसार मुक्तात्मा की स्थिति, परमात्मा में जो अविभक्त रूप से कही गई है, वह भी श्रुति-शब्दो से प्रमाणित है इसलिये यही सिद्धान्त निकलता है कि ब्रह्मोपासक के भावनानुसार ब्रह्मधाम में तीनों प्रकार से उसकी स्थिति हो सकती है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

विशेष : मुक्तात्मा चाहे अपने सहज चैतन्यघन स्वरूप में स्थित हो जाय अथवा महा चैतन्यघन परमात्मा में अभिन्न रूप से स्थित हो जाय किन्तु परमात्मा का अंशभूत जीवात्मा, जो परम पिता परमेश्वर का पुत्र है, उसकी उपयोगिता क्या हुई ? सर्वदा अकल-अशक्तिक रूप से, सोते पुरुष के समान स्थित रहने से, अपने और परमात्मा को, अपने कैंकर्य से आनन्द की अनुभूति कराने से, वंचित रहना पड़ता है, हाँ, सोने का सुख अवश्य प्राप्त होता है परन्तु सोने के सुख का अनुभव जागने पर ही होता है, जब जागना ही नहीं है तब शयन सुख का भी अनुभव न हो सकेगा। समुद्री नमक चाहे डला के रूप में रखा रहे, चाहे लवण सागर में मिल जाय, उसकी उपयोगिता बिना लवण रस के रसिक के पाये सिद्ध न होगी इसलिये वैष्णवीय दर्शन में जैमिनि मत एवं व्यास-निर्णय-सिद्धान्त की भाँति परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के रूप, गुण और वैभव की साम्यता स्वरूप में स्थित होना ही परम धाम में जीव की स्थिति मानते हैं, वहाँ सेवानुरागी उपासक, भगवत् कैंकर्य को ही परम पुरुषार्थ समझता है, जिससे भगवान का मुख कमल विकसित होता है और वही प्रभु के प्रसन्न मुखारविन्द का दर्शन, परमात्म प्राप्त उपासक का भोग होता है अर्थात् उपासक केवल अमृत नहीं बन जाता अपितु अमृत बनकर, अमृत का आस्वाद लेता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! जो ब्रह्मोपासक लोग सुखानुभूति की इच्छा से, ब्रह्मा के लोक में अमानव पुरुष द्वारा छोड़ दिये जाते हैं, उनका वहाँ के भोगों की प्राप्ति किस प्रकार होती है ?

वेदव्यासजी : **संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥४।४।८॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (८।१२।५-६) की श्रुति में बताया गया है कि यह आत्मा मन रूप दिव्य चक्षुओं से ब्रह्मा के लोक-विषयक समस्त भोगों को देखता हुआ रमण करता है, इससे सिद्ध होता है कि केवल संकल्प से मन के द्वारा ही, उपासक उस लोक के दिव्य भोगों का अनुभव करता है जैसे अनुकरण लीला के पात्रों द्वारा की हुई लीलाओं के प्रत्येक प्रकारों का एवं ध्यानस्थ भगवल्लीला चिन्तन के द्वारा प्रत्येक लीलाओं का अनुभवानन्द, मन के संकल्प से ही हुआ करता है वैसे ही ब्रह्मा के लोक-भोगों का, अनुभव मन द्वारा ही उपासक करता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! युक्ति से उक्त वार्ता को दृढ़ करने की कृपा करें।

वेदव्यासजी : **अत एव चानन्याधिपतिः ॥४।४।९॥**

व्याख्या : मुक्तात्मा जब मन के स्वामी हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) को प्राप्त हो जाता है, तब ब्रह्मा के अतिरिक्त उसका कोई स्वामी नहीं रहता अर्थात् स्वयं बुद्धि, मन, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, उसके आधीन रहते हैं ऐसा तैत्त० उप० (१।६) में कहा गया है इसलिये संकल्प मात्र से अपने अधीनस्थ मन के द्वारा सब दिव्य भोगों का अनुभव कर लेता है जैसे मात्र पिता के आधीन राजपुत्र नौकरों द्वारा अपने सुख सुविधा पूर्ण सामग्रियाँ मँगाकर, उनका अनुभव कर लेता है, इसी प्रकार उक्त विषय को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उपासक वहाँ के दिव्य भोगों का भोग करने के लिये शरीर भी धारण करता है क्या ?

वेदव्यासजी : **अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥४।४।१०॥**

व्याख्या : आचार्य बादरि का मत है कि ब्रह्मा के लोक में, स्थूल शरीर का अभाव है अतः वहाँ गया हुआ उपासक, केवल मन से ही वहाँ के भोगों को बिना स्थूल शरीर के भोगता है क्योंकि छान्दो० उप० (८।१२।५-६) की श्रुति इसी प्रकार निर्देश करती है इसलिये निश्चय रूप से यह आत्मा नेत्र-मन के द्वारा, ब्रह्म लोक के भोगों को देखता हुआ रमण करता है। इसके पश्चात् (८।१२।२) में दिव्य रूप से सम्पन्न होना बताया गया है। दिव्य रूप, स्थूल शरीर के बन्धन से रहित होता है इसलिये ब्रह्मा के लोक में गये हुये, मुक्तात्मा में स्थूल शरीर का

अभाव सिद्ध है, जैसे स्वप्नावस्था के स्वामी तेजस स्वरूप हिरण्यगर्भ होते हैं, अस्तु, उस लोक (स्वप्नावस्था) में गया हुआ जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ, मन के संकल्प से ही स्वप्नलोक के सुख-दुःखों का अनुभव करता है, उसी प्रकार ब्रह्मा के लोक को प्राप्त उपासकों के भोगानुभव विषयक वार्ता को समझना चाहिये ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में आचार्य जैमिनि का क्या मत है ?

वेदव्यासजी : **भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥४।४।११॥**

व्याख्या : आचार्य जैमिनि का कथन है कि छान्दो० उप० (७।२६।२) की श्रुति कहती है कि मुक्तात्मा एक प्रकार से होता है, तीन प्रकार से होता है, पांच प्रकार से होता है तथा सात प्रकार से, नव प्रकार से और ग्यारह प्रकार से होता है । इस प्रकार श्रुति में नाना प्रकार के भावों के प्राप्त होने से, यही सिद्ध होता है कि उसके स्थूल शरीर का भाव है अर्थात् मुक्तात्मा शरीर से युक्त होता है अन्यथा श्रुति वाक्य असंगत सिद्ध होंगे, जैसे देवलोक (इन्द्रलोक) में स्वर्ग सुख अनुभूति के लिये, देवलोक के अनुकूल दिव्य शरीर मिलना, स्थूल शरीर से निकल कर गये हुये प्राणी को प्राप्त होता है, उसी प्रकार संभव है श्रुति का कथन इसी अर्थ में हो कि ब्रह्मलोक के सुखानुभूति के लिये वहां जाकर, उपासक को तदनुकूल शरीर की प्राप्ति हो जाती है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! इस विषय में आपका मत क्या है ?

वेदव्यासजी : **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥**

व्याख्या : वेदव्यासजी का कथन है कि दोनों आचार्यों की मान्यता प्रमाण युक्त है; इसलिये ब्रह्मोपासक के भावानुसार, वहाँ शरीर की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों हो सकती हैं जैसे द्वादशाह-यज्ञ की श्रुति में कहीं अनेक कर्ता होने पर और कहीं नियत कर्ता होने पर, सत्र उत्तम माना गया है, उसी प्रकार दोनों प्रकार के श्रुति वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि उपासक अपने संकल्पानुसार शरीर से युक्त होकर, ब्रह्मलोक के भोगों का अनुभव कर सकता है और बिना शरीर के भी केवल मन द्वारा भोगानुभव कर सकता है इस प्रकार दोनों श्रुतियाँ, श्रुति सम्मता है ।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! बिना शरीर के मात्र मन से, वहाँ का उपभोग कैसे होता है ?

वेदव्यासजी : **तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥४।४।१३॥**

व्याख्या : जैसे स्वप्नकाल में स्थूल शरीर के बिना केवल मन से प्रत्येक प्रकार के भोगों का उपभोग करना सभी के अनुभव का विषय है, अस्तु, इसमें प्रमाण क्या, वैसे ही ब्रह्मलोक में भी, बिना शरीर के दिव्य भोगों को भोगना हो सकता है। बहुत से सिद्ध योगी अपने आसन में बैठे हुये ही, मन के संकल्प से इच्छित स्थान का दृश्य अनुभव कर लेते हैं; बहुत से योगी चित्त से अपने कई शरीर निर्माण कर, कुछ आवश्यक कार्य करा लेते हैं, अतः पुनः मुक्तात्मा ब्रह्मज्ञान से युक्त महापुरुष को मन से भोगो के अनुभव कर लेने में कौन आश्चर्य है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! शरीर के द्वारा किस प्रकार भोगों का उपभोग होता है।

वेदव्यासजी : **भावे जाग्रद्वत् ॥४।४।१४॥**

व्याख्या : ब्रह्मा के लोक में जिस मुक्तात्मा को, उसके संकल्पानुसार शरीर की प्राप्ति होती है। वह जाग्रत अस्वथा के समान, वहां के लोक भोगों का उपभोग करता है, जैसे स्वर्ग (इन्द्र लोक) में देवता व स्वर्ग प्राप्त पुरुष, स्वर्ग-सुख का अनुभव किया करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मलोक प्राप्त महापुरुष, जाग्रत अवस्था के समान सुखानुभूति करते हैं। पुराणों में ब्रह्म-सभा में नृत्य-गान आदि, गन्धर्वों तथा अप्सराओं द्वारा होने की चर्चा तथा ब्रह्म लोक निवासियों को, दिव्य सुख सामग्रियों की सुलभता की चर्चा प्राप्त होती है अतः जाग्रत की भाँति भोगों के उपभोग में कोई विरोध नहीं है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! जैमिनि ने जिस श्रुति का प्रमाण दिया है, उसके अनुसार, मुक्तात्मा के कई शरीरों का होना पाया जाता है, अतः वे शरीर निरात्मक होते हैं या उनका अधिष्ठता भिन्न होता है ?

वेदव्यासजी : **प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥४।४।१५॥**

व्याख्या : जिस प्रकार अनेक प्रदीपों में एक ही अग्नि का प्रकाश, प्रकाशित होता है उसी प्रकार एक ही मुक्तात्मा अपने संकल्प से विनिर्मित समस्त शरीर परिग्रहों, में प्रविष्ट होकर दिव्य लोक के भोगों के उपभोग करने में समर्थ होता है क्योंकि छान्दो० उप० (७।२६।२) की श्रुति में उस एक मुक्तात्मा का, अनेक रूप होना सिद्ध किया गया है। जब इस लोक में एक सिद्ध योगी, अपने संकल्प से कई शरीरों का निर्माण कर, पुनः उनमें प्रविष्ट होकर, जगत्कार्य एक साथ करते पाये जाते हैं यथा कपिल देव ने, अपने चित्त से निर्माण किये दूसरे शरीर से एक राजा को उपदेश दिया था, कहा जाता है। इस कलि में श्री रामानन्द स्वामीजी के शिष्य-पीपाजी एक साथ चार शरीर बनाकर, अन्य-अन्य स्थानों में आवश्यकता-वश गये थे और स्वयं अपने आश्रम में थे, तब मुक्तात्माओं की क्या कथा कही जाय।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! मुक्तात्माओं को ब्रह्म में लीन हो जाना, नदियों का नाम-रूप छोड़कर, समुद्र में मिल जाने की भाँति मुण्ड० उप० (३।२।८) में जब कहा गया है, तब उनको अनेक शरीरों को धारणकर, अनेक भोगों का उपभोग करने की बात कैसे बताई गई है

वेदव्यासजी : **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥४।४।१६॥**

व्याख्या : छान्दो० उप० (६।८।१) तथा प्रश्न उप० (४।७।८) में कही हुई, जीवों के सोते (सुषुप्ति) के समान, प्रलयावस्था की अपेक्षा (उद्देश्य) से अथवा मुण्ड० उप. (३।२।८)तथा बृह०उप०(२।४।१२)में बतायी हुई, ब्रह्म-प्राप्त पुरुषों की ब्रह्मलीनता अर्थात् सायुज्य मुक्ति के उद्देश्य को लेकर ही, नाम-रूप छोड़-कर, नदियों का समुद्र में मिल जाने की भांति ब्रह्म में जीवात्मा का मिलना कहा जाना संभव हो सकता है। कार्य ब्रह्म के लोकों (ब्रह्मा के लोकों) को प्राप्त करने वाले अधिकारियों के लिये नहीं, क्योंकि उन अधिकारियों को वहाँ की सुखा-नुभूति करने के लिये ही ब्रह्मा के लोक की प्राप्ति हुई है और सुखानुभूति बिना ज्ञान के हो नहीं सकती इसलिये उन्हें सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर से भी संकल्पा-नुसार ब्रह्मा के लोक की आनन्दानुभूति करने को श्रुतियों में कहा गया है, जैसे कोई साधक, साधनाकाल में समाधिस्थ हो जाता है तथा सुषुप्ति अवस्था उसकी इतनी उच्च होती है कि उसे स्वप्न कभी नहीं होता, अतः किसी पुरुष के द्वारा

किसी से उसकी उक्त साधना स्थिति का वर्णन करने से, यह सिद्ध नहीं होता कि वह स्नान व अन्न जल ग्रहण नहीं करता क्योंकि रात्रि में सुषुप्ति और दिन में समाधि वरण किये रहती है। अरे भाई! भोजन काल में समाधि नहीं रह सकती, वह अपने अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से युक्त रहता है, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! ब्रह्मलोक में जाकर, मुक्तात्माओं को अनेक शरीर धारण कर वहाँ के अनेक भोगों का उपभोग करने की सामर्थ्य है तब तो उनमें परमे-श्वर की भाँति जगत्सृष्टि करने की भी शक्ति होती होगी कि नहीं ?

वेदव्यासजी : जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद् सन्निहितत्वाच्च ।।४।४।१७।।

व्याख्या : श्रुतियों में जहाँ-जहाँ जड़-चेतनात्मक जगत की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का वर्णन है, वहाँ-वहाँ जगत का उपादान और निमित्त कारण, पर-ब्रह्म परमात्मा को ही बताया गया है यथा तैत्त० उप० (३।१), छान्दो उप० (६।२।१-३), ऐ० उप० (१।१), बृह० उप० (३।७।३ से २३ तक), शत० ब्रा० (१४।३।५।७ से ३१ तक) की श्रुतियों में सर्वत्र जगत-रचना कार्य, परब्रह्म पर-मात्मा का ही निरुपित किया गया है। ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले मुक्तात्माओं का सृष्टिकार्य से सम्बन्ध, श्रुति में कहीं नहीं कहा गया अतः इन उभय कारणों से यही सिद्ध होता है कि मुक्त जीवात्माओं में जड़-चेतनात्मक जगत के त्रिविध (भव-थिति-विलय) कार्यों के करने की न सामर्थ्य है और न उनका इससे कोई सम्बन्ध है, वे केवल ब्रह्मलोक के भोगों का अनुभव करने के लिये, वहाँ निवास करते हैं। प्रलयकाल में ब्रह्मा के साथ, वे भी परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जायेंगे जैसे मदारी के खेल का उपभोग करने वाले लोग, केवल खेल में आने वाले आश्चर्यमय आनन्द का ही अनुभव करते हैं, उनमें खेल दिखाने की न ज्ञान शक्ति है और न मदारी के दृश्वों से, उनका नाममात्र सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार उक्त वार्ता को समझो। जगत रचनाकार्य का उपादान और निमित्त कारण केवल परब्रह्म परमा-त्मा है, जीव नहीं।

मुमुक्ष मुखेन : मुने ! मुक्तात्मा को श्रुति में स्वराट, स्वराज्य को प्राप्त होना तथा वहाँ के लोकों में इच्छानुसार विचरने की शक्ति से सम्पन्न होना बताया

है इसलिये जगत-रचना-कार्य में, उसका अधिकार होना उचित ही है।

वेदव्यासजी : प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्ते

॥४।४।१८॥

व्याख्या : छान्दो० उप० (७।२५।२) तथा तैत्त० उप० (१।६।२) की श्रुति में कही हुई उपर्युक्त वार्ता से, मुक्तात्मा का जगत रचना कार्य में न सम्बन्ध सिद्ध होता है और न सामर्थ्य क्योंकि वहाँ यह भी कहा है कि 'वह सबके मन के स्वामी को प्राप्त हो जाता है।' अतः उसकी सब सामर्थ्य, उस ब्रह्मलोक के प्रभाव से ही, उसमें दृष्टिगोचर हो रही है, जैसे घर में रखे हुये दीपक के प्रकाश प्रभाव से ही, घर में रखी हुई सब वस्तुओं में प्रकाश दिखाई दे रहा है, दीपक न हो तो वे वस्तुयें दिखाई भी न देंगी अतः ब्रह्मा के आधीन, मुक्तात्मा की सर्व सामर्थ्य तो है ही, वह भी ब्रह्मा के आधीन बताया गया है इसलिये जगत-कार्य में कुछ परामर्श देने की भी उसमें शक्ति नहीं है, उसे जो शक्ति व अधिकार प्राप्त हैं, वे केवल वहाँ के लोकाधिकारियों के लोकों में स्थित भोगों का उपभोग स्वतन्त्रता-पूर्वक करने के लिये हैं न कि सामर्थ्य-सिद्धि के लिये, जैसे कोई राज्य-मान्य पुरुष, अन्तःपुर में भी बेरोकटोक विचरने में, इच्छानुसार स्वतन्त्र है, वह राज-भवन में वैसे ही रहता है, जैसे राज-परिवार! इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह राज-कार्य करने का भी अधिकारी है अथवा न्याय-अन्याय के अनुसार मुक्त करने और बन्धन में बाँधने का अधिकार भी उसे प्राप्त है। वह तो केवल राजा के आधीन रहकर, राजभवन में सत्कारित हो रहा है। इसी प्रकार उक्त वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्षु मुखेन : मुने! यदि मुक्तात्मा को वहाँ के लोकों के विषय सुखानुभूति के लिये ही, शरीर, शक्ति और अधिकार मिले हैं, तब तो देवलोक प्राप्त करने वाले, सकाम कर्मधारियों के समान ही, ब्रह्म-विद्या का फल हुआ, विशेषता इसमें क्या हुई?

वेदव्यासजी : विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥४।४।१९॥

व्याख्या : वेद वर्णित ब्रह्म-विद्या का फल ब्रह्म-प्राप्ति है, वह ब्रह्म रूप फल,

जन्म-मरण आदि विकारों से सर्वथा शून्य अपहत पाप्मादि अष्टगुणों एवं अनन्त कल्याणमय गुणों से सम्पन्न अमृत स्वरूप है अर्थात् अजर अमर है। छान्दो. उप. (८।१।५) में यह श्रुति कथन दृष्टव्य है, अस्तु, ब्रह्मफल, कर्मफल की तरह, विकारी नहीं अपितु उनमें अमृत-विष, प्रकाश-तम और सुख-दुख में जो अन्तर होता है, वह अन्तर है। ब्रह्मा के लोक से, मुक्तात्मा न लौटकर, परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, इसके विपरीत कर्मफल भोगी, स्वर्ग से पुनः मृत्यु लोक लौट आते हैं। तैत्त० उप० (२।६) में कहा है कि जब यह जीवात्मा, नेत्र-विषय न बनने वाले, शरीर रहित, वाणी जिनका स्पर्श नहीं कर सकती ऐसे स्वतन्त्र-स्वराट, निरंकुश शासक परब्रह्म परमात्मा में, जो स्थित-लाभ करता है, वह निर्भयपद को प्राप्त करता है, जैसे लोक में सामर्थ्यशाली राजा के अभिन्न सुहृद को किसी जन-समुदाय से भय नहीं होता है; पृथ्वी में पड़ने वाले को गिरने का भय नही होता है उसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्त जीव निर्भय हो जाता है।

मुमुक्षु मुखेन : मुने ! उक्त विषय को ही सप्रमाण सिद्ध करने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥४।४।२०॥

व्याख्या : श्रुति और स्मृति अपने-अपने शब्दों द्वारा, इसी सिद्धान्त का दर्शन कराती हैं, जैसे छान्दो० उप० (८।३।४) में स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा परम ज्योति को प्राप्त होकर, अपने सहज स्वरूप से सम्पन्न होता है। यह आत्मा है, यही अमृत और अभय है तथा यही ब्रह्म है। ब्रह्मलोक विकार शून्य पापों से रहित रजोगुण विहीन विशुद्ध कहा गया है। छान्दो० उप० (८।१३।१) तथा (८।४।१) तथा प्रश्न० उप० (१।१६) की श्रुति में इसका प्रमाण देखा जा सकता है तथा गीता (१४।२) में भी भगवान ने कहा है कि इस ज्ञान का आश्रय ग्रहण करके, मेरे समान धर्मों को अर्थात् भगवान के कल्याणमय गुण-गणों से युक्त, भागवद्धर्मों को जीवात्मा प्राप्त हो जाते हैं इसलिये वे सृष्टि-काल में, न उत्पन्न होते हैं और न प्रलय काल में मृत्यु जन्य दुख ही भोगते इसलिये श्रुति-स्मृति प्रमाणों से अविरोध सिद्ध है कि मुक्तात्मा, परब्रह्म की प्राप्ति करके पुनः लौटते नहीं हैं। ब्रह्मा के लोक में जो लोक-भोगों का अनुभव करना कहा गया है, वह आनुषङ्गिक व लीला मात्र है, बन्धन कारक व पुनर्जन्म का हेतु नहीं है। जैसे किसी साधक ने बदरीवन जाकर, तपस्या रूप साधना करने का निश्चय कर, अपने निवास स्थान से प्रस्थान कर दिया किन्तु मार्ग में, हरिद्वार में दो-चार दिन रुककर, वहाँ के दिव्य स्थलों का दर्शन करने की चाह मन में हो गई अतः वह वहाँ रुक गया किन्तु वह

अपने निश्चय पर अटल होने से, उसका रुकना पुनः अपने जन्म-स्थान में लौटने का हेतु नहीं कहा जा सकता, अन्त में वह बदरिका श्रम पहुंचकर, साधन-निष्ठ हो गया। उसी प्रकार उक्त विषयक वार्ता को समझना चाहिए।

मुमुक्ष् मुखेन :—मुने ब्रह्मा के लोक में प्राप्त, मुक्तात्मा का जगत की रचना आदि में अधिकार नहीं है, इस विषय पर पुनः प्रकाश डालने की कृपा हो।

वेदव्यासजी : **भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥४।४।२१॥**

व्याख्या :—जिस प्रकार ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों का उपभोग करता हुआ, ब्रह्मा उससे लिप्त नहीं होता; उसी प्रकार उस लोक में रहता हुआ, मुक्तात्मा अपनी साधना-काल की भावनानुसार शरीर रहित या सशरीर, स्वप्न-काल व जाग्रत अवस्था के समान, ब्रह्मलोकों के भोगों को, ब्रह्मा के समान उपभोग करता हुआ, उनसे लिप्त नहीं होता, इससे सिद्ध है कि मुक्तात्मा की साम्यता, ब्रह्मा के साथ केवल भोगों के भोगों में है अन्य कार्यों में नहीं इसलिए जगत-रचना आदि कार्य केवल ब्रह्मा के अधीन है, मुक्तात्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे एक शक्तिशाली राजा है, राजा को किसी राजा की संधि व किसी से समर तथा कहीं निर्माण-कार्य, कहीं निर्माण-नष्ट कार्य, एवं किसी को बसाने व किसी को उजाड़ने का कार्य और किसी को बन्धन व किसी को मुक्त करने आदि के बहुत से राज्य-कार्य करने में, वह स्वतन्त्र अधिकारी है किन्तु उसकी रानियाँ, दासियाँ, बच्चे और दास आदि परिवार केवल राजा के समान, राज-भोग के ही अधिकारी हैं, उपर्युक्त कार्यों से इनका कोई न सम्बन्ध है न सामर्थ्य है और न अधिकार है क्योंकि ये सब राजा के आधीन हैं; उसी प्रकार उक्त विषय की वार्ता को समझना चाहिये।

मुमुक्ष् मुखेन :—मुने! यदि ब्रह्मलोक प्राप्त, मुक्तात्मा की सामर्थ्य सीमित है, परमात्मा के समान असीम नही है तो उपभोग-संस्कार की समाप्ति पर, पुनुर्जन्म भी हो सकता है।

वेदव्यासजी :—**अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥४।४।२२॥**

व्याख्या :—ब्रह्मलोक में जाने वाले मुक्तात्मा की, पुनरावृत्ति नहीं होती है, यह

वार्ता बार-बार वेद में वर्णित होने से, यही सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा का ब्रह्म-लोक से पुनरागमन नहीं होता यथा बृह० उप०(६।२।१५), प्रश्न. उप. (१।१०), छान्दो० उप (८।६।६); (४।१५।६), (८।१५।१) की श्रुति में, ब्रह्मलोक प्राप्त ब्रह्मोपासक की अपुनरावृत्ति का स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। सूत्रकार का दो बार 'अनावृत्तिः' शब्द का प्रयोग, ब्रह्मलोक-प्राप्त पुरुष के न लौटने की प्रतिज्ञा के अर्थ में है जो किसी प्रकार से, असिद्ध नहीं की जा सकती जैसे स्थूल के शरीर के सर्वावयव जल जाने से वह शरीर पुनः देखने को नहीं मिलता; उसी प्रकार आत्मा का, मन, इन्द्रिय, प्राण सहित सूक्ष्म भूत समुदाय (सूक्ष्म-शरीर) कर्म संस्कार के बीज स्वरूप, कारण शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से मुक्तात्मा के पुनरावृत्ति की किसी प्रकार से संभावना नही हैं। श्रुति सिद्धान्त की प्रबलता तो सर्वमान्य है, इससे मुक्तात्मा का पुनर्जन्म न होना, अकाट्य सिद्ध है।

तात्पर्यार्थ :—अपनी ब्रह्मोपासना रूप साधना के फलस्वरूप जीवात्मा को, परम-धाम में परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की, सर्वभावेन प्राप्ति होती है। जीवात्मा अपने साधना-काल के संकल्पनानुसार अपने वास्तविक चैतन्य धन स्वरुप को, प्राप्त करता है या तो अविभक्त रूप से, परब्रह्म में लीन हो जाता हैं या पूर्णतम परब्रह्म परमेश्वर की त्रिसाम्यता अर्थात् भगवान के समान रुप, गुण और वैभव को प्राप्त-कर, सच्चिदानन्दमय (देही–देह विभाग रहित) विग्रहवान हो जाता है और अपने आराध्यदेव के विकसित मुखार्विन्द को, अपना भोग्य समझ, परम प्रसन्न रहता है, वहाँ जीवात्मा का भगवद्दर्शन धारक, भगवत्कैंकर्य पोषक और भगवान का प्रसन्न वदनाम्भोज भोग्य होता है। वैष्णव दर्शन में इसी का मण्डन है, जो ब्रह्मोपासक अपनी साधना के संकल्पनानुसार ब्रह्मा के लोकों के भोगों का अनुभव करने के, संस्कार से युक्त थे, वे अर्चिमार्ग द्वारा क्रमशः गमन करके, अमानव पुरुष के द्वारा, ब्रह्मा के लोक में छोड़ दिये जाते हैं, वहाँ वे मुक्तात्मा अपनी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर से, वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव करते हैं और जब प्रलय होता है तब ब्रह्मा के साथ परमधाम जाकर, परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। मुक्तात्मा में जगत् के उद्भव, पालन और प्रलय की शक्ति स्वरूपतः नहीं है तथा वह स्वतन्त्र भी नहीं है, इसलिए जीवात्मा को चाहिए कि वह अपने को, सहज परमात्मा के अधीन समझकर उनकी उपासना में संलग्न यावत जीवन बना रहे, जिससे अपने विशुद्ध संकल्पानुसार, परमधाम की प्राप्ति हो जाय, यही जीवन का परमफल है। भगवत्प्राप्ति ही ब्रह्म-विद्या का प्रधान फल है यदि मानव शरीर प्राप्तकर, परब्रह्म पुरूषोत्तम भगवान की प्राप्ति न हुई तो इसके समान कोई हानि

नहीं है, वेदान्त दर्शन (ब्रह्म-सूत्र) के चौथे अध्याय के, चौथे पाद का यही सार-तम संदेश है ।

श्री वेदव्यासकृत वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) के
चतुर्थ अध्याय का चतुर्थपाद समाप्त

–श्रीवेदव्यासकृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) समाप्त–

मिती आश्विन कृष्ण द्वितीया संवत २०४६ तद्नुसार
दिनांक १७ सितम्बर १९८९

अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री रामहर्षणदास जी महाराज द्वारा विरचित अन्य प्रकाशन :-

१. प्रेम रामायण
२. रस चन्द्रिका
३. हर्षण सतसई
४. वैष्णवीय विज्ञान
५. आत्मदर्शन
६. उपदेशामृत
७. औपनिषद् ब्रह्मबोध
८. विशुद्ध ब्रह्मबोध
९. सिद्धि स्वरूप वैभव
१०. लीला सुधा सिन्धु
११. ध्यान वल्लरी
१२. विनय वल्लरी
१३. बिरह वल्लरी
१४. प्रेम वल्लरी
१५. बैदेही दर्शन
१६. मिथिला माधुरी
१७. गीता ज्ञान
१८. पंच शतक
१९. विवाहाष्टक
२०. प्रपत्ति-प्रभा-स्तोत्र

प्राप्य स्थान :-
श्री रामहर्षण कुंज,
परिक्रमा मार्ग, नया घाट,
अयोध्या (उ० प्र०)